प्रमुख वैदिक यज्ञों के विधिविधान में याज्ञवल्क्य के योगदान का समालोचनात्मक अध्ययन

अग्निगर्भ

डॉ. आशाराम त्रिपाठी

प्रमुख वैदिक यज्ञों के विधिविधान में याज्ञवल्क्य के योगदान का समालोचनात्मक अध्ययन

अग्निगर्भा

डॉ० आशाराम त्रिपाठी

प्रमुख वैदिक यज्ञों के विधिविधान में याज्ञवल्क्य के योगदान का समालोचनात्मक अध्ययन

'अग्निगर्भा'

संस्कृत संस्थानस्य पूर्व निदेशकेन
यजुर्वेदिना श्री प्रयागदत्तेन
सादरम् उपायनीकृतम्-

लेखक :

डॉ० आशाराम त्रिपाठी

प्रकाशक

आशुतोष

बी-११०२, ओ० सी० आर० काम्प्लेक्स,

विधानसभा मार्ग,

लखनऊ-२२६००१

प्रकाशक :

आशुतोष,

बी-११०२ ओ. सी. आर., काम्प्लेक्स;

विधान सभा मार्ग,

लखनऊ-२२६००१

लेखक :

डॉ० आशाराम त्रिपाठी

प्रथम संस्करण : १९८८

मूल्य : १२५ रु० मात्र

कापीराइट :

सर्वाधिकार लेखकाधीन

मुद्रक :

गुप्ता आटो प्रिन्टर्स

६७, शिवाजी मार्ग

लखनऊ

उत्तर प्रदेश शासन द्वारा प्रदत्त आंशिक आर्थिक सहायता से प्रकाशित ।

समर्पण

जिनका सम्पूर्ण जीवन ही यज्ञ था,
जिनका जीवन सदा परोपकार में ही बीता,
जिनका सम्पूर्ण जीवन सत्य के लिए ही समर्पित था,
जिनका आशीर्वाद हमारा पाथेय बना,
उन्हीं प्रातः स्मरणीय, यशःकाय
परम पूज्य पिताजी
स्व० पं० विश्वनाथ प्रसाद त्रिपाठी
एवं
प्रेम, स्नेह तथा करुणा की प्रतिमूर्ति माँ
श्रीमती कविलासी देवी
को

आशाराम त्रिपाठी

आशीर्वचन

एक मिथ्या अवधारणा लोगों के मन में घर कर गयी है कि कर्मकाण्ड निरर्थक होता है और यज्ञसंस्था कर्मकाण्डप्रधान होने के कारण ही नष्ट हो गयी। दोनों बातें ग़लत हैं, कर्मकाण्ड वस्तुतः विश्व को और विश्व के अंगोपांग को समझने का और प्रत्येक जीव के भीतर के विश्व के अंगोपांग को समझने, उनके बीच के अन्तः सम्बन्ध को समझने का एक चौखटा है [फ्रेम है]। यज्ञ का प्रत्येक अनुष्ठान सृष्टि की क्रिया है, प्रत्येक अनुष्ठान समष्टि की क्रिया है, पूरे समाज की ओर से पूरे समाज के लिए आत्मसमर्पण का ही व्यापार है। पात्र, वेदी, देवता, प्रक्रिया सब मंत्र से प्राणवत्ता पाते हैं।

डॉ० आशाराम त्रिपाठी ने इसी दृष्टि को सामने रखते हुए प्राचीन वैदिक यज्ञ-संस्था की मीमांसा प्रस्तुत की है और इस मीमांसा में नये-नये उन्मेष प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः व्यास की तरह याज्ञवल्क्य सत्य के साक्षात्कार की एक यज्ञ परम्परा है जैसा कि उन्होंने प्रतिपादित किया है। यज्ञसंस्था मरी नहीं, वह उपासना में अन्तर्युक्त हो गयी। यज्ञवेदी ही मन्दिर का आकार कर गयी और यज्ञ-व्यापार ही षोडशोपचार पूजन में रूपान्तरित हुए, पर भाव वही रहा, विश्व-दृष्टि वही रही। सबको देखना, सब होकर देखना, सबको सबकी ओर से आहुत करना जिससे सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार हो, यज्ञ प्रयोजन कभी भारतीय कर्मकाण्ड से तिरोहित नहीं हुआ।

भारतीय अनुष्ठान के सौन्दर्य को परखने के लिए यज्ञसंस्था का सांगोपांग विवेचन बहुत आवश्यक है।

श्री त्रिपाठी ने यह काम बड़े मनोयोग से किया है। इन्हें आशीर्वाद देता हूँ, अयमारम्भः शुभाय।

डॉ० विद्यानिवास मिश्र,
कुलपति, काशी विद्यापीठ,
वाराणसी

पुरोवाक्

वैदिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि के विकास में वैदिक यज्ञों का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। पुरुषसूक्त में यज्ञ से ही सब वेदों की उत्पत्ति का संकेत मिलता है—

'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत: ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥' (शु० य० सं० ३१।७)

ब्राह्मणकाल में याज्ञिक-विधियों की जटिलताओं की वृद्धि के फलस्वरूप अनेक सम्प्रदाय चल पड़े। इन विधियों का प्रतिपादन मीमांसासूत्रों में सविस्तर प्राप्त होता है। यज्ञों के सम्पादन की सुविधा के लिए ही कल्पसूत्रों (श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र) की रचना हुई। श्रौतसूत्रों में वैदिकयज्ञों का विस्तार पूर्वक वर्णन तथा गृह्यसूत्रों में स्मार्त अथवा गृह्य यज्ञों का प्रतिपादन किया गया है। ब्राह्मणकाल में यज्ञ ही सब कुछ था। यजनभूमि से उठे हुए धूम्र से वातावरण सुगन्धित रहा करता था। यज्ञ-सम्पादनकाल के अवकाश में भी याज्ञिक आचार्य परस्पर प्रश्नोत्तर से अनेक शंकाओं का समाधान किया करते थे। शनैः शनैः यज्ञ-विधि-विधान में एक आचार्य के मत अन्य आचार्यों के मतों से भिन्न होने लगे जिसके परिणामस्वरूप अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ।

यह विश्वास किया जाता है कि वैदिक यज्ञविधान के दो उद्देश्य होते हैं—प्रथम व्यक्ति को स्वर्ग प्राप्ति तथा द्वितीय समाज की उन्नति। यह केवल यजमान एवं ऋत्विजों के आध्यात्मिक ज्ञान के प्रवर्द्धन और सुधार में सहायकमात्र ही नहीं, अपितु सामाजिक अखण्डता एवं उन्नति के एक सशक्त साधन के रूप में सिद्ध होता है। वैदिक आर्यों के इतिहास में एक समय था जब यज्ञ सम्पूर्ण सम्प्रदाय के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का एकमात्र केन्द्र हो गया था। वस्तुत: वैदिक वाङ्मय के क्रिया-कलाप का प्राय: प्रत्येक क्षेत्र इससे अत्यधिक प्रभावित था। वैदिक यज्ञ-विज्ञान वैदिक साहित्य में एक प्रधान भाग का प्रमुख लक्ष्य बन गया था। यद्यपि धार्मिक ग्रन्थों के अनुसार कुछ विशेष सामाजिक स्तर से सम्बन्धित व्यक्ति ही यज्ञ के अधिकारी थे किन्तु यज्ञ के यथार्थ सम्पादन में समाज के सभी स्तर के व्यक्ति इससे किसी न किसी रूप में सम्बद्ध थे। फलत: वैदिक सम्प्रदाय का प्रत्येक उत्तरदायी निर्माता किसी यज्ञ की पूर्ति में व्यक्तिगत

रुचि लेता था। यज्ञ की यह पूर्ति सामाजिक अखण्डता के उन्नयन में बहुत ही सहायक सिद्ध हुई। अतः वैदिक यज्ञ का महत्त्व प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक शक्ति के रूप में था, यह अत्युक्ति नहीं।

हम ऐसा समझते हैं कि वैदिक-यज्ञ के विधि विधान ने ही औपनिषदिक दर्शन के विकासार्थ आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार की। अतः वैदिक वाङ्मय, वैदिक धर्म–दर्शन, एवं संस्कृति को ठीक-ठीक समझाने के लिए और इनका मूल्यांकन करने के लिए वैदिक यज्ञ-संस्था का अध्ययन अपरिहार्य है। वैदिक-विधि-विधान का अध्ययन प्राचीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास के दृष्टि-कोण से ही आवश्यक नहीं अपितु इसका अध्ययन व्यापक मानव शास्त्र के दृष्टि-कोण से भी आवश्यक है क्योंकि वैदिक यज्ञ के अन्तर्गत निहित सिद्धान्त मानव-विचार के विकास में एक विशेष अवस्था का द्योतक है।

हमारी भारतीय सांस्कृतिक परम्परा यज्ञमयी और अग्निगर्भा है। अग्नि का विशेष महत्त्व है और हो भी क्यों न, बाह्य और अन्तर्जगत में अग्निदेव ही तो हैं जो विविध रूपों में विश्वकल्याण करते आ रहे हैं। कोई भी कार्य विना अग्नि के सम्पन्न हो ही नहीं सकता क्योंकि किसी न किसी रूप में अग्निदेव अवश्य वर्तमान होंगे भले ही हम उनका प्रत्यक्ष दर्शन न कर पाएं। मानवकल्याण के लिए किए जाने वाले यज्ञ भी विना अग्नि के सम्पन्न हो ही नहीं सकते।

गुरुवर्य प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय और प्रो० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी की अगाध वैदिक ज्ञानराशि से मैं बहुत लाभान्वित हुआ। दोनों गुरुओं ने मुझे नयी दृष्टि दी इस अग्निगर्भा संस्कृति को समझने के लिए, वैदिक यज्ञपरम्परा को समझने के लिए।

उन्हीं गुरुओं के ज्ञान की एक किरण मात्र है— 'अग्निगर्भा' जो आपके सामने है।

आशाराम त्रिपाठी

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

(वाजसनेय याज्ञवल्क्य : व्यक्तित्व एवं कृतित्व)

(पृष्ठ १-२३)

वाजसनेय याज्ञवल्क्य का परिचय (पृष्ठ १), याज्ञवल्क्य का वंश तथा उनका परिवार (पृष्ठ ३), याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध अन्य व्यक्ति (पृष्ठ ५), याज्ञवल्क्य की शिक्षा-दीक्षा (पृष्ठ ५) याज्ञवल्क्य नामधारी अनेक व्यक्ति तथा उनके अनेक ग्रन्थ (पृष्ठ ९), याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध कृतियों का संक्षिप्त विवरण (पृष्ठ १२), याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध अन्य ग्रन्थ (पृष्ठ २०), याज्ञवल्क्य का समय (पृष्ठ २१), याज्ञवल्क्य के जीवन का अन्तिम भाग (पृष्ठ २३)।

द्वितीय अध्याय

(वैदिक यज्ञों का सामान्य परिचय-पात्र, द्रव्य, यज्ञसम्पादक पुरुषों के साथ)

(पृष्ठ २४-८५)

यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति और उसका अर्थ (पृष्ठ २४), यज्ञ शब्द के पर्याय तथा उनके अभीष्ट अर्थ (पृष्ठ २५), याग और होम में अन्तर (पृष्ठ २५), यज्ञ-द्रव्य की परिभाषा (पृष्ठ २५), यज्ञ द्रव्यों का विभाजन (पृष्ठ २६), आहुति द्रव्य, होम द्रव्य (पृष्ठ २६), याग द्रव्य (पृष्ठ २७), अर्हणीय द्रव्य (पृष्ठ ३७), दक्षिणा द्रव्य (पृष्ठ ३८), यज्ञ में प्रयुक्त पात्रों एवं उपकरणों का सामान्य परिचय (पृष्ठ ३८), हविर्यज्ञों में प्रयुक्त पात्र एवं उपकरण (पृष्ठ ३८), सोमयज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्र एवं उपकरण (पृष्ठ ४६), यज्ञसम्पादक पुरुष (पृष्ठ ५०), यज्ञों का स्वरूप निरूपण (पृष्ठ ५१), यज्ञों की संख्या के विषय में प्रथम मत (पृष्ठ ५१) द्वितीय मत (पृष्ठ ५१), तृतीय मत (पृष्ठ ५१), चतुर्थ मत के अनुसार यज्ञ की इक्कीस संस्थाएं (पृष्ठ ५१), सप्तपाक यज्ञ-संस्था (पृष्ठ ५२), सप्तहविर्यज्ञ संस्था (पृष्ठ ५५), सप्तसोम-संस्था तथा अन्य सोमयाग (पृष्ठ ६६), यज्ञों का अनुष्ठान-क्रम (पृष्ठ ८५)।

तृतीय अध्याय

(याज्ञवल्क्य के मतभेद के स्थल)

(पृष्ठ ८६-१८६)

(१) द्रव्य विषयक मतभेद (पृष्ठ ८६), (१) क—१-उद्भिजों से प्राप्त होम द्रव्य विषयक मतभेद (पृष्ठ ८६), (१) क-२-जरायुजों से प्राप्त होमद्रव्य विषयक मतभेद (पृष्ठ ८६), (१) ख—उद्भिजों से प्राप्त याग-द्रव्य विषयक मतभेद (पृष्ठ ८७), (१) ग—उद्भिजों तथा जरायुजों में पशुओं की जीवितावस्था से प्राप्त होने वाले द्रव्यों में मतभेद (पृष्ठ ९०), घ—दक्षिणा द्रव्य विषयक मतभेद (पृष्ठ ९२), (२) देवता विषयक मतभेद (पृष्ठ ९४), (२) क—अन्तरिक्षीय देवता विषयक मतभेद (पृष्ठ ९४), (२) ख—भावात्मक देवता विषयक मतभेद (पृष्ठ ९४), (२) ग—भावात्मक देव तथा देवगण विषयक मतभेद (पृष्ठ ९५), (२) घ—देवता सामान्य विषयक मतभेद (पृष्ठ ९५), (३) मन्त्र विषयक मतभेद (पृष्ठ ९६), (३) क—शुक्लयजुर्वेद संहिता में प्राप्त होने वाले मन्त्रों के विषय में मतभेद (पृष्ठ ९६), (३) क १—मन्त्र पाठभेद विषयक मतभेद (पृष्ठ ९६), (३) क—२ मन्त्रचयन विषयक मतभेद (पृष्ठ ९९), (३) क—३ मन्त्रों के आधिक्य के विषय में मतभेद (पृष्ठ १०५), (३) क—४ स्थानान्तरण विषयक मतभेद (पृष्ठ १०८), (३) क—५ विशिष्ट कर्म में विशिष्ट मन्त्र की आवश्यकता विषयक मतभेद (पृष्ठ १०९), (३) ख—शुक्लयजुर्वेद संहिता में अप्राप्य मंत्र विषयक मतभेद (पृष्ठ ११०), (३) ख—१ पाठभेद विषयक मतभेद (पृष्ठ ११०), (३) ख—२ मन्त्र-चयन विषयक मतभेद (पृष्ठ १११), (३) ख—३ पाठाधिक्य विषयक मतभेद (पृष्ठ ११६), (३) ख—४ स्थानान्तरण विषयक मतभेद (पृष्ठ ११७), (३) ख—५ विशिष्ट कर्म में मन्त्र की आवश्यकता विषयक मतभेद (पृष्ठ ११८), (४) विधिविषयक मतभेद (पृष्ठ ११९); (४) क—समय विषयक मतभेद (पृष्ठ ११९), (४) क—१ हविर्यज्ञ समय विषयक मतभेद (पृष्ठ ११९), (४) क—२ सोमयागीय समय विषयक मतभेद (पृष्ठ १२५), (४) ख—स्थान विषयक मतभेद (पृष्ठ १३३), (४) ग—दिशा विषयक मतभेद (पृष्ठ १४०), (४) घ—परिमाण एवं आकार विषयक मतभेद (पृष्ठ १४६), (४) ङ—संख्या विषयक मतभेद (पृष्ठ १५४) (४) च—पात्र विषयक मतभेद (पृष्ठ १६०), (४) छ—यज्ञ सम्पादक पुरुष विषयक मतभेद (पृष्ठ १६२), (४) ज—नियम विषयक मतभेद (पृष्ठ १६३), (४) झ—अशनानशन विषयक मतभेद (पृष्ठ १६५), (४) ञ—गमनागमन विषयक मतभेद (पृष्ठ १६८), (४) ट—होम विषयक मतभेद (पृष्ठ १६९), (४) ठ—उपधान विषयक मतभेद (पृष्ठ १७१), (४) ड—क्रम विषयक मतभेद (पृष्ठ १७१)

(ढ)–उपस्थान विषयक मतभेद (पृष्ठ १७३), (४) त–प्रायश्चित्ति-विधान विषयक मतभेद (पृष्ठ १७४), (४) थ–विविध मतभेद (पृष्ठ १७८)।

चतुर्थ अध्याय

(याज्ञवल्क्य की वैज्ञानिक दृष्टि)

(पृष्ठ १९०-२१०)

(१) यज्ञ की सर्वांगीण समृद्धि पर बल (पृष्ठ १९०), (२) औचित्य का ध्यान (पृष्ठ १९३), (३) अनौचित्य का ध्यान (पृष्ठ १९८), (४) बुद्धि का अवलम्बन (पृष्ठ २००), (५) व्यावहारिकता (पृष्ठ २०२), (६) यज्ञ-विधि में सौकर्य (पृष्ठ २०६), (७) सर्वमंगल की दृष्टि (पृष्ठ २०८)

पंचम अध्याय

(याज्ञवल्क्य: व्यक्तित्व की समग्रता)

(पृष्ठ २११–२२८)

(१) याज्ञवल्क्य : सफल याज्ञिक (पृष्ठ २११), (२) याज्ञवल्क्य : यज्ञ के विराट् रूप के द्रष्टा (पृष्ठ २१६), (३) याज्ञवल्क्य : ब्रह्मवेत्ता (पृष्ठ २१८), (४) याज्ञवल्क्य : समाजवेत्ता (पृष्ठ २२२), (५) याज्ञवल्क्य: अद्वितीय जिज्ञासु (पृष्ठ २२३),

प्रथम अध्याय

वाजसनेय याज्ञवल्क्य

(व्यक्तित्व एव कृतित्व)

महर्षि याज्ञवल्क्य के विषय में शतपथब्राह्मण एवं शाङ्खायन आरण्यक आदि ग्रन्थों में कुछ आख्यानों के साथ संवाद मिलते हैं। उनके मतों के साथ-साथ प्रायः उनका नामोल्लेख हुआ है। पुराणों में उनसे सम्बन्धित अनेक कथाएँ हैं। उनके विषय में जो जानकारी प्राप्त है उसका उपयोग प्रस्तुत अध्याय में किया जा रहा है। अध्ययन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य एक गोत्र का भी नाम है। विश्वामित्र तथा वसिष्ठ दोनों वंशों में यह नाम मिलता है। उनका विश्वामित्र गोत्रिय होना मत्स्यपुराण, (१९७।४), वायुपुराण (९१।९८) तथा ब्रह्माण्ड पुराण (६७।७०) से सिद्ध है। मत्स्यपुराण (१९९।६) से वसिष्ठ-गोत्रिय होना सिद्ध होता है। इस प्रकार याज्ञवल्क्यगोत्र में उत्पन्न कोई भी व्यक्ति याज्ञवल्क्य कहा जा सकता है। जहाँ हमारे सामने कई याज्ञवल्क्य आते हैं वहाँ उनके साथ-साथ जनक का भी उल्लेख मिलता है। सम्भवतः जनक भी वंश अथवा मिथिला के राजाओं की उपाधि थी। अब हमें याज्ञवल्क्य और जनक के सम्बन्ध में विचार करना है साथ ही साथ यह भी देखना है कि शुक्लयजुर्वेद संहिता, शतपथब्राह्मण, याज्ञवल्क्यस्मृति, याज्ञवल्क्यशिक्षा, योगियाज्ञवल्क्यम् (जो योगयाज्ञवल्क्यम् और योगियाज्ञवल्क्य गीता नाम से भी प्रसिद्ध है) भी क्या एक ही याज्ञवल्क्य के ग्रन्थ हैं या विभिन्न याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित हैं ?

सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य के विषय में परम्परा द्वारा जो प्रकाश पड़ता है उसका संक्षिप्त विवरण देकर अभीष्ट याज्ञवल्क्य के विषय में निर्देश किया जाना उचित होगा। उनके सम्बन्ध में जो कुछ सामग्री मिलती है, उसमें विशेष अन्तर नहीं है। उनके पिता के नाम में अन्तर अवश्य पड़ता है किन्तु उनकी धर्मपत्नियों के विषय में नहीं।

याज्ञवल्क्य का जन्मस्थान

भारतवर्ष के पश्चिमी भाग में सौराष्ट्र नाम का एक विस्तीर्ण प्रान्त था। उसका एक भाग आनर्त नाम से विख्यात था जिसकी राजधानी थी चमत्कारपुर। चमत्कारपुर, वृद्धनगर, आनन्दपुर, आनर्तपुर और वर्द्धमानपुर आदि नामों से प्रसिद्ध है। इसी के समीप याज्ञवल्क्य का आश्रम रहा होगा। इसकी पुष्टि स्कन्द-पुराण (६।१२९।१,२) से भी होती है—

'तथाऽन्योऽपि च तत्रास्ति याज्ञवल्क्यसमुद्भवः।
आश्रमो लोकविख्यातो मूर्खाणामपि सिद्धिदः ॥१॥
यत्र तप्त्वा तपस्तीव्रं याज्ञवल्क्येन धीमता।
संप्राप्ता निखिला वेदा गुरुणाऽपहृताश्च ये ॥२॥

अनेक विद्वान् याज्ञवल्क्य का जन्मस्थान मिथिला मानते हैं। श्रीधर शर्मा शास्त्री 'वारे' का विचार है कि याज्ञवल्क्य जब जनक के गुरु (देशिक) बने तब वे मिथिला गये। याज्ञवल्क्य के मिथिला में जाने का प्रमाण स्कन्दपुराण में भी मिलता है। याज्ञवल्क्य जब अपने गुरु शाकल्य द्वारा वेदरहित बना दिये गये तब उन्होंने सूर्य की उपासना की और उन्हें प्रसन्न कर उनसे चारों वेदों का अध्ययन किया। इससे आकृष्ट होकर जनक ने याज्ञवल्क्य को अपने यहाँ बुलाया। (स्क०पु०ना०खं० ६।१२९।१३७) ओल्डेनवर्ग तथा अन्य विद्वानों ने यह स्वीकर किया है कि याज्ञवल्क्य विदेह के रहने वाले थे किन्तु जनक द्वारा इन्हें संरक्षण प्राप्त करने की कथा के अतिरिक्त उद्दालक और कुरुपंचाल के साथ भी इनका सम्बन्ध पाया जाना इस तथ्य को संदिग्ध बना देता है। एगलिंग महोदय भी याज्ञवल्क्य को विदेहवासी होने में सन्देह करते हैं—

'In XI, 6,2, 1 Janaka is represented as meeting, apparently for the first time, with Svetaketu Aruneya, Somasushma Satyayagni and Yagnavalkya, while they were travelling. Probably we are to understand by this that these divines had then come from the west to visit the Videha Country.'

शतपथब्राह्मण में पितृमेध के प्रकरण में समाधि निर्माण के प्रसंग में जहाँ वस्त्र रखकर उस पर मृतक की अस्थियां रखी जाने, अन्तर न किये जाने के विषय में मीमांसा की गयी है वहाँ पर याज्ञवल्क्य ने देवों और असुरों का उदाहरण देकर बताया है कि जो दैवी प्रजा है वह वस्त्र से अन्तर नहीं करती अर्थात् वस्त्र से

रहित समाधि की रचना करती है किन्तु जो असुर स्वभाव के प्राच्य एवं अन्य जन हैं वे अन्तर रखकर चमू और वस्त्रादि को नीचे रखते हैं तथा उस पर अस्थि रखकर समाधि की रचना करते हैं। (शत० ब्रा० १३।८।२।१) इसके अनुसार वे मिथिला से सम्बन्धित नहीं प्रतीत होते हैं। यह भी नहीं है कि शतपथब्राह्मण में 'असुर' शब्द अच्छे अर्थ में प्रयुक्त हो जैसा कि ऋग्वेद में इन्द्र, वरुण आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर इसका वही अर्थ है जिससे आज जनसाधारण भी भली भाँति परिचत है। यदि वे मिथिला के निवासी होते तो प्राच्यों को 'असुर' शब्द से कदाचित् ही सम्बोधित करते।

जन्म-काल

श्रीधर शर्मा शास्त्री 'वारे' के मतानुसार याज्ञवल्क्य की जन्म-तिथि श्रावण शुक्ल चतुर्दशीविद्धपूर्णिमा है, जिसका उल्लेख उन्होंने माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण के उपोद्घात पृ० २६ में किया है—

'अस्य जन्मवासरः केषाञ्चिन्मते ज्येष्ठशुक्लदशमी, केषाञ्चिन्मते कार्तिक-शुक्लनवमी, केषाञ्चिन्मते फाल्गुनशुक्लपंचमी इमाः सर्वास्तिथयो यथार्थप्रमाण-विधुरा इति कृत्वा न सर्वसम्मताः। अस्मन्मते तु श्रावणशुक्लचतुर्दशीविद्धपूर्णिमायां मध्याह्ने याज्ञवल्क्याय वेदाः सूर्येण दत्ताः। अतः सा तिथिरेवोत्सवादौ समाद-रणीयेति।'

याज्ञवल्क्य का वंश तथा उनका परिवार

वंश

याज्ञवल्क्य का नाम वसिष्ठ तथा विश्वामित्र गोत्रों में पढ़ा गया है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

याज्ञवल्क्य के पिता के अनेक नाम

याज्ञवल्क्य के पिता के अनेक नाम मिलते हैं। वायुपुराण (६१।२१), ब्रह्माण्ड पुराण (पू० भा० ३५।२४) तथा विष्णु पुराण (३।५।३) के अनुसार इनके पिता ब्रह्मरात थे। श्रीमद्भागवत (१२।६।४) में इन्हें 'देवरातसुतः' कहा गया है जिससे प्रतीत होता है कि याज्ञवल्वय देवरात के पुत्र थे। कुछ विद्वानों का मत है कि शुनःशेप देवरात गाधिपुत्र विश्वामित्र के कृत्रिम पुत्र थे। शुनःशेप की कथा हरिश्चन्द्र के नरमेधयज्ञ में प्रसिद्ध है। (ऐ०ब्रा० ७।१३) ध्यान देने योग्य बात यह है कि देवरात भी गोत्र का नाम है। (म० पु० १९७।४) अतः

केवल एक ही देवरात रहे हों यह भी नहीं कहा जा सकता। कति शुनःशेप के पुत्र थे, शुनःपुत्र कति के पुत्र थे। चारायण या देवरात इन्हीं शुनःपुत्र की सन्तान थे। यही चारायणदेवरात, ब्रह्मरात, यज्ञवल्क्य, वाजसनि आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध थे। काण्वसंहिता के भाष्य के उपक्रम में सायण ने यह लिखा है कि याज्ञवल्क्य का नाम 'वाजसनेय' था। उन्होंने इस नाम का कारण भी दिया है--

'वाज इत्यन्नस्य नामधेयं, अन्नं वै वाज इति श्रुतेः। वाजस्य सनिर्दानं यस्य महर्षेरस्ति सोऽयं वाजसनिस्तस्य पुत्रो वाजसनेय इति तस्य याज्ञवल्क्यस्य नामधेयम्।'

बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने उनका नाम याज्ञवल्क्य बताया है। कृष्णसूरिकृत् वेदनिरूपण में याज्ञवल्क्य को 'यज्ञवल्क्य ब्रह्मरात' का पुत्र निरूपित किया गया है। शतपथब्राह्मण (१४.६।४।३३) में याज्ञवल्क्य को वाजसनेय कहा गया है। महाभारत शान्तिपर्व (३१५।४) के अनुसार देवरात याज्ञवल्क्य के पिता थे। कहीं-कहीं याज्ञवल्क्य को ब्रह्मा का पुत्र भी कहा गया है–

'यज्ञवल्को ब्रह्मा इति पौराणिकाः। तदपत्यं याज्ञवल्क्यः।'
पाणिनीय गण ४।१।१०५

वायुपुराण (६०।४२) के 'ब्रह्मणोऽङ्गात्समुत्पन्नः' उद्धरण से भी यही सिद्ध होता है किन्तु यह अतिशयोक्ति प्रतीत होती है।

याज्ञवल्क्य की माता

इनकी माता का नाम 'सुनन्दा' था।

बहन

कंपारी (स्क० पु० ना० खं० ६।१७४।६) अथवा कंसारिका (स्क० पु० ना० खं० ६।१७४।६) याज्ञवल्क्य की बहन थी।

पत्नियाँ

बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४।१) में मैत्रेयीब्राह्मण के अन्तर्गत कात्यायनी और मैत्रेयी दो पत्नियों का नामोल्लेख हुआ है। स्कन्दपुराण (ना० खं० १३०। २-३) में भी इनका उल्लेख मिलता है। उक्त पुराण में एक पत्नी का नाम 'मैत्रेयी' तथा दूसरी का नाम 'कल्याणी' बताया गया है। कल्याणी 'कात्यायनी'

नाम से भी प्रसिद्ध थी। कुछ विद्वान् कात्यायनी को ही 'गार्गी' मानते हैं किन्तु यह कथन तथ्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता क्योंकि गार्गी वाचक्नवी का नाम बृहदारण्यक उपनिषद् (३।६।१,३।८।१) में याज्ञवल्क्य की एक समकालिक और प्रतिद्वन्द्वी विदुषी के रूप में आया है, उनकी धर्मपत्नी के रूप में नहीं। 'कात्यायनी' को "गार्गी" कहा जाता था ऐसा उल्लेख भी प्रामाणिक ग्रन्थों में नहीं मिलता।

याज्ञवल्क्य के पुत्र-पौत्र

कात्यायनी के गर्भ से उत्पन्न 'कात्यायन' (स्क० पु० १३०।७१) नाम का इनका एक पुत्र था जिसे 'पारस्कर' भी कहते थे। 'पिप्पलाद' नाम का भी एक पुत्र था जिसने बाद में अथर्ववेद का प्रचार किया। 'वररुचि' याज्ञवल्क्य के पौत्र थे।

महाभारत शान्ति पर्व (३२३।१७) के अनुसार याज्ञवल्क्य के सौ शिष्य थे।

याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध अन्य व्यक्ति

महाभारत शान्ति पर्व (३१८।१६) के अनुसार व्यास के एक प्रिय शिष्य सुप्रसिद्ध चरकाचार्य वैशम्पायन इन्हीं याज्ञवल्क्य के मामा थे। कुछ विद्वानों के मतानुसार वैशम्पायन याज्ञवल्क्य के नाना थे जिसका स्पष्टीकरण अधोलिखित पंक्तियों से हो जाता है--

'ततः स्वमातामहान्महामुनेर्वृद्धाद्वैशम्पायनाद्यजुर्वेदमधीतवान्।'
(शत० ब्रा० उपोद्घात पृ० २६)

यह मत भ्रामक प्रतीत होता है क्योंकि अन्य अनेक ग्रन्थों में वैशम्पायन को याज्ञवल्क्य का मामा ही बताया गया है।

याज्ञवल्क्य की शिक्षा-दीक्षा

याज्ञवल्क्य के पिता ने यथाकाल उपनयन संस्कार कर याज्ञवल्क्य को विद्याध्ययन के लिए वर्धमानपुर में रहने वाले ऋग्वेदीय शाकल शाखा के प्रवर्तक विदग्ध शाकल्य गुरु के पास रखा। वहाँ याज्ञवल्क्य ने गुरु से सम्पूर्ण ऋग्वेद का अध्ययन किया। एक बार आनर्तेश्वर राजा सुप्रिय चातुर्मास्य के लिए वहां आये। राजा ने शाकल्य से पौरोहित्य कर्म करने के लिए कहा। शाकल्य प्रतिदिन एक-एक शिष्य को राजा के यहाँ कर्म कराने के लिए भेजते थे। वे शिष्य भी उन शान्तिक-पौष्टिक कर्मों को विधिवत् सम्पन्न कर, दक्षिणा ले जाकर गुरु को दे दिया करते थे। गुरु ने याज्ञवल्क्य को राजा के यहाँ जाकर इष्टि कराने का आदेश

दिया। याज्ञवल्क्य राजा को तीर्थाक्षत (मन्त्राक्षत) देने के लिए गये। राजा ने याज्ञवल्क्य से कहा–'मैने अभी स्नान नहीं किया है अतः आप मन्त्राक्षत अश्वशाला के स्तम्भ पर रख दें। (स्क० पु० ना० खं० २७८/४०) राजा के उस कथन से क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य ने तीर्थाक्षत को उक्त स्तम्भ पर फेंक दिया और दक्षिणा लिये बिना ही गुरु के आश्रम की ओर प्रस्थान किया। इधर जिस स्तम्भ पर तीर्थाक्षत फेंका गया था वह पत्ते, फूल और फल से युक्त हरा-भरा वृक्ष बन गया। (स्क० पु० ना० खं० २७८।४३) यह दृश्य देखकर राजा को पश्चात्ताप हुआ। दूसरे दिन 'कल ही वाले शिष्य को भेजिए' ऐसा सन्देश राजा ने शाकल्य के पास भेजा। तदनुसार शाकल्य ने याज्ञवल्क्य को पुनः राजा के यहाँ जाने के लिए आदेश दिया किन्तु 'राजा ने मेरा अपमान किया है, मैं वहाँ न जाऊँगा' ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य ने राजा के यहाँ जाने में असमर्थता व्यक्त की। (स्क० पु० २७८।८३) अन्त में गुरु ने उद्दालक आरुणि को राजा के यहाँ भेजा। (स्क० पु० ना० खं० २७८।६१) कार्य की समाप्ति के अनन्तर राजा ने तीर्थाक्षत को पहले दिन की भाँति दूसरे स्तम्भ पर छोड़ने के लिए उद्दालक से कहा। उद्दालक आरुणि ने वैसा ही किया किन्तु स्तम्भ पूर्ववत् ही रहा। उसमें न तो फूल ही आया और न फल ही। राजा ने शाकल्य के आश्रम में जाकर उनसे प्रथम शिष्य को अपने यहाँ भेजने के लिए प्रार्थना की। गुरु ने पुनः याज्ञवल्क्य को आज्ञापालनार्थ कहा। याज्ञवल्क्य ने ऐसी आज्ञा न देने के लिए गुरु से निवेदन किया। 'तुम मेरी आज्ञा भंग कर रहे हो मुझे ऐसा शिष्य नहीं चाहिए।' (स्क० पु० ना० खं० २७८।८६) शाकल्य के इस कथन पर याज्ञवल्क्य ने भी कहा– 'गुरु का मैं त्याग कर दूँगा किन्तु अयोग्य आज्ञा का पालन नहीं करूँगा।' इस पर गुरु शाकल्य ने कहा– 'ऐसा उद्दण्ड शिष्य मुझे नहीं चाहिए। तुम मेरे द्वारा पढ़ाये गये वेद को त्याग दो। 'छुरिका मुण्डकन्याय' से जल अभिमन्त्रित कर याज्ञवल्क्य को वेद त्याग के लिए दिया गया। याज्ञवल्क्य भी 'वान्ति धर्म' से विद्या का त्याग कर वहाँ से चल दिये। इस घटना के बाद विद्या से रहित होकर याज्ञवल्क्य ने विश्वामित्र के ह्रद में स्नान किया और द्वादश आदित्यों धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, साम्ब, भग ,विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा तथा विष्णु की स्थापना कर सूर्य को प्रसन्न किया तथा उनसे चारों वेदों का अध्ययन किया। (स्क० पु० ना० खं० ६।२७८।६१-६२) 'वैशम्पायन याज्ञवल्क्य के गुरु थे।' ऐसा उल्लेख उक्त पुराण में नहीं मिलता किन्तु ब्रह्माण्डपुराण, विष्णुपुराण और श्रीमद्भागवत के अनुसार इस घटना के बाद याज्ञवल्क्य अपने मामा वैशम्पायन के पास गये जिनसे उन्होंने आद्य यजुर्वेद निगद सीखा परन्तु वहाँ भी वेद सीखने के बाद गुरु से कलह हुआ जो इस प्रकार है–

'आद्य यजुर्वेद के प्रवर्तक वैशम्पायन उस समय प्रभास क्षेत्र में रहते थे। वहीं पर उन्होंने याज्ञवल्क्य को यजुर्वेद पढ़ाया। एक बार सुमेरु पर्वत पर ऋषियों की सभा हुई। पहले से ही यह संकेत किया गया था कि जो भी सभासद सात दिन के अन्तर्गत सभा में उपस्थित न होगा उसे ब्रह्महत्या का दोष लगेगा। वैशम्पायन भी उस सभा में बुलाए गए थे। वे अपने पिता का श्राद्ध-कर्म सम्पन्न करके शीघ्रता से वहाँ जाने के लिए बाहर निकल ही रहे थे कि उनका पैर बहन के सोए हुए पुत्र पर पड गया और वह मर गया। बालक के आकस्मिक निधन के कारण बालहत्या तथा समय पर सभा में न पहुंचने के कारण वाचिक ब्रह्महत्या ये दो पातक वैशम्पायन को लगे।

ब्राह्मणों के निर्देशानुसार वैशम्पायन ने ब्रह्महत्यानाशक प्रायश्चित किया। (ब्रह्मा० पु० ३३।३४-३५) घर आकर सब शिष्यों को एकत्र कर वैशम्पायन ने उनसे अपनी ब्रह्महत्या एवं बालहत्या के निवारणार्थ प्रायश्चित करने का आदेश दिया। याज्ञवल्क्य ने उनसे कहा– 'आप चिन्ता न करें, इन अल्प सामर्थ्य वाले शिष्यों से ये प्रायश्चित चरण क्या होंगे, मैं अकेला ही सब कर लूंगा।' इस पर वैशम्पायन ने क्रुद्ध होकर कहा– 'इस तरह अपमान करने वाले शिष्य से मेरा कोई प्रयोजन नहीं, मुझसे जो भी अध्ययन किया है, उसे त्याग दो।' यह सुनते ही याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया– 'मैंने इन शिष्यों का अपमान करने के लिए नहीं अपितु आप में भक्ति-भाव के कारण ऐसा कह दिया फिर भी यदि आपने मेरे कथन का अभिप्राय अन्यथा ग्रहण किया है तो मुझे भी आपके द्वारा प्राप्त वेद-ज्ञान की आवश्यकता नहीं।' ऐसा कहकर पहले किये गये ऋग्वेद-त्याग की तरह ही गुरु वैशम्पायन के द्वारा पढ़ाये गये यजुर्वेद का भी गज-पान पद्धति से त्याग कर वहाँ से निकल पड़े।'

स्कन्द पुराण के अनुसार शाकल्य से कलह होने पर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना की और उनसे चारों वेदों का अध्ययन किया। उस घटना का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है–

याज्ञवल्क्य की उपासना से प्रसन्न होकर सूर्य ने मनुष्य रूप में प्रकट होकर उनसे वर मांगने के लिए कहा। तत्काल ही याज्ञवल्क्य ने निवेदन किया– यदि आप मुझे वर देते हैं तो अपना शिष्य बनाइये और वेदपाठ की शिक्षा दीजिए।' (स्क० पु० ना० खं० २७८।१०१) सूर्य ने याज्ञवल्क्य से कहा– 'मुझे समस्त लोकों को प्रकाशित करने के लिए मेरु की प्रदक्षिणा करनी पड़ती है मैं तुम्हें वेद कैसे पढ़ा सकता हूँ? अच्छा, जब तुम चाहते ही हो तो अत्यन्त लघु रूप में मेरे

रथ के मुख्य अश्व के कान में प्रविष्ट होकर अध्ययन करो।' (स्क० पु० ना० खं० २७८।१०२-१०५) वहाँ उन्होंने चतुर्वेदों का सांगोपांग अध्ययन किया। तदुपरान्त गुरु से दक्षिणा मांगने को कहा (स्क० पु० ना० सं० २७८।१०५-१०६) आदित्य ने दक्षिणा रूप में अपने सूक्तों एवं सामों का प्रचार करने के लिए आदेश दिया। (स्क० पु० ना० खं० २७८।१०८-१०९) तदनन्तर याज्ञवल्क्य पुनः चमत्कारपुर आये और शाकल्य से भी गुरुदक्षिणा मांगने को कहा। शाकल्य ने दक्षिणा स्वरूप आदित्य द्वारा प्राप्त वेदरहस्य का उद्घाटन करने के लिए आदेश दिया। याज्ञवल्क्य ने वैसा ही किया और शाकल्य ने उसे शिष्य रूप में सुना। (स्क० पु० ना० खं० २७८।११८-१२०)'

श्रीमद्भागवत (१२।६।६७-७२) के अनुसार जब वैशम्पायन से गुरु-शिष्य का सम्बन्ध विच्छेद हो गया तब याज्ञवल्क्य ने सूर्य की उपासना की। सूर्य ने उनकी स्तुति स्वीकार कर अश्व का रूप धारण कर अयातयाम यजुषों की शिक्षा दी। (१२।६।७३) विष्णुपुराण (३।५।१६-२५) में भी सूर्य के प्रति याज्ञवल्क्य-कृत स्तुति सविस्तर वर्णित है। सूर्य ने अश्वरूप में याज्ञवल्क्य को उन यजुषों की शिक्षा दी जो याज्ञवल्क्य के पूर्व गुरु को नहीं ज्ञात थे। (३।५।२८) जिन ब्राह्मणों ने उन यजुषों का अध्ययन किया वे सब 'वाजिन' कहलाये क्योंकि सूर्य ने वाजिरूप में याज्ञवल्क्य को उपदेश दिया था। विष्णुपुराण और वायुपुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य ने ही अश्व का रूप धारण किया था। अतः वह वेद और उनके शिष्य 'वाजिन' कहलाये। (वि० पु० ३।५।२९), (वायुपुराण १।६१)

दो गुरुओं के साथ संघर्ष हो जाने से मानव गुरुओं के साथ निर्वाह न हो सकने की सम्भावना से याज्ञवल्क्य किसी देव गुरु के अन्वेषणार्थ निकल पड़े और उन्होंने आदित्य से वेदाध्ययन किया। इस पर एक शंका होती है कि क्या सूर्य शब्द से आकाश में प्रकाशमान सूर्य अभिप्रेत है अथवा आदित्यावतार कश्यप पुत्र 'आदित्य'? अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ऐसा विदित होता है कि याज्ञवल्क्य वाजसनेय के पहले भी यजुर्वेद की आदित्य और आंगिरस दो शाखाएँ प्रचलित थीं। (शत० ब्रा० ४।४।५।१९) अधोलिखित उद्धरण में उक्त विचार का प्रतिपादन हो जाता है—

"आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते।" इस उद्धरण के प्रसंग में शतपथब्राह्मण का अनुवाद करते हुए एक स्थान पर प्रो० वेबर के 'इण्डिशे स्तूदियन' का संकेत करते हुए यूलियस एगलिंग (शत० ब्रा० ४।४।५।१९ पृ० ३८३ टि० २) ने लिखा है कि वाजसनेय अध्वर्यु आदित्य ऋषि

के यजुष् पढ़ते थे। इससे यह आभास होता है कि इनके सम्भवतः कोई मानव गुरु ही थे जिनका नाम आदित्य अथवा भास्कर रहा होगा। बहिः साक्ष्य (स्क० पु० ना० खं० २७८।६१) के आधार पर उद्दालकआरुणि याज्ञवल्क्य के सहपाठी थे किन्तु अन्तःसाक्ष्य (शत०ब्रा० १४।६।४।३३) के आधार पर वे याज्ञवल्क्य के गुरु थे तथा आसुरि याज्ञवल्क्य के शिष्य थे। काण्व और माध्यन्दिन शतपथ की दोनों प्रतियों में उक्त परम्परा समान ही है। उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को मन्थकर्म ब्राह्मण के प्रसंग में बताया है कि मन्थ के प्रभाव से स्थाणु में भी शाखाएँ आ सकती हैं। (बृ० उ० ६।३।१६) वाजसनेय याज्ञवल्क्य के शिष्य मधुपैङ्ग्य थे उनके शिष्य चूडभागवित्ति, चूडभागवित्ति के शिष्य जानकिरायस्थूण तथा इनके शिष्य सत्यकामजाबाल थे। (बृ० उ० ६।३।१६) बृहदारण्यक उपनिषद् (६।४।३३) में उद्दालक को याज्ञवल्क्य का गुरु बताया गया है। याज्ञवल्क्य ने चारों वेदों का अध्ययन किया था। इसकी पुष्टि स्कन्द महापुराण ना० खं० २७८), आत्मपुराण (७।३८-४०) से हो जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बहिः साक्ष्य के आधार पर याज्ञवल्क्य के तीन गुरु थे, शाकल्य, वैशम्पायन और आदित्य किन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उनके एक ही गुरु थे उद्दालक आरुणि।

बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्गत मन्थ प्रकरण में जहाँ उद्दालक आरुणि द्वारा याज्ञवल्क्य को मन्त्र के प्रभाव से शुष्क स्थाणु को हरा कर देने की शिक्षा दी जाती है, वहाँ स्वाभाविक रूप से यह शंका उत्पन्न होती है कि स्कन्द पुराण (ना० खं० २७८।६१) में उल्लिखित उद्दालक आरुणि यदि वही थे तो वे आनर्तेश्वर के यहाँ काष्ठस्तम्भ को याज्ञवल्क्य की तरह क्यों न हरा-भरा कर सके ?

याज्ञवल्क्य नामधारी अनेक व्यक्ति तथा उनके अनेक ग्रन्थ

'याज्ञवल्क्य' गोत्र का भी नाम है जिसका निर्देश पहले ही किया जा चुका है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य गोत्रिय अनेक व्यक्ति याज्ञवल्क्य कहे जा सकते हैं। आर० सी० मजूमदार (V. A. p. 327) तथा एफ० ई० पार्जिटर (A. H. T.) जैसे प्रसिद्ध विद्वानों का भी यही मत है।

महाभारत में अनेक स्थलों पर याज्ञवल्क्य का उल्लेख अनेक प्राचीन पुरुषों के साथ हुआ है जैसा कि अधोलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है–

'खाण्डवदाह से बचकर मय नामक विख्यात असुर जब युधिष्ठिर का दिव्य-सभा-भवन बना चुका तब प्रवेशोत्सव के समय अनेक ऋषि और राजा इन्द्रप्रस्थ

में आये जिनमें तित्तिर, याज्ञवल्क्य तथा रोमहर्षण प्रमुख थे। (म०भा० सभापर्व १८) युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के समय व्यास पुरोहितों को ले आये। उस यज्ञ में द्वैपायन ब्रह्मा, सुसामा उद्गाता, याज्ञवल्क्य अध्वर्यु तथा धौम्य सहित पैल होता थे। (म० भा० सभापर्व ३६।३३-३५) युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान हो जाने के अनन्तर याज्ञवल्क्य और कपिल इत्यादि की पूजा का वर्णन है। (म० मा० सभापर्व।७२) युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में भी ऋषि याज्ञवल्क्य उपस्थित थे। युधिष्ठिर को राज्य करते हुए जब छत्तीस वर्ष बीत गये (म० भा० महाप्रस्थानिक पर्व।१) और उन्होंने वृष्ण्यन्धक कुल का नाश सुन लिया तब उन्होंने परीक्षित को सिंहासन देकर प्रस्थान का निश्चय किया। उनके प्रस्थान के अवसर पर द्वैपायन, नारद, मार्कण्डेय, भारद्वाज तथा याज्ञवल्क्य उपस्थित थे। युधिष्ठिर के बाद साठ वर्ष पर्यन्त परीक्षित का राज्य रहा। परीक्षित के पश्चात् जनमेजय और उनके पुत्र शतानीक ने ८० वर्ष तक राज्य किया। विष्णुपुराण (४।२।३-४) के अनुसार शतानीक ने याज्ञवल्क्य से वेद पढ़ा था। श्री भगवतदत्त बी० ए० (वै० वा० इ० वाल्यूम १, पृ० १५८) ने उनके सभाभवन प्रवेश के अवसर से लेकर शतानीक के समय तक उद्धृत याज्ञवल्क्य को एक मानकर उनकी आयु दो सौ उनतालिस वर्ष से भी अधिक मानी है। उक्त कथन पर विचार कर लेना उचित होगा। यद्यपि याज्ञवल्क्य एक योगी थे तथापि इतनी दीर्घायु होना शंकास्पद है। वस्तुतः लेखक ने यह जानने का प्रयास ही नहीं किया कि याज्ञवल्क्य भी भारद्वाज, वसिष्ठ, विश्वामित्र की तरह एक गोत्र का नाम है। इतनी लम्बी आयु के विषय में यदि शंका हो तो अनुचित नहीं।

यद्यपि अथर्ववेद (१७।१।२७) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।८।१५।३) में मनुष्य की आयु सहस्र वर्ष बतायी गयी है किन्तु सहस्र का अर्थ अधिक भी होता है। शतपथब्राह्मण (१०।२।६।८) में सौ वर्ष तथा इससे भी अधिक (शत०ब्रा० १।६।३।१९) आयु होने का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (२।१७) भी सौ वर्ष की ही आयु की पुष्टि करता है। सम्भवतः याज्ञवल्क्य की आयु दो सौ उनतालिस वर्ष तक की न रही होगी क्योंकि वही याज्ञवल्क्य यदि परीक्षित के समय तक जीवित रहे होते तो शतपथब्राह्मण में पाण्डवों के पौत्र परीक्षित का उल्लेख अवश्य होता। युधिष्ठिर का भी नामोल्लेख शतपथब्राह्मण में नहीं मिलता। युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ अथवा अश्वमेधयज्ञ का कोई भी संकेत नहीं प्राप्त होता। हाँ, पारिक्षित जनमेजय तथा शतानीक का उल्लेख मिलता है किन्तु अनेक परीक्षित, अनेक जनमेजय तथा अनेक शतानीक भी हुए हैं। शतपथब्राह्मण (१३।५।४।१-२) में अश्वमेध के प्रसंग में जिन जनमेजय का वर्णन हुआ है वह

अभिमन्यु के पौत्र जनमेजय नहीं अपितु परीक्षित तृतीय के पुत्र थे जिन्हें ब्रह्महत्या का दोष लगा था। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके अपने को पापमुक्त किया था। शतपथब्राह्मण (१३।५।४।१-२) तथा महाभारत (शान्ति पर्व।१४६) उल्लिखित जनमेजय एक ही हैं जिनके यज्ञ का सम्पादन इन्द्रोत दैवापि शौनक ने किया था। सी० वी० वैद्य ने अभिमन्यु के पौत्र को ही जनमेजय कहा है। उनका कहना है कि अन्य जनमेजय जिनका वर्णन मिलता है वे पारिक्षित नहीं थे अर्थात् परीक्षित के पुत्र नहीं थे। सी० बी० वैद्य जी की यह धारणा भ्रामक प्रतीत होती है क्योंकि जनमेजय भी परीक्षित का ही पुत्र था। यह ध्यान देने योग्य है कि जनमेजय अभिमन्यु के पौत्र को ब्रह्महत्या नहीं लगी थी किन्तु शतपथब्राह्मण में जिन जनमेजय का उल्लेख हुआ है उन्हें ब्रह्महत्या का दोष लगा था। यह बात अवश्य है कि जनमेजय के भाइयों का जो उल्लेख प्राप्त होता है उससे यह विदित होता है कि वे अभिमन्यु के पौत्र जनमेजय के भाई थे या हो सकता है कि वही नाम जनमेजय के भाइयों के भी रहे हों।

शतपथब्राह्मण (१३।५।४।१-२) में जनमेजय के यज्ञ-सम्पादक इन्द्रोत दैवापि शौनक का तथा ऐतरेय ब्राह्मण में इन्द्रोत दैवापि शौनक के स्थान पर तुरःकावषेय (ऐ० ब्रा० ८।२१) का नामोल्लेख हुआ है। इन दोनों उल्लेखों से भ्रम उत्पन्न होता है किन्तु इस विरोध का परिहार राखालदास बनर्जी (P. H. A. I.) ने बड़े अच्छे ढंग से कर दिया है। उनका मत है कि पारीक्षित जनमेजय ने दो अश्वमेधयज्ञ किए थे। एक यज्ञ के सम्पादक इन्द्रोत दैवापि शौनक तथा दूसरे के तुरःकावषेय थे। महाभारत में जो वर्णन हुआ है वह भीष्म द्वारा युधिष्ठिर को सुनाया गया। वह किसी भी प्रकार अभिमन्यु के पौत्र के विषय में नहीं हो सकता। शतपथब्राह्मण में अश्वमेध के ही प्रकरण में शतानीक के प्रसंग में जो गाथा गायी गयी है वह जनमेजय के पुत्र शतानीक के विषय में नहीं अपितु शत्रुजित् के पुत्र शतानीक के विषय में है।

हमें सम्भवतः तीन याज्ञवल्क्य मानने पड़ेंगे किन्तु कठिनाई तो यह है कि उनके पिता का, उनके अन्य सम्बन्धियों का वही उल्लेख पुराणों में मिलता है। यदि कई याज्ञवल्क्य मान लिये जायं तो प्रश्न उठता है कि क्या सब के साथ वही घटना घटी थी जो एक के साथ घटी थी ? यदि स्कन्दपुराण में वर्णित याज्ञवल्क्य को एक माना जाय और अन्य पुराणों में वर्णित याज्ञवल्क्य को दूसरा (क्योंकि स्कन्दपुराण में वर्णित याज्ञवल्क्य का वैशम्पायन से कलह नहीं हुआ था) तो भी

शाकल्य का गुरुत्व सब में अविकल रूप से वर्तमान है। एक दूसरी महत्त्वपूर्ण शंका वहाँ होती है जहाँ बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य को उद्दालक का शिष्य बताया गया है। स्कन्दपुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य और उद्दालक सहपाठी थे इसलिए वे गुरु और शिष्य कैसे बने ? इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि उद्दालक भी सम्भवतः याज्ञवल्क्य की तरह कई रहे होंगे अथवा जिस प्रकार शाकल्य ने सूर्य से वेद-ज्ञान प्राप्त करने वाले याज्ञवल्क्य का शिष्यत्व स्वीकार किया था उसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने उद्दालक आरुणि से मन्थ का प्रभाव सीखा था। विष्णुपुराण (४।४।१०६, १०७), वायुपुराण (८८।१८०) में योगीश्वर याज्ञवल्क्य को जैमिनि का शिष्य बताया गया है। याज्ञवल्क्य अनेक मानने पड़ेंगे अन्यथा शुक्लयजुर्वेद संहिता, शतपथब्राह्मण, याज्ञवल्क्यस्मृति, याज्ञवल्क्यशिक्षा, योगयाज्ञवल्क्यगीता आदि सब ग्रन्थों के रचयिता एक ही याज्ञवल्क्य नहीं प्रतीत होते।

सम्भवतः तीन याज्ञवल्क्य

अधिक सम्भव यह है कि याज्ञवल्क्य कम से कम तीन तो रहे ही होंगे जिनमें **प्रथम** याज्ञवल्क्य शुक्लयजुर्वेद के द्रष्टा या संकलयिता, **द्वितीय** याज्ञवल्क्य शतपथब्राह्मण के रचयिता और **तृतीय** याज्ञवल्क्य स्मृति, गीता और शिक्षा आदि ग्रन्थों के प्रणेता थे। यद्यपि महाभारत शान्ति पर्व (३२३।१६-१७) के अनुसार शुक्लयजुर्वेद और शतपथब्राह्मण के रचयिता एक ही याज्ञवल्क्य थे किन्तु ऐसा मान लेने पर कालक्रम में विरोध उत्पन्न हो जाता है क्योंकि संहिताओं के निर्माण के लम्बे समय के बाद ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। उचित भी यही है कि शुक्लयजुर्वेद के द्रष्टा याज्ञवल्क्य को उसके भाष्यकार के रूप में शतपथब्राह्मण के रचयिता याज्ञवल्क्य के साथ सम्बद्ध न किया जाय। हमें परम्परागत शतपथ-ब्राह्मण के रचयिता याज्ञवल्क्य ही अभिप्रेत हैं। यों तो उनके विषय में कुछ निश्चित रूप से ही नहीं कहा जा सकता किन्तु उनके मतभेद के स्थलों के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि वे स्वतन्त्र विचार के थे। शतपथब्राह्मण के रचयिता याज्ञवल्क्य को शुक्लयजुर्वेद संहिता के द्रष्टा याज्ञवल्क्य से अलग मानने का कारण यह है कि शुक्लयजुर्वेद संहिता में जिन अनेक बातों का उल्लेख नहीं हुआ है, वह शतपथब्राह्मण में विशेष रूप से प्रतिपादित है।

याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध कृतियों का संक्षिप्त विवरण

याज्ञवल्क्य वाजसनेय के नाम से प्रसिद्ध कृतियों में शुक्लयजुर्वेद संहिता तथा शतपथब्राह्मण हैं। इसकी पुष्टि अन्तःसाक्ष्य (बृ० उ० ६।४।३३) और बहिः–

साक्ष्य (म० भा० ३२७।१६-१७) दोनों से होती है। महाभारत (शान्ति पर्व ३२३।१६,१७) में इसका उल्लेख हुआ है कि याज्ञवल्क्य ने जनक से स्वयं बताया कि 'मैने सूर्य से शुक्लयजुष् प्राप्त किया तथा सम्पूर्ण शतपथ की भी रचना की और सब शिष्यों ने मुझसे इसका अध्ययन किया। यह बात मेरे मामा (वैशम्पायन) और उनके शिष्यों को अच्छी नहीं लगी।' मामा वैशम्पायन कृष्ण या चरक यजुषों के प्रवचनकर्ता थे अतः शुक्लयजुषों का प्रचार उन्हें अच्छा नहीं लगता था।

ब्रह्मसम्प्रदायी आद्ययजुर्वेद या निगदाख्य यजुर्वेद के समस्त अध्वर्युओं में वैशम्पायन के शिष्य याज्ञवल्क ही सर्वाधिक महत्त्वशाली सिद्ध हुए। यहां उक्त यजुर्वेद का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करना अपेक्षित है–

भगवान् व्यास ने होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ब्रह्मा इन चारों ऋत्विजों को अपना-अपना कार्य यथोचित तथा सरलता से करने के दृष्टिकोण से तत्तत्कर्म-प्रधान चार संहिताओं का प्रणयन किया। ब्रह्मसम्प्रदायी यजुर्वेद इन्हीं में से एक है जो मन्त्र एवं यज्ञविधानोपयोगी गद्यांशों से निर्मित है। मत्स्यपुराण के अनुसार त्रेतायुग में यही एकमात्र वेद था। इसकी सत्ता के कारण उस युग में तदाधारित यज्ञ-कर्मों की प्रधानता थी। हरिश्चन्द्र का पुत्र-लाभ के लिए किया गया यज्ञ तथा अन्य कई यज्ञ इसके प्रमाण स्वरूप हैं।

अथर्ववेद भी यज्ञ-प्रधान है किन्तु उसमें वर्णित कर्मो का 'यज्ञ' यह नाम अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होता क्योंकि वे यज्ञ केवल यजमान द्वारा सम्पादित हो सकते हैं। वे यज्ञ साधारणतः गृहसूत्रोक्त मात्र हैं। 'यज्ञ' शब्द वस्तुतः होता, अध्वर्यु उद्गाता और ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के साथ एक बड़े कर्म से सम्बद्ध है। इस प्रकार यज्ञ का विवेचक एकमात्र यही आद्ययजुर्वेद ही था।

भगवान् व्यास ने इस संहिता को रचकर वैशम्पायन को सिखाया। वैशम्पायन ने पाठभेदादि से इसके सताईस भेद किये। उनका अध्यापन शिष्य-प्रशिष्यों में होता रहा। वैशम्पायन ने सत्ताईस शाखाओं में से एक शाखा अपने भांजे तथा शिष्य याज्ञवल्क्य को सिखायी। महाभारत में यह उल्लेख मिलता है कि युधिष्ठिर के अश्वमेध और राजसूय दोनों यज्ञों में पैल तथा याज्ञवल्क्य ने ऋत्विज का कार्य सम्पन्न किया था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस समय तक याज्ञवल्क्य का गुरु से संघर्ष, वेद-त्याग एवं दूसरे वेद की प्राप्ति आदि घटनाएँ अघटित ही थीं। ये घटनाएँ सम्भवतः उस समय के बाद ही घटित हुईं।

महाभारत शान्ति पर्व (३२३।२,१६) के अनुसार आदित्य से वेद प्राप्त करने के पश्चात् याज्ञवल्क्य ने शुक्लयजुर्वेद का प्रणयन किया तथा बहुत ही कौशल एवं बुद्धिमत्ता से अध्वर्यु वर्ग के उपकारार्थ शतपथब्राह्मण की रचना की। फलत. ब्रह्म सम्प्रदायी अथवा प्रजापति से प्राप्त ब्राह्मण मिश्रित यजुर्वेद संहिता की अपेक्षा उक्त वेद तथा ब्राह्मण ग्रन्थ से अध्वर्युओं को यज्ञ-सम्पादन में अधिक सुविधा होने लगी। इसीलिए ये नवीन संहिता और ब्राह्मण अधिक लोकोपकारक सिद्ध हुए तथा ब्रह्मसम्प्रदायी वेद पीछे पड़ गया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य से याज्ञवल्क्य एक महान् यशस्वी सिद्ध हुए।

(क) शुक्लयजुर्वेद संहिता

यजुर्वेद का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। 'यजुष्' शब्द का अर्थ पूजा और यज्ञ भी है। गद्य को भी यजुष् कहा जाता है। ऋग्वेद का ऋत्विज होता पुरोनुवाक्या (आहुति कर्म की अवतरणिका के रूप में पढ़ी जाने वाली ऋचा०) को पढ़कर विशिष्ट देवता का आह्वान करता है और यजुर्वेद का ऋत्विज अध्वर्यु यज्ञ अथवा याग का विधिवत् सम्पादन करता है। अतः यजुर्वेद में कर्मकाण्ड का प्राधान्य है। विभिन्न यज्ञों में अध्वर्यु के द्वारा प्रयोग किये जाने वाले जो आवश्यक मंत्र हैं (और जिन विशेष नियमों का पालन अध्वर्यु को करना पड़ता है) उनकी समष्टि का नाम यजुर्वेदसंहिता है। मन्त्र द्वारा सम्पन्न अमुक क्रिया के बाद अमुक क्रिया सम्पन्न कर बिभिन्न यज्ञानुष्ठान किये जाते हैं, इनका विधान शुक्लयजुर्वेद में स्पष्ट रूप से किया गया है। इसके विभन्न अध्यायों में विविध यज्ञ-क्रियाओं के मन्त्र संगृहीत हैं। यज्ञ में अध्वर्यु इस वेद का उपयोग करता है अतः इसे अध्वर्युवेद भी कहते हैं।

(क) १–कृष्णयजुर्वेद तथा शुक्लयजुर्वेद

यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं—एक ब्रह्म सम्प्रदाय तथा दूसरा आदित्य सम्प्रदाय। शतपथब्राह्मण (१४।९।५।३३) के अनुसार आदित्य यजुष् शुक्ल यजुष् के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा याज्ञवल्क्य द्वारा आख्यात हैं। अतः आदितय सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्लयजुर्वेद तथा ब्रह्मसम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्णयजुर्वेद है। याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित होने के कारण वाजसनेयिसहिता शुक्लयजुर्वेद के नाम से प्रचलित है। एक सिद्धान्त यह भी है कि 'शुक्लयजुर्वेद नामकरण इसलिए है कि मन्त्रभाग से ब्राह्मणभाग अलग है।' इस सिद्धान्त को वेबर (I. L. p. 103, 104) एगलिंग (S. B. E. vol XII,) तथा मैकडालन आदि विद्वानों ने स्वीकार कर लिया है। विश्वबन्धु न तो 'कृष्ण' का काला तथा न तो 'शुक्ल' का श्वेत ही अर्थ

करते हैं। (वैं० सा० पृ० २३) सायण भी एर्गलिग तथा वेबर आदि विद्वानों से सहमत प्रतीत होते हैं।

(क) २–शुक्लयजुर्वेद संहिता के दो संस्करण

शुक्लयजुर्वेदसंहिता के काण्व तथा माध्यन्दिन दो परस्पर मिलते-जुलते संस्करण आज उपलब्ध हैं।

(क) ३–शुक्लयजुर्वेद संहिता का विषय-विवेचन

शुक्लयजुर्वेदसंहिता में चालीस अध्याय हैं।

यजुर्वेद के प्रथम पच्चीस अध्यायों में महासत्रों के प्रसंग में पढ़े जाने वाले मन्त्रों का संग्रह है। प्रथम दो अध्यायों में दर्शयाग तथा पूर्णमासयाग का विधान है जिनमें पिण्डपितृयज्ञ परक आहुतिया देने का वर्णन है। तीसरे अध्याय में अग्निहोत्र, अग्न्याधान तथा चातुर्मास्य यज्ञों के लिए उपयोगी मन्त्रों का विवरण है। चौथे अध्याय से लेकर आठवें अध्याय तक अर्थात् पाँच अध्यायों में सोमयज्ञ तथा सोम से सम्बद्ध पशुयज्ञ का वर्णन है। नवें तथा दसवें अध्याय में एकाह (एक दिन तक चलने वाला) यज्ञ में वाजपेय और राजसूय यज्ञों का उल्लेख है। राजसूय में जययात्रा का नाट्य, द्यूतक्रीडा, अस्त्र-क्रीडा आदि से सम्बन्धित मन्त्रों का विधान है। इसके अनन्तर ग्यारहवें अध्याय से लेकर अठारहवे अध्याय तक अग्निचयन सम्बन्धी विविध मन्त्रों तथा मंत्रांशों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है क्योंकि यह अग्निचयन वर्ष भर निरन्तर चलता रहता था। अग्निचयन के प्रत्येक अंग का, प्रत्येक रहस्य का वर्णन ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से मिलता है। सोलहवें अध्याय में शतरुद्रिय होम का प्रसंग है जिसमें रुद्र की कल्पना का अच्छे ढंग से सांगोपांग विवेचन मिलता है। यह 'रुद्राध्याय' बहुत ही प्रसिद्ध है। अठारहवें अध्याय में 'वसोर्धारा' सम्बन्धी मन्त्र निर्दिष्ट हैं। उन्नीस से इक्कीस तक तीन अध्यायों में सौत्रामणी यज्ञ का वर्णन है। इस यज्ञ के दो भेद हैं–एक में सुरा का प्रचार होता है तथा दूसरे में सोम का। बाईस से लेकर पच्चीस तक चार अध्यायों में प्राचीन चक्रवर्तियों के प्रिय यज्ञ अश्वमेध का वर्णन है। छब्बीस से लेकर उनतीसवें अध्याय तक का भाग पिछले आध्यायों की परिपूर्तिमात्र है। तीसवें अध्याय में पुरुषमेध यज्ञ में आहुतिरूप विविध पशुओं की गणना है। इकतीसवें अध्याय में पुरुषसूक्त है जिसमें ऋग्वेद की अपेक्षा अन्त में छः मन्त्र अधिक उपलब्ध होते हैं। बत्तीसवें से लेकर चौतीसवें तक तीन अध्यायों में सर्वमेधयज्ञ के मन्त्र उल्लिखित हैं। बत्तीसवें अध्याय के आरम्भ में हिरण्यगर्भ सूक्त के कुछ मन्त्र संगृहीत हैं। अध्याय चौतीस के प्रथम छः मन्त्रों का संग्रह

'शिवसंकल्पोनिषद्' नाम से प्रसिद्ध है। पैंतीसवें अध्याय में अन्त्येष्टि कर्म से सम्बन्धित मन्त्र हैं। छत्तीसवें से लेकर उनतालिसवें अध्याय तक प्रवर्ग्ययाग से सम्बन्धित कुछ मन्त्र हैं। चालीसवां अध्याय 'ईशोपनिषद्' या 'ईशावास्योपनिषद्' नाम से विख्यात है।

(क) ४—शुक्लयजुर्वेद की शाखाएं

आदित्यसम्प्रदायगत शुक्लयजुर्वेद की पन्द्रह शाखाओं में केवल दो शाखाएँ ही आज उपलब्ध हैं। वे हैं—काण्व और माध्यन्दिन। माध्यन्दिन के अन्तर्गत बारह तथा काण्व के अन्तर्गत तीन का उल्लेख मिलता है।

योगीश्वर याज्ञवल्क्य
↓

१ माध्यन्दिन समाम्नाय	२ कण्व समाम्नाय
१—जाबाला:	१—कण्वा:
२—बौधेया:	२—पौण्ड्रवत्सा:
३—माध्यन्दिना:	३—वैनधेया:
४—शापेया:	
५—तापायनीया:	
६—कपोला:	
७—आवटिका:	
८—परमावटिका:	
९—पाराशरा:	
१०—गालवा:	
११—कात्यायना:	
१२—वैजवापा:	

(ख) शतपथब्राह्मण

(ख) १—ब्राह्मण शब्द का निर्वचन

ब्रह्म एवं वेद का एक ही अर्थ है। यज्ञ की क्रिया, वस्तु और तत्त्व आदि का निरूपण करने वाला प्रवचन ही ब्राह्मण है। शतपथब्राह्मण (७।१।१।५) में एक स्थान पर मन्त्र को ब्रह्म बताया गया है। उदाहरण-स्वरूप पवित्र (दोकुश) करण के प्रसंग में 'पवित्रे स्थो वैष्णव्यो' (शु० य० सं० १/१२) इस मन्त्र को लेकर 'यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ:' इत्येवतदाह' (शत० ब्रा० १।१।३।१) यह उस

मन्त्र का प्रवचन या ब्राह्मण है। भट्टभास्कर ने तैत्तिरीय संहिता (१।५।१) के भाष्य में लिखा है कि—

'ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः'

वाचस्पति मिश्र के अनुसार—

'नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।'
प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मण तदिहोच्यते ॥'

जैमिनि आचार्य ने पूर्वमीमांसासूत्र (२।१।७।३२-३३) में 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या शेषे ब्राह्मणशब्दः' इस तरह ब्राह्मण पद का निर्वचन किया है। विश्वबन्धु के अनुसार मन्त्र और यज्ञ-कर्म दोनों के व्याख्यान करने के कारण बृंहण अर्थात् विस्तारयुक्त गद्ययुक्त प्रवचनों को 'ब्राह्मण कहते हैं।

(ख) २—अभीष्ट ब्राह्मण शब्द ग्रन्थवाची है

'ब्राह्मण' शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थ के अवयव तथा उन अवयवों के समुदाय का भी बोध होता है जिस प्रकार 'वेद' शब्द से ग्रन्थ का बोध होता है उसी प्रकार यह ब्राह्मण शब्द भी उन ब्राह्मणों का प्रतिपादक होने के कारण ग्रन्थवाची है। ग्रन्थ-वाचक ब्राह्मण शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में तथा जातिवाचक ब्राह्मण शब्द का प्रयोग पुल्लिग में होता है। जैसा कि मेदिनीकोश में निर्दिष्ट है। 'ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम्' इसका अर्थ यह है कि जिस वेदभाग में मन्त्रों को स्पष्ट किया जाता है अथवा उनकी व्याख्या की जाती है उस वेदभाग के लिए ब्राह्मण शब्द का प्रयोग नपुंसक लिंग में होता है। ऐतरेय ब्राह्मण (६।२२,८।२) के 'दुरोहणम् रोहति तस्योक्तं ब्राह्मणम्।' 'यद्गौरवीतं तस्योक्तं ब्राह्मणम्' तथा शतपथब्राह्मण (४।६।६।२०) के 'यद्वाकोवाक्यं ब्राह्मणं तदेवैतेनाप्नुवन्ति' इस कथन से ब्राह्मण शब्द नपुंसक लिंग में प्रयुक्त किया गया दीख पड़ता है।

इसका प्रयोग पुल्लिग में भी देखा जाता है। विष्णुधर्मोत्तर (३।७) में—

'मन्त्राः सब्राह्मणाः प्रोक्तास्तदर्थं ब्राह्मणं स्मृतम्।
कल्पना च तथा कल्पाः कल्पश्च ब्राह्मणस्तथा ॥'

दोनों लिगों में प्रयोग दिखायी पड़ता है। महाभारत उद्योगपर्व (अध्याय १६) में इसका प्रयोग पुल्लिग में देखा जा सकता है—

'य इमे ब्राह्मणाः प्रोक्ताः मन्त्रा वै प्रोक्षणे गवाम्।
एते प्रमाणं भवत उताहो नेति वासव ॥'

यद्यपि इस प्रकार से ब्राह्मण शब्द का दोनों लिंगों में प्रयोग मिलता है किन्तु इसका प्रयोग प्रायः नपुंसक लिंग में देखा जाता है। इसका कारण यह है कि 'ब्राह्मण' पुल्लिग शब्द के द्वारा कहे जाने पर 'ब्राह्मण' शब्द जातिवाची है अथवा ग्रन्थवाची इस विषय में सन्देह होता है। सन्देह होने पर प्रकरण के विवक्षित अर्थ को जाना जा सकता है। अर्थ के शीघ्र स्पष्ट हो जाने के उद्देश्य से जातिवाचक 'ब्राह्मण' शब्द को पुल्लिग में तथा ग्रंथवाची ब्राह्मणशब्द को नपुंसक लिंग में कहा जाने लगा। इस प्रकार की व्यवस्था से ऐसी रूढ़ि हो गयी।

(ख) ३—शतपथब्राह्मण के नाम की यथार्थता

इस ब्राह्मण ग्रन्थ की 'शतपथ' संज्ञा इसलिए है कि इसमें सौ अध्याय या सौ व्याख्यान हैं। शतपथ की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'शतं पन्थानो मार्गा नामाध्याया यस्य तच्छतपथम्

यद्यपि काण्व शतपथब्राह्मण में एक सौ चार अध्याय हैं तथापि 'छत्रिन्-न्याय' से उसे भी 'शतपथ' कहते हैं। इस 'शतपथ' के 'पंचदश पथ,' 'षष्ठिपथ' तथा 'अशीतिपथ' आदि अवान्तर विभेद भी हैं। प्रथम और द्वितीय काण्ड में पन्द्रह अध्याय हैं जिनमें हविर्यज्ञ का प्रतिपादन है अतः इस प्रकरण की 'पंचदश' संज्ञा उचित है। प्रथम काण्ड हविर्यज्ञ काण्ड से लेकर संविति नाम के नवें काण्ड तक साठ अध्याय, तृतीय काण्ड से लेकर नवें तक आध्वरिक दूसरे नाम वाले सौमिक-याज्ञिक सभी का निरूपण किया गया है। इस प्रकरण ग्रन्थ की 'षष्ठिपथ' संज्ञा भी उचित है। प्रथम काण्ड से लेकर बारहवें काण्ड के छः अध्याय तक अस्सी अध्याय हैं। 'अग्निरहस्य' नाम वाले दसवें काण्ड से लेकर 'मध्यम' संज्ञा वाले बारहवें काण्ड के छठे अध्याय तक उत्तरक्रतु का वर्णन निरूपित किया गया है। अतः इस प्रकरण की 'अशीतिपथ' यह संज्ञा भी उचित ही है। शेष अध्यायों में सौत्रामणी और अश्वमेध आदि यागों का निरूपण किया गया है। इसे ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इस प्रकार अवशिष्ट भाग को लेकर प्रारम्भ से अन्त तक गणना करने पर समस्त ग्रन्थ की 'शतपथ' संज्ञा सर्वथा उचित है। शतपथब्राह्मण वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद के बाद द्वितीय महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसका उल्लेख मैक्डानल ने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।

(ख) ४—शतपथ ब्राह्मण के माध्यन्दिन और काण्व दो प्रमुख संस्करण

माध्यन्दिन शतपथ में प्रथम काण्ड से नवें काण्ड तक पिण्ड पितृयज्ञ को छोड़कर प्रायः माध्यन्दिनसंहिता के अनुसार ही विषयों का प्रतिपादन हुआ है। माध्यन्दिनसंहिता में पिण्ड पितृयज्ञ का बिवेचन दर्शपूर्णमासयज्ञों के विबेचन के

बाद हुआ है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ में तो आधान के बाद ही। दसवें से चौदहवें काण्ड तक संहिता के क्रम से ही विषयक्रम भी है। काण्व और माध्यन्दिनसंहिता के प्रारम्भ में दर्शपूर्णमासयज्ञों का प्रतिपादन हुआ है। माध्यन्दिन शतपथ का प्रारम्भ दर्शपूर्णमास से होता है किन्तु काण्व शतपथ का प्रारम्भ आधान से होता है। माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण और काण्वशतपथब्राह्मण में प्रथम और द्वितीय काण्डों में ही भेद है। माध्यन्दिन में प्रथमकाण्ड काण्व में द्वितीय काण्ड है तथा काण्व का प्रथम काण्ड माध्यन्दिन का द्वितीय काण्ड है। अन्यत्र तो कहीं-कहीं ही विषय-क्रम भिन्न है। माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण में चौदह काण्ड हैं जब कि काण्वशतपथ ब्राह्मण में सत्रह काण्ड।

(ख) ५—माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण

माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण में चौदह काण्ड, सौ अध्याय, चार सौ अड़तीस ब्राह्मण तथा सात हजार छः सौ चौबीस कण्डिकाएँ हैं। प्रथम काण्ड में पूर्णमास और दर्श इष्टियों का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय काण्ड में आधान, पुन-राधान, अग्निहोत्र, उपस्थान, प्रवत्स्यदुपस्थान, आगतोपस्थान, पिण्डपितृयज्ञ, आग्रयण, दाक्षायण तथा चातुर्मास्य आदि यज्ञों का विवेचन मीमांसापूर्वक किया गया है। तृतीय काण्ड में दीक्षाभिषवपर्यन्त सोमयाग का वर्णन है। चतुर्थकाण्ड में सोमयाग के तीनों (प्रातः, माध्यन्दिन तथा सायं) सवनों के अन्तर्गत किये जाने वाले कर्मों का, षोडशी आदि सोमसंस्था, द्वादशाहयाग, त्रिरात्रहीन दक्षिणा तथा सत्रधर्म का प्रतिपादन हुआ। पाँचवें काण्ड में वाजपेययाग तथा राजसूययाग का वर्णन किया गया है। छठें काण्ड में उखासम्भरण, विष्णुक्रम का तथा सातवें काण्ड में चयनयाग, गार्हपत्यचयन, अग्निक्षेत्रसंस्कार, दर्भस्तम्बादि के दूर करने तक के कार्यों का विवेचन हुआ है। आठवें काण्ड में प्राणभृत् आदि इष्टकाओं के स्थापन का विवेचन है। नवें काण्ड में शतरुद्रियहोम, धिष्ण्यचयन, पुनश्चितिः तथा चित्युपस्थान का वर्णन है। दसवें काण्ड में चितिसम्पत्ति, चयनयागस्तुति, चित्यपक्षपुच्छविचार, चित्याग्निवेदिका परिमाण, उसकी सम्पत्ति, चयन-काल, चित्याग्नि के छन्दों का अवयवरूप, यजुष्मती और लोकम्पृणा आदि इष्टकाओं की संस्था, उपनिषद्रूप से अग्नि की उपासना, मन की सृष्टि, लोकादि रूप से अग्नि की उपासना, अग्नि का सर्वतोमुखत्व, सम्प्रदायप्रवर्तक ऋषिवंश आदि का प्रतिपादन हुआ है। ग्यारहवें काण्ड आधानकाल, दर्शपूर्णमास तथा दाक्षायणयज्ञों की अवधि, दाक्षायणयज्ञ, पथिकृदिष्टि, अभ्युदितेष्टि दर्शपूर्णमासीय पदार्थों का अर्थवाद, अग्निहोत्रीय अर्थवाद, ब्रह्मचारी के कर्तव्य, मित्रविन्देष्टि, हविःसमृद्धि, चातुर्मास्यार्थवाद, पंचमहायज्ञ, स्वाध्यायप्रशंसा, प्रायश्चित्त, अंशु और अदाभ्यग्रह, अध्यात्मविद्या, पशुबंधप्रशंसा, हविर्यज्ञ एवं सब विधियों का

लक्षण तथा षड्ढोतृहोम का वर्णन है। बारहवें काण्ड में सत्र में दीक्षाक्रम, सत्र, महाव्रत, गवामयन, अग्निहोत्र प्रायश्चित्त, सौत्रामणीयाग, मृतकाग्निहोत्र, मृतकदाह आदि निरूपित हैं। तेरहवें काण्ड में अश्वमेध, तद्गत-प्रायश्चित्त, पुरुष-मेध, सर्वमेध, पितृमेध का विवरण है। चौदहवें काण्ड में प्रवर्ग्यकर्म, धर्म महावीर, प्रवर्ग्योत्सादन, प्रवर्ग्यकर्तृक नियम, ब्रह्मविद्या, मंथ, वंश आदि का प्रतिपादन हुआ है।

(ख) ६—काण्व शतपथब्राह्मण का विषय

काण्व शतपथब्राह्मण में सत्रह काण्ड, एक सौ चार अध्याय, चार सौ पैंतीस ब्राह्मण तथा छः हजार आठ सौ छः कण्डिकाएँ हैं। पहले काण्ड में आधान-पुनराधान, अग्निहोत्र, आग्रयण, पिण्डपितृयज्ञ, दाक्षायणयज्ञ, उपस्थान तथा चातुर्मास्ययाग का विवेचन है। दूसरे काण्ड में पूर्णमास तथा दर्शयागों का प्रतिपादन किया गया है जिसका विवेचन माध्यन्दिन शतपथब्राह्मण के प्रथमकाण्ड में हुआ है। तीसरे काण्ड में अग्निहोत्रीय अर्थवाद तथा दर्शपूर्णमासीय अर्थवाद विवेचित हैं। चतुर्थकाण्ड में सोमयागदीक्षा का वर्णन है। पंचमकाण्ड में सोमयाग, सवनत्रयगतकर्म, षोडशीप्रभृतसोमसंस्था, द्वादशाहयाग, त्रिरात्रहीनदक्षिणा, चतुस्त्रिंशद्धोम, सत्रधर्म का विवरण किया गया हैं। छठें काण्ड में वाजपेययाग का, सातवें काण्ड में राजसूययाग, आठवें में उखासम्भरण का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। नवें काण्ड से लेकर बारहवें काण्ड तक चयनयाग प्रतिपादित है। तेरहवें काण्ड में आधानकाल, पथिकृत् इष्टि प्रयाजानुयाजमन्त्रण, शंयुवाक्, पत्नी-संयाज, ब्रह्मचर्य, दर्शपूर्णमासशेष तथा पशुबन्ध का प्रतिपादन हुआ है। चौदहवें काण्ड में दीक्षाक्रम, पृष्ठ्याभिप्लवादि, सौत्रामणीयाग, अग्निहोत्र-प्रायश्चित्त, मृतकाग्निहोत्र आदि का वर्णन हुआ है। पन्द्रहवें काण्ड में अश्वमेध का, सोलहवें काण्ड में सांगोपांग पवर्ग्यकर्म का एवं सत्रहवें काण्ड में ब्रह्मविद्या का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(७) याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध अन्य ग्रन्थ

शुक्लयजुर्वेदसंहिता और शतपथब्राह्मण के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य के नाम से तीन अन्य ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—

(क) याज्ञवल्क्यस्मृति

(ख) याज्ञवल्क्यशिक्षा

(ग) योगियाज्ञवल्क्य या योगियाज्ञवल्क्य गीता अथवा योगयाज्ञवल्क्यम्।

(क) **याज्ञवल्क्य स्मृति**—इसमें तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय आचाराध्याय, द्वितीय व्यवहाराध्याय एवं तृतीय प्रायश्चित्ताध्याय के नाम से प्रसिद्ध है।

(ख) **याज्ञवल्क्य शिक्षा**—इस ग्रन्थ में अध्ययन-विधि, हस्तचालन-विधि, स्वरसंहिता-विधि, वर्णप्रकरण आदि का प्रतिपादन किया गया है।

(ग) **योगियाज्ञवल्क्य**—प्रस्तुत गीता में द्वादश अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में परिचयात्मक श्लोक एवं नियम, द्वितीय में नियम, तृतीय में आसन, चतुर्थ में नाडी, कन्द, वायु और उनके कार्य, पंचम में नाडी की शुद्धि, षष्ठ में प्राणायाम और उनके प्रकार, सप्तम में प्रत्याहार और उनके प्रकार, अष्टम में धारणा और उनके प्रकार, नवम में ध्यान और उनके प्रकार, दशम में समाधि, एकादश में योग, अन्य मुनियों का प्रस्थान, इस योग का संक्षेप करने के लिए याज्ञवल्क्य से गार्गी की प्रार्थना तथा द्वादश अध्याय में गुप्तशिक्षा और उपसंहारात्मक बातों का प्रतिपादन किया गया है।

(८) याज्ञवल्क्य का समय

(क) बहिःसाक्ष्य

याज्ञवल्क्य के समय का निर्धारण उनकी कृतियों के समय-निर्धारण से सरलतापूर्वक किया जा सकता है। ए० ए० मैकडानल अपनी पुस्तक (H. S. L.) में ब्राह्मणकाल को ईसापूर्व ८०० ई० से ई० पू० ५०० तक माना है। एम० विण्टरनित्ज् वेद के किसी भी अंग को ईसापूर्व ५०० के बाद का नहीं स्वीकार करते जैसा कि उनके कथन से स्पष्ट है कि—

> 'We shall probably have to date the beginning of this development about 2000 or 2500 B. C. and the end of it between 750 and 500 B. C.'

इन मतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शतपथब्राह्मण का रचनाकाल ईसापूर्व सातवीं शताब्दी के पश्चात् नहीं हो सकता।

एफ० ई० पार्जिटर ने (A. I. H. T. p. 332) याज्ञवल्क्य का समय जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार ईसापूर्व आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है। इसके पश्चात् वे लिखते हैं कि वैदिक गुरुओं की सूची में याज्ञवल्क्य का समय कम से कम सौ वर्ष और पहले जाता है अर्थात् उनका समय ईसापूर्व नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। इनके मत से शतपथब्राह्मण का रचनाकाल नवीं शताब्दी के पश्चात् का नहीं हो सकता। प्रो० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी के एक

लेख' (Paninis vocabulary—it's bearing on the date) से यह विधिवत् विदित हो जाता है कि पाणिनि की भाषा ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा थी। शतपथ-ब्राह्मण का रचनाकाल पाणिनिकाल से बाद का नहीं हो सकता। चतुर्वेदी जी के लेख से यह भी प्रकट है कि पाणिनि का समय ९०० ईसापूर्व माना जा सकता है जैसा कि अधोलिखत उद्धरण से स्पष्ट है—

'If Paninis language belongs, as indicated above, to the Pre Mahabharata period, we will have shift back the date of Panini to a period earlier than the 9th century B. c., as accepted by C. V. Vaidya.'

इस प्रकार भी याज्ञवल्क्य का समय ईसापूर्व दसवीं, ग्यारहवीं शताब्दी निश्चित होता है। सी० वी० वैद्य ने अपने एक निबन्ध में यह स्पष्ट कर दिया है कि दफ्तरी ने शतपथब्राह्मण का रचनाकाल ईसापूर्व चौबीसवीं शताब्दी स्वीकार किया है तथा उन्होंने ही अपनी पुस्तक (H. S. L. Sect. II. p. 15) में शतपथ-ब्राह्मण का रचनाकाल ईसापूर्व ३००० से ईसापूर्व २५०० माना है। उनका यह भी मत है कि शतपथब्राह्मण की रचना महाभारत युद्ध होने के बाद हुई। वे महाभारत युद्ध को ३१०२ वर्ष ईसापूर्व स्वीकार करते हैं। अतः वही समय याज्ञवल्क्य का भी माना जा सकता है। एम० विण्टरनित्ज़ ने भी महाभारत युद्ध की इसी तिथि का निर्देश किया है। (H. I. L. Vol. I. p. 473-74)

(ख) अन्तःसाक्ष्य

याज्ञवल्क्य वाजसनेय के साथ कई ऋषि तथा राजा सम्बद्ध हैं। उनके विषय में कुछ निर्देश कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। याज्ञवल्क्य के साथ प्रायः जनक भी उल्लिखित रहते हैं। अस्तु सर्वप्रथम जनक के विषय में विवेचन प्रस्तुत करना उचित है। राय चौधरी ने अपने इतिहास की (P. H. I.) में यह सिद्ध किया है कि यह जनक सीता के पिता थे किन्तु उनकी यह धारणा भ्रामक-सी प्रतीत होती है क्योंकि उस प्रकार स्वीकार करने पर परम्परा का निर्वाह नहीं हो पाता। मजूमदार ने राय चौधरी के मत का खण्डन बहुत ही अच्छे ढंग से किया है। सुशील गुप्त ने (A. I.) इन्हीं जनक को सीता का पिता कहा है। प्रो० पी० टी० श्रीनिवास आयंगर (A. H. I.) के मतानुसार शतपथब्राह्मण में उद्धृत जनक महाजनक थे जिनका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में हुआ है। मजूमदार, पुशलकर आदि विद्वानों ने जनक को उग्रसेन बताया है किन्तु वंशावली में यह नाम नहीं आता। (V. A., p. 327) महाभारत में (शा० पूर्व ३०८) करालजनक तथा देवराति जनक (म० भा० शा० प०।३१५) का उल्लेख मिलता है। महाभारत के 'भो भो

राजन् जनकानां वरिष्ठ' (३।१३३।१६) तथा वायुपुराण (८६।२२) के 'ठंशो-जनकानाम्' कथनों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मिथिला का कोई भी राजा जनक नाम से अभिहित किया जाता रहा होगा। शतपथब्राह्मण में एक स्थल पर जनक का याज्ञवल्क्य, श्वेतकेतु आदि ब्राह्मणों के साथ उल्लेख मिलता है अतः श्वेतकेतु आरुणेय, सोमशुष्म सात्ययज्ञि, तथा याज्ञवल्क्य जनक के सम-कालिक प्रतीत होते हैं। शतपथब्राह्मण में दी गयी एक गुरु-शिष्य परम्परा से भी इसी मत की पुष्टि होती है। उक्त गुरु-शिष्य परम्परा में क्रमशः उद्दालक, वाजसनेय याज्ञवल्क्य, मधुकपैङ्ग्य, चूडभागवित्ति, जानकिरायस्थूण, सत्यकाम जाबाल आते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (२।१) में एक राजा अजातशत्रु का उल्लेख हुआ है। यह अजातशत्रु काशी का राजा अजात शत्रु था, बौद्ध साहित्य में वर्णित मगध का राजा अजातशत्रु नहीं।

शतपथब्राह्मण में चरकों, चरकाचार्यों एवं चरकाध्वर्युओं का नाम कई बार उद्धृत हुआ है जिनके मतों का खण्डन कर याज्ञवल्क्य ने अपने मतों को प्रतिष्ठापित किया है। चरकाचार्यों का उद्धृत होना इसका सकेत करता है कि शतपथब्राह्मण की रचना महाभारत युद्ध के पश्चात् ही हुई होगी क्योंकि वैशम्पायन से याज्ञवल्क्य का मनमुटाव महाभारत युद्ध के बाद ही हुआ। शतपथब्राह्मण (२।१।२।२) के एक उद्धरण 'कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते। सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।' के आधार पर शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने (भारतीय ज्योतिष पृ० १८०-१८१) ज्योतिष की सहायता से शतपथब्राह्मण के प्राचीन अंशों का रचनाकाल शकपूर्व ३००० वर्ष निश्चित किया है।

महाभारत युद्ध का समय ईसापूर्व ३१०२ वर्ष सम्भवतः निश्चित ही है। उसके पश्चात् शतपथब्राह्मण की रचना हुई। अतः याज्ञवल्क्य का समय ३००० वर्ष ईसापूर्व से २५०० वर्ष ईसापूर्व मानने को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

(९) याज्ञवल्क्य के जीवन का अन्तिम भाग

याज्ञवल्क्य ने वृद्धावस्था में प्रव्रज्या ले ली।

द्वितीय अध्याय

वैदिक यज्ञों का सामान्य परिचय

(पात्र, द्रव्य तथा यज्ञसम्पादक पुरुषो के साथ)

(१) यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति और उसका अर्थ

यज्ञ शब्द 'यज्' धातु तथा नङ् प्रत्यय से निष्पन्न हैं। यज् धातु का प्रयोग पूजा या आराधना तथा हवन करने के अर्थ में होता है। जिस विधान में देवताओं को हविष् दी जाती है अथवा जिसमें देवताओं की पूजा होती है उसे यज्ञ शब्द से अभिहित किया जाता हैं। अंगरेज़ी में यज्ञ को Sacrifice कहते हैं। ई० ओ० जेम्स (E. O. James) ने बताया है कि Sacrifice शब्द को लैटिन भाषा में Sacrificeum कहते हैं जो कि लैटिन Sacer जिसका अर्थ अंग्रेज़ी में holy (तथा संस्कृत में पवित्र होता है) तथा लैटिन facere जिसे अंग्रेजी में to make (संस्कृत में अनुष्ठान) कहते हैं, से मिलकर बना है। यह Sacrificium शब्द उस विधान का बोध कराता है जो कि किसी वस्तु के च्युत हो जाने पर अथवा उसके नष्ट हो जाने पर किया जाता है और जिसका उद्देश्य दैवी शक्ति के साधन तथा उसको प्राप्त करने वाले अर्थात् साधक के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है।

शतपथब्राह्मण में यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति बहुत ही अच्छे ढंग से दी हुई है जिसका अर्थ यह होता है कि उत्पन्न होने के कारण सोम को यज्ञ कहते हैं।

'अथ यस्माद्यज्ञो नाम। घ्नन्ति वा एनमेतदभिषुण्वन्ति तद्यदेनं तन्वते तदेनं जनयन्ति स तायमानो जायते स यज्जायते तस्माद्यञ्जो यञ्जो ह वै नामैतद्यद्यज्ञ इति।'

द्रव्य, देवता और त्याग इन तीनों से यज्ञ शब्द का अर्थ पूरा होता है। अर्थात् किसी द्रव्य का जब किसी देवता के उद्देश्य से त्याग किया जाता है तो उसे याग कहते हैं।

(२) यज्ञ शब्द के पर्याय तथा उनके अभीष्ट अर्थ

अध्वर, मख, क्रतु, इष्टि, सवन, याग, आदि अनेक शब्द यज्ञ के पर्याय हैं।

(क) जहाँ वर्ष भर यज्ञ कर्म चलता है, वहाँ पर अध्वर शब्द का प्रयोग होता है, जैसे चातुर्मास्य इष्टि अध्वर, सौम्य-अध्वर, तथा चयन याग अध्वर।

(ख) जहाँ ग्रहों का प्रचार होता है वहाँ मख शब्द का प्रयोग होता है जैसे ग्रह याग।

(ग) यज्ञों के अंगभूत छोटे अथवा बड़े कर्मों को क्रतु कहते हैं। शतपथब्राह्मण के अनुसार जो मन से कामना की जाती है, कि 'ऐसा हो जाय, अमुक वस्तु मेरी हो जाय, यह कार्य करना चाहिए' वह क्रतु है।

(घ) यज्ञ का छोटा रूप इष्टि है। यज्ञ में सोलह पुरोहितों की आवश्यकता पड़ती है किन्तु इष्टि यजमान, यजमान पत्नी तथा चार ऋत्विजों (होता, अध्वर्यु उद्गाता, ब्रह्मा) से ही सम्पन्न हो जाती है। यदि और भी छोटी इष्टि हुई तो एक ऋत्विज् तथा यजमान और यजमान पत्नी सें ही सम्पन्न हो सकती है। किन्हीं-किन्हीं इष्टियों में ऋत्विजों की आवश्यकता पड़ती ही नहीं, यजमान अपनी पत्नी के साथ इष्टि को सम्पन्न कर लेता है।

(ङ) ग्रहयाग में सोमरस की आहुति दी जाती है, उसे सोमयज्ञ या सवन कहते हैं।

(च) किसी देवता के लिए द्रव्य का त्याग ही याग है।

(३) याग और होम में अन्तर

'यजति' शब्द का जहाँ प्रयोग होता है वहाँ उसका अर्थ याग होता है। 'जुहोति' शब्द से होम का बोध होता है।

पुरोऽनुवाक्या और याज्या से युक्त, खड़े होकर जो होम होता है वह यजन के अन्तर्गत आता है। होम या हवन में बैठकर हविष् प्रक्षेपण होता है। याग में 'वौषट्' कह कर अग्नि में हविष् डालना चाहिए तथा होम में 'स्वाहा' के बाद।

(४) यज्ञ-द्रव्य की परिभाषा

इन्द्र, अग्नि, विष्णु आदि पूज्य परोक्ष देवताओं को आहुतियों के रूप में तथा ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि सपर्य प्रत्यक्ष देवताओं को दक्षिणा के रूप में या पूजा के लिए

जिस सामग्री का उपयोग होता है अथवा यज्ञादिक कर्म के समय जिस वस्तु का अग्नि में प्रक्षेपण किया जाता हो, इस प्रकार उद्भिजों, अंडजों, जरायुजों, दैव तथा धातुओं से प्राप्त वस्तुओं को द्रव्य कह सकते हैं।

(१) यज्ञ द्रव्यों का विभाजन

यज्ञ द्रव्यों का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है :-

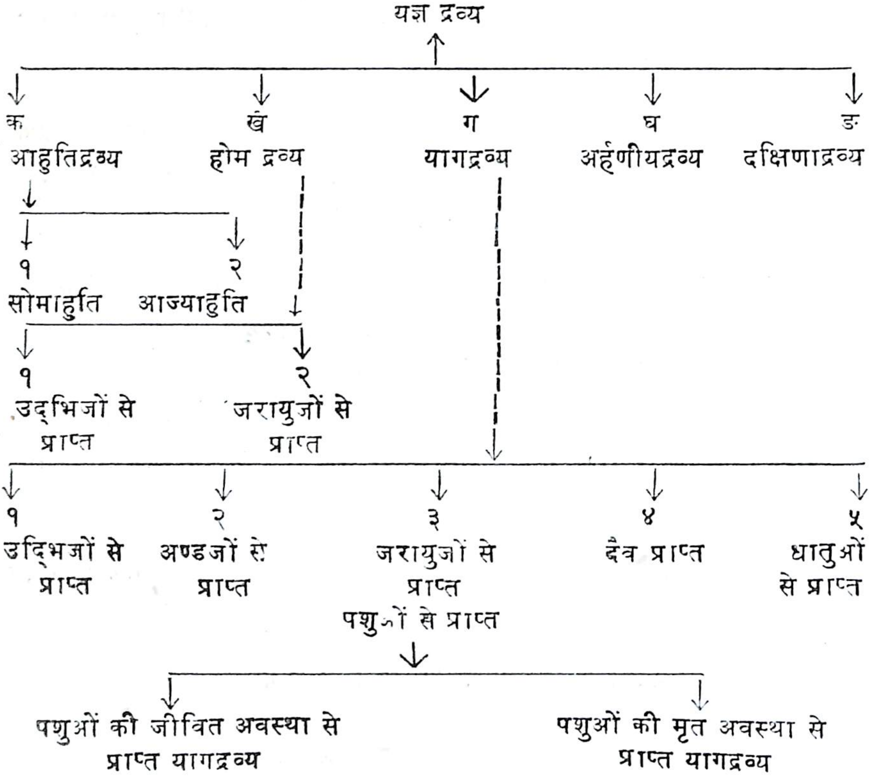

(क) आहुति द्रव्य

शतपथ ब्राह्मण में आहुति को दो भागों में विभाजित किया गया है, एक है सोमाहुति जिसका प्रयोग सोम यज्ञ में होता है तथा दूसरी है आज्याहुति जो हविर्यज्ञ तथा पशुयज्ञ में प्रयुक्त होती है। एक के साथ सोमद्रव्य है तथा दूसरी के साथ आज्यद्रव्य है।

(ख) होमद्रव्य

१—उद्भिजों से प्राप्त—यवागू, तैल, चावल, ओदन, सोमरस, माष (उड़द) उद्भिजों से प्राप्त होने वाले द्रव्य हैं।

२—जरायुजों से प्राप्त—दूध, दधि, घृत, मांस जरायुजों से प्राप्त होने वाले द्रव्य हैं। ये ही होम के दस मुख्य द्रव्य बताये गये हैं जिनका अग्निहोत्र में प्रयोग किया जाता है किन्तु इन द्रव्यों में दूध, चावल तथा यवागू इन्हीं तीन मुख्य द्रव्यों का अधिक प्रयोग होता है।

(ग) यागद्रव्य

सुविधा के लिए यागद्रव्यों को पाँच वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:-

१—उद्भिजों से प्राप्त यागद्रव्य, २—अण्डजों से प्राप्त यागद्रव्य, ३—जरायुजों से प्राप्त याग द्रव्य, ४—दैव प्राप्त याग द्रव्य, ५—धातुओं से प्राप्त यागद्रव्य।

१—उद्भिजों से प्राप्त यागद्रव्य

इस प्रकार के द्रव्य के अन्तर्गत पुरोडाश, चरु, अपूप, यवागू, पृथुका, धानाः, लाजा या परिवाप, सक्तवः, करम्भ, करम्ब, सोम, समिध, बर्हि, करीर, खर्जूर, कृष्णला, किंशुक आदि प्रमुख हैं।

१—पुरोडाश

देवता विशेष या सामान्य के लिये (व्रीहि) और यव के पिष्ट का पिण्ड बनाकर मदन्ती जल से सान कर कूर्म के आकार की बनायी गयी याज्ञिक रोटिका को पुरोडाश कहते हैं। शतपथब्राह्मण में इसकी रोचक व्युत्पत्ति दी गयी है।

'सः (कूर्मरूपेणाच्छन्नः पुरोडाशः) वा एभ्यः (मनुष्येभ्यः) तत्पुरोऽदाशयत्। य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मात्पुरोदाशः पुरोदाशो ह वै नामैतद्यत्पुरोडाश इति।'

ऐतरेयब्राह्मण में भी इसी प्रकार की व्युत्पत्ति की गयी है।

'पुरो वा एतान्देवा अक्रत यत्पुरोडाशस्तत्पुरोडाशानां पुरोडाशत्वम्।'

पुरोडाश की तुलना पशु से दी जाती है। पहले पुरोडाश के स्थान पर पशु का आलम्भन किया जाता था। इसके प्रमाण के लिए शतपथब्राह्मण में पुरोडाश के विषय में एक आख्यान मिलता है।

पहले देवों ने पुरुष-पशु का आलम्मन किया, उस आलब्ध पशु का मेध भागा और अश्व में प्रविष्ट हो गया, उन्होंने अश्व का आलम्भन किया। उस आलब्ध पशु का मेध भाग कर गो में प्रवेश कर गया, उन्होंने गौ का आलम्भन किया, उस आलब्ध पशु का मेध भाग कर अवि (मेष) में प्रविष्ट हो गया, उन्होंने अवि का

भी आलम्भन किया, उस आलब्ध पशु का मेध भागकर अज (बकरे) में प्रवेश कर गया, अज का आलम्भन करने पर उसका भी मेध भागकर इस पृथ्वी में प्रविष्ट हो गया। उसको उन्होंने खोद कर प्राप्त किया जो कि व्रीहि (चावल) तथा यव (जौ) के रूप में आज प्राप्त होता है। पशु पाँच वस्तुओं से निर्मित होता है और यह पुरोडाश भी पाँच वस्तुओं मे बनता है, इसलिए इसकी तुलना पशुओं से की जाती है। व्रीहि और यव के पिष्ट पशु के लोम हैं, पिष्ट को सानने के लिए जल का डालना पशु का चर्म है। सानने पर पशु का मांस बनता है, मांस भी इसी प्रकार सना हुआ होता है। पुरोडाश की श्रपण (पाक) क्रिया सम्पन्न होने पर पशु की अस्थियों का निर्माण होता है। पकाये जाने पर पुरोडाश में काठिन्य आ जाता है और पशु की अस्थियाँ भी कठिन होती हैं। पुरोडाश का अभिधारण करना (घी से चुपड़ना) पशु की मज्जा है। इसीलिए कहा गया है कि 'पाङ्क्तः पशुः'।'

ये पुरोडाश एक कपाल से लेकर द्वादश कपालों पर पकाये जाते हैं। वैश्वदेवयाग में द्यावापृथ्वी के लिए एककपाल पर पकाया गया पुरोडाश दिया जाता है। रत्नयाग में अश्विनों के लिए दो कपालो पर पकाया गया पुरोडाश दिया जाता है। त्रिषयुक्तादि याग में विष्णु के लिए त्रिकपाल पुरोडाश का विधान है। सोम के लिए चतुष्कपाल पुरोडाश दिया जाता है। पितृयज्ञ में पितरों के लिए या सोम के लिए छः कपालों पर पकाया गया पुरोडाश दिया जाता है। रत्नयाग में मरुत देवताओं के लिए सप्तकपाल पुरोडाश देने का विधान है। दर्शपूर्णमास याग में अग्निदेवता के लिए अष्टाकपालपुरोडाश दिया जाता है। मित्रविन्दा इष्टि में त्वष्टा और वरुण के लिए दशकपालपुरोडाश प्रदान किया जाता है। पूर्णमासयाग में अग्नीषोमीय एकादशकपालपुरोडाश का विधान है। रत्नयाग तथा मित्रविन्दा इष्टि में इन्द्र को एकादशकपालपुरोडाश दिया जाता है। दर्शयाग में इन्द्र तथा अग्नि देवता के लिए द्वादशकपालपुरोडाश तथा दीक्षणीया और मित्रविन्दा इष्टियों में सविता के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश देने का विधान है।

पुरोडाश का परिमाण

कुछ आचार्यों के मतानुसार पुरोडाश का आकार घोड़े के टाप के बराबर होना चाहिए जबकि शतपथब्राह्मण में याज्ञवल्क्य ने इसके आकार के विषय में किसी विशेष आकार के निर्धारण का विरोध करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है कि 'जितना मन से बड़ा न मालूम पड़े उतना बड़ा आकार पुरोडाश का होना चाहिए।'

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि अन्य इष्टियों में विभिन्न देवताओं को

दिये जाने वाले पुरोडाश घी से आँजे हुए होने चाहिए पर त्र्यम्बकेष्टि में रुद्र देवता के लिए दिये जाने वाले पुरोडाश घी से आँजे हुए नहीं होने चाहिए।

२—चरु

गार्हपत्य आयतन के अंगारों पर पकाये गये चावलों को चरु कहते हैं। यदि उन चावलों को दूध में पकाया जाता है तो उसे पयसिचरु कहते हैं। यह श्यामाक, नीवार, गवेधुका अथवा जौ से भी बनाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में इसे देवताओं का अन्न कहा गया है तथा ओदन (भात) को ही चरु कहा गया है। प्राशित्र-हरण के प्रसंग में अदन्तक पूषा को पिष्टतण्डुल का चरु दिया जाता है। वैश्वदेव याग में सोम के लिए चरु का विधान है। दीक्षणीया इष्टि में सोम वनस्पति के लिए श्यामाक के बने चरु का विधान है। बृहस्पतिवाक् के लिए नीवार का बना चरु दिया जाता है और इन्द्र ज्येष्ठ के लिए हायनों के चरु का, रुद्र पशुपति के लिए गावेधुक चरु का, मित्र सत्य के लिए नाम्ब के चरु का, वरुण धर्मपति के लिए यवमय चरु का विधान किया गया है। रत्नयाग में आदित्य को चरु दिया जाता है तथा वरुण को यवमय (जौ का बना हुआ) चरु दिया जाता है। मित्रविन्दा इष्टि में सोम, मित्र, बृहस्पति, पूषा, और सरस्वत् के लिए चरु का विधान किया गया है। आग्रयण इष्टि में विश्वेदेवों के लिए कुछ आचार्य प्राचीनान्न से बने चरु को देते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करके नवान्न से बने चरु को ही देने का विधान करते हैं।

३—अपूप

घी से मिश्रित मीठी रोटी को ही अपूप कहते हैं। यह चावल या जौ की बनी होती है। पुनराधान के समय अपूप यव तथा व्रीहि से भी बनाया जाता है।

४—यवागू

पिष्ट द्रव्य को यवागू कहते हैं। कुछ आचार्यों के मतानुसार अत्यन्त द्रव रूप से पकाये गये चावल ही यवागू हैं। धूर्तस्वामी के मत से दूध ही यवागू है। कर्काचार्य के मत से खीर को ही यवागू कहते हैं।

सुश्रुतसंहिता में यवागू की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है :

'सिक्थैर्विरहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता।
विलेपीबहुसिक्थास्याद्यावागूर्विरलद्रवा॥'

उसी ग्रंथ में यह भी निर्दिष्ट है कि यवागू कुछ चावलों से युक्त होती है।

तैत्तिरीय संहिता में जर्तिल (वन्य तिल) तथा गवीधुक् (धान्य विशेष) के यवागू से होम करने का विधान है।

५—पृथुका

चिपिटान्न को ही पृथुका कहते हैं। बोलचाल की भाषा में 'च्यूडा' तथा मराठी भाषा में इसे 'पोहा' कहते हैं।

६—धानाः

इन्हें नक्षत्रों का रूप बताया गया है। भुने हुए जौ को ही धानाः कहते कहते हैं। बोलचाल की भाषा में इसे 'बहुरी' कहा जा सकता है। भूसी निकालने के बाद जब जौ को भूना जाता है तो उन भुने हुए जौ को धानाः कहते हैं। चातुर्मास्य में साकमेध के प्रसंग में पितर-सोमवन्त, पितर बर्हिषद् के लिए अन्य द्रव्यों के साथ 'धानाः' भी दिये जाते हैं। अन्वाहार्यपचन में दक्षिणाग्नि में पितर-बर्हिषद् के लिए धानाः को आधा पीसते हैं और आधा बिना पीस कर ही पकाते हैं। हरी (दो घोड़ों) तथा अश्विनीकुमार के लिए इनको दिया जाता था।

७—लाजाः

इन्हें परिवाप भी कहते हैं। साधारण बोलचाल की भाषा में 'लाई' कह सकते हैं। भुने हुए चावलों को ही लाजाः कहते हैं। भारती देवता के लिए इनका विधान किया गया है।

८—सक्तवः (सत्तू)

भुने हुए जौ के पिष्ट अथवा चावल के पिष्ट को सत्तू कहते हैं। शतरुद्रिय-होम में गवेधुका के सत्तू का होम किया जाता है। सौत्रामणी याग में चावल के सत्तू तथा जौ के सत्तू का आहवनीयाग्नि में हवन करने का विधान है।

९—करम्भ

सत्तू में जब दही मिलाया जाता है तब उसे करम्भ कहते हैं। अदन्तक होने के कारण पूषा के लिए इसका विधान किया गया है।

१०—करम्ब

आज्यमिश्रित सत्तू को करम्ब कहा जाता है।

११—मंथ

जिस गाय का बछड़ा मर गया हो, दूसरे बछड़े के द्वारा दूध दुह कर उस दूध में सत्तू डाल कर जिस द्रव्य का संपादन होता है वह मंथ है।

१२—सोम

ब्राह्मणग्रन्थों में सोम-विषयक अनेक आख्यान मिलते हैं, उदाहरण के लिए गायत्री ने श्येन (वाजपक्षी) का रूप धारण कर द्युलोक से सोम का आहरण किया। सोम लता विशेष है जिसकी उपलब्धि पर्वतों पर होती थी। शतपथ-ब्राह्मण (३।४।३।१३) में यह उल्लेख मिलता है कि पर्वत और चट्टानों पर एक वनस्पति उगती है जिसे अशाना (उशाना या कहीं-कहीं दुधाना) कहते हैं, उसे ऋत्विज ले आते हैं और निचोड़ते हैं। इससे सोमहवि तैयार की जाती थी जिसका प्रयोग सोम याग में होता था। इसका महत्त्व इससे विदित होता है कि ऋग्वेद का समस्त नवम मण्डल तथा अन्य मण्डलों के छः छः सूक्त इसकी प्रशस्ति में समर्पित हैं। वाट ने अफगान के अंगूर को ही वास्तविक सोम माना है और राइस के विचार से गन्ने का तात्पर्य हो सकता है जब कि मैक्समूलर और राजेन्द्र लाल मित्र ने यह मत व्यक्त किया है कि इसकारस एक प्रकार की 'यव-सुरा के एक तत्त्व' के रूप में प्रयुक्त होता था अर्थात् सोम पौधा होप (Humulus bupulus) का ही एक प्रकार होता था। हिलेब्राण्ड का विचार है कि होप अथवा अगूर में से कोई भी सोम नहीं। उनका यह भी कहना है कि उसकी अब पहचान ही नहीं की जा सकती। मूल सोम-पौधा निश्चित रूप से अवेस्ता के 'हओम' के समान था। उस पौधे के लिए, जिससे केरमान और येज्द के पारसी 'हूम-रस निकालते थे और जिसे वह अवेस्ता के 'हओम' के साथ समीकृत करते हैं। सोम निचोड़ने के पहले खरीदा जाता था। इसे पत्थरों पर या उलूखल में रखकर कूटा जाता था। अधिक रस प्राप्त करने के लिए पौधे को कभी-कभी जल में भिगो दिया जाता था। परिष्कार करने के लिए चलनी पर रखकर दबाया जाता था। इसके पश्चात् इन्द्र और वायु देवता के लिए अभिश्रित शुक्र शुचि सोम प्रयुक्त होता था। सोम को दूध के साथ मिश्रित करने के कारण 'गवाशिर', तथा दधि के साथ 'दध्याशिर' और अन्न के साथ मिश्रित करने के कारण 'यवाशिर' कहते थे। इन मिश्रणों को विभिन्न लाक्षणिक नामों से व्यक्त किया गया है, जैसे अत्क, वस्त्र अथवा वासस्, अभिश्री, रूप, श्री, रस, प्रयस् और नभस्। इस तरह मिश्रित होने पर सोम के तीव्र आस्वाद को 'तीव्र' विशेषण द्वारा व्यक्त किया गया है। कुछ दशाओं में सम्भवतः सोम के साथ मधु भी मिश्रित किया जाता था। मिश्रण के लिए 'कोशमधुश्चुत।' का प्रयोग किया गया है।

अवेस्ता के दो बार की अपेक्षा यहाँ सोम को एक दिन में तीन बार निचोड़ा जाता था। संध्याकालिक निचोड़ने के कृत्य को ऋभुओं के साथ, मध्याह्न के कृत्य को इन्द्र के साथ और प्रातः कालिक कृत्य को अग्नि के साथ सम्बद्ध किया गया है किन्तु संस्कारों द्वारा ऐसा प्रकट होता है कि इनमें अनेक देवों का भी भाग

होता था । याजकीय पेय के विपरीत सोम कभी प्रचलित पेय था, ऐसा नहीं प्रतीत होता । सोम को उत्तम हवि तथा देवों की हवि कहा गया है । इसका प्रयोग महायज्ञ में होता था ।

१३—मदिरा (सुरा)

यह एक प्रकार का मादक पेय है जो अन्न को सड़ा कर उसके पिष्ट से तैयार किया जाता था । सौत्रामणी इष्टि में सुरा का भी प्रयोग होता था ।

१४—फलीकरण (भूसी)

धान से चावल को निकालने के लिए उलूखल में धान को रखकर मुसल से कांड़ते हैं । उस कण्डनक्रिया से जो भूसी निकलती है उसे फलीकरण कहते हैं । शूर्प से जब भूसी को चावल से अलग करते हैं, इस क्रिया को भी फलीकरण कहते हैं । यहाँ पहले कहा हुआ अर्थ ही अभीष्ट है । फलीकरणद्रव्य यज्ञ में राक्षसों को प्रदान किया जाता था ।

१५—समिध

अग्नि को प्रज्ज्वलित करने के लिए बाहु के नाप की पलाश वृक्ष अथवा किसी भी यज्ञीय वृक्ष की लड़कियों को समिध कहा जाता है । शतपथब्राह्मण में पंचमहायज्ञ के प्रकरण में बताया गया है कि कुछ भी न रहने पर अग्नि में समिध डालकर 'देवयज्ञ' सम्पन्न किया जा सकता है ।

१६—बर्हि (कुश)

इनका प्रयोग वेदी को ढकने के लिए होता था । यज्ञ में भाग पाने वाले देवता आकर इन पर बैठते थे । दर्शपूर्ण मास के अन्त में बर्हि होम भी होता था ।

१७—करीर

इनका उपयोग कारीरी (काम्येष्टि) में मिलता है । इन्हें सौम्य बताया गया है ।

१८—खर्जूर

इनका भी प्रयोग कारीरी इष्टि में मिलता है ।

१९—कृष्णला

इन्हें गुंजा या घुंघची कहते हैं । इनका प्रयोग अतियज्ञ में होता था । मृत्यु से भयभीत व्यक्ति के लिए शतकृष्णला इष्टि का विधान है ।

(२) अण्डजों से प्राप्त यागद्रव्य

१—मधु

मधु ओषधियों तथा वनस्पतियों का परम रस है। सोमरस की मात्रा में वृद्धि के लिए मधु का मिश्रण तैयार किया जाता था। इसके मिश्रण को 'कोशमधुश्चुत्' कहा गया है।

(३) जरायुजों से प्राप्त यागद्रव्य

जीवित पशुओं से तथा पशुओं को मारकर जो वस्तुएँ प्राप्त की जाती हैं, जिनका उपयोग देवताओं के लिए किया जाता था वे यागद्रव्य के अन्तर्गत आती हैं।

पशुओं की जीवित अवस्था से प्राप्त होने वाले द्रव्यों में दूध, दधि, साम्नाय्य, आज्य, पृषदाज्य, तानूनप्त्राज्य, आमिक्षा या पयस्या तथा वाजिन हैं।

१—पय (दूध)

दूध यज्ञ का प्राण है। 'पीङ् पाने' धातु से 'पीयते इति पयः' से पय का अर्थ दूध अभीष्ट है। प्रायः इसका उपयोग अग्निहोत्र में होता है। शुनासीरीय पर्व में वायुदेवता के लिए तथा सूर्य देवता के लिए इसका विधान है। नक्तोषासा (रात और उषा देवता) के लिए श्वेत बछड़े वाली काली गाय के दूध की आहुति दी जानी चाहिए। मृतक के लिए उस गाय के दूध की आहुति दी जानी चाहिए जिसका बछड़ा नहीं है और दूसरा बछड़ा ले आकर उससे दूध प्राप्त किया जाता है। अग्निहोत्र के प्रसग में आचार्यों में इस विषय में मतभेद है कि दूध को कितनी देर तक पकाया जाय? कुछ आचार्य बुद-बुदे उठने के समय तक पकाने के लिए अपना मत प्रस्तुत करते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उनका मत है कि केवल थोड़ी देर अग्नि पर रखकर दूध का हवन करना चाहिए। दूध को देर तक नहीं पकाना चाहिए क्योंकि वह अग्नि का वीर्य है।

२—दधि (दही)

इसकी व्युत्पत्ति शतपथब्राह्मण में इस प्रकार दी गयी है :

'यदब्रवीद्धिनोति मेति तस्माद्दधि'

इन्द्र के लिए बहुला अनड्डुही (गाय) के दधि को प्रदान करने का विधान किया गया है। सरस्वती देवता के लिए भी इसका विधान है।

३–सान्नाय्य

दूध में दही मिलाने से सान्नाय्य तैयार की जाती है। इसकी व्युत्पत्ति षड्विंश ब्राह्मण में इस प्रकार दी गयी है–

'तमोषधिभ्यश्च वनस्पतिभ्यश्च गोभ्यश्च पशुभ्यश्च आदित्याच्च ब्रह्म च ब्राह्मणाः सन्नयन्ते तत्सान्नाय्यस्य सान्नाय्यत्वम्।'

जिस यजमान ने सोमयाग कर लिया है, वह दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए सान्नाय्य (दूध और दधि का मिश्रण) दे। सान्नाय्य 'महेन्द्र को दी जाय या इन्द्र को?' इस विषय में मतभेद है।

तैत्तिरीयकों का मत है कि सान्नाय्य देते समय 'महेन्द्राय सान्नाय्यत्वम्' कहना चाहिए क्योंकि वृत्र को मारने के पूर्व तो इन्द्र थे, किन्तु वृत्र को मारने के पश्चात् इन्द्र महेन्द्र हो गये। आज भी एक राजा जब वह कोई विजय कर लेता है तब 'महाराज' कहा जाता है। इस मत के विरोध में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि सान्नाय्य 'इन्द्र' कह कर ही देना चाहिए 'महेन्द्र' कहकर नहीं क्योंकि वृत्रहनन के पूर्व भी इन्द्र थे और वृत्रहनन के पश्चात् भी इन्द्र ही हैं।'

४-आज्य (घी)

वैदिक भाषा में पिघले हुए घी को आज्य कहते हैं। सामान्यतः घी को ही आज्य शब्द से अभिहित किया जाता है। यागिक कर्मों के लिए आज्य गाय का ही होना चाहिए। यह देवताओं की सुरभि है। आज्य के स्थान में घी, तेल, दूध, दधि में से किसी का उपयोग किया जाय तो उसे भी आज्य शब्द से अभिहित किया जाता है। दो आज्य भाग अग्नि और सोम के लिए पौर्णमासयाग में प्रदान किये जाते हैं। याज्ञवल्क्य के कथनानुसार दोनों आज्यभाग यज्ञ की दो आँखें हैं।

५–पृषदाज्य

संस्कार किये गये आज्य में जब दधि मिला दिया जाता है, उस दधिमिश्रित आज्य को पृषदाज्य कहते हैं। शतपथब्राह्मण में एक स्थल पर दूध को ही पृषदाज्य कहा गया है तथा पृषदाज्य को प्राण बतलाया गया है। वस्तुतः पृषदाज्य कोई द्रव्यान्तर नहीं है किन्तु आज्य में दधिबिन्दु रूपी गुण का विधान किया जाता है। दोनों गुणों के कारण दधि की प्रशंसा ही है। पशुयाग में भी 'स्वाहा देवा आज्यपान्' (शु० य० २१।४०) यही मन्त्र पढ़ा जाता है 'स्वाहा देवा आज्य पृषदाज्यपान्' यह नहीं।

'अथ पृषदाज्यं गृह्णाति' (श० ब्रा० ३।८।४।७) इस प्रकार एक बचन के श्रवण होने से भी यही अर्थ अभीष्ट प्रतीत होता है।

६–तानूनप्त्राज्य

यह भी संस्कारित आज्य विशेष ही है। ध्रुवा के आज्य से पांच बार तानूनप्त्र मन्त्रों से अध्वर्यु आज्य को ग्रहण करता है। देखकर, सूंघकर, उस पात्र का जल से स्पर्श कराकर यज्ञशाला के उत्तर भाग में रखता है। वह आज्य तानूनप्त्र कहा जाता है।

७,८–आमिक्षा या पयस्या तथा वाजिन

आमिक्षा तथा दधि के लिए यज्ञ के पहले दिन सायंकाल गाय को दुहकर उससे दही बनाते हैं। प्रातःकाल दुहे गये दूध को गर्म करके उसमें दही मिलाया जाता है। इस तरह उस गर्म दूध में जो घनीभूत भाग होता है उसे आमिक्षा या पयस्या तथा जो जल रूप (तरल) भाग होता है उसे वाजिन कहते हैं। शतपथ-ब्राह्मण में पयस्या को योषा तथा वाजिन को रेतस् बताया गया है। पयस्या को मित्र तथा वरुण देवता के लिए देने का विधान है। चातुर्मास्ययाग के अंतर्गत वैश्वदेव पर्व में विश्वेदेवों के लिये, वरुणप्रघास पर्व में वरुण और मरुत् देवता के लिए इसे देने का विधान है।

पशुओं का आलम्भन करके प्राप्त हविर्द्रव्यों में वपा, मांस, वसा और रुधिर हैं।

विभिन्न देवताओं के लिए विभिन्न पशुओं का आलम्भन किया जाता था। विशेष देवता के लिए विशेष प्रकार का पशु, साथ ही साथ उनका वर्ण आदि भी देखा जाता था। उदाहरण स्वरूप इन्द्र के लिए बैल और भैंसे का तथा रुद्रवान् अग्नि के लिए काली गर्दन वाले बकरे (अज) का विधान है। मरुतों के लिए चितकबरी गाय या कोई चितकबरा पशु दिया जाता था। अश्विनों के लिए लाल बकरा दिया जाता था। मित्र और वरुण के लिए बाँझ गाय का आलम्भन होता था। प्रजापति के लिए कालापशु, तथा सरस्वत् देवता के लिए मेष (भेंड़) का विधान किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में सरस्वत् देवता के लिए गलस्तन से युक्त अवि के आलम्भन का संकेत मिलता है। इसी प्रकार अश्वमेधयाग के प्रसंग में अनेक पशुओं के नाम गिनाये गये हैं। यह शंका हो सकती है कि पशुओं के आलम्भन में उनके वर्ण का क्या प्रयोजन हो सकता है? विभिन्न प्रयोजन के लिये पशुओं के विभिन्न वर्णों का भी औचित्य है जैसे

ऐश्वर्य के लिए इच्छुक व्यक्ति को वायु देवता के लिए श्वेत पशु (छाग) का आलभन करना चाहिए ।

जो यजमान अधिक पशु प्राप्त करना चाहता हो, उसे चितकबरे स्त्री-पशु का आलम्भन करना चाहिए। वृष्टि चाहने वाला यजमान प्रजापति के लिए काला पशु दे । वह पशु अनेक वर्णों का हो, साथ ही साथ सींगरहित भी हो ।

पशुओं की मृत अवस्था से प्राप्त यागद्रव्य

१—वपा

सम्पूर्ण उदर में व्याप्त शुक्लवर्ण, पोलिका के आकार की एक झिल्ली विशेष को वपा कहते हैं। वपा होम का पाशुक हविर्होमों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुछ विद्वान् वपा को मेद का ही पर्याय मानते हैं किन्तु यह धारणा भ्रामक प्रतीत होती है। मेद वपा से भिन्न वस्तु है। शतपथब्राह्मण के एक उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

'अथ वपावद्यन्नाहाग्नीषोमाभ्यां छागस्य वपायै मेदसोऽनुब्रूहि'

अन्य ब्राह्मण गन्थों से भी इसी प्रकार के प्रमाण मिलते हैं ।

२—मांस

पिशित, तरस, पलल, आमिष ये शब्द मांस के पर्याय हैं। पशुयाग में वपा होम के अनन्तर देवताओं को मांस की आहुति दी जाती थी। शेष बचे हुए मांस का ऋत्विज भक्षण करते थे, इसका भी संकेत मिलता है।

३—वसा

पशु से प्राप्त होने वाले रस को वसा कहते हैं। मेद का स्निग्धभाग 'वसा' नाम से अभिहित किया जाता है। अमर सिंह ने वसा को वपा और मेद का पर्याय माना है जो उचित प्रतीत नहीं होता। साधारणतया हम इसे चर्बी कह सकते हैं। बाजसनेयिसंहिता के भाष्य में महीधर ने शुद्धमांस के स्नेह को 'वसा' कहा है। यह भी वपा की तरह महत्त्वपूर्ण वस्तु है, जिसकी आहुति देवताओं को दी जाती थी।

४—रुधिर

लोहित या रुधिर का अर्थ रक्त है। पशु के रुधिर का उपयोग पशुयाग के अन्तर्गत स्विष्टकृद्याग के समय होता था। इसमें राक्षसों का भी भाग लगाया

जाता था। हविर्यज्ञ में जहाँ फलीकरण राक्षसों को दिया जाता था, पशुयाग में उन्हें रक्त दिया जाता था।

(४) दैवप्राप्तयाग द्रव्य

जल

जल ओषधियों का रस है। सने हुए द्रव्यों में जल का प्रयोग होता है। शतपथब्राह्मण में अग्निहोत्र के प्रकरण में याज्ञवल्क्य ने जनक को यह बताया है कि यदि ओषधियों से प्राप्त हविर्द्रव्य न रहें तो वनस्पतियों एवं अरण्य सम्बन्धी पदार्थों के अभाव में जल का ही हवन करना चाहिए। पंचमहायज्ञों में पितृयज्ञ का महत्त्वपूर्ण स्थान है जो जल से विधिवत् सम्पन्न किया जा सकता है।

(५) धातुओं से प्राप्त यज्ञद्रव्य

हिरण्यशकल

स्वर्ण के टुकड़ों का द्रव्य रूप में प्रयोग यज्ञों में मिलता है। इसे आग्नेय कहा गया है। हिरण्य शब्द की व्युत्पत्ति शतपथब्राह्मण में इस प्रकार दी गयी है–

'हिरण्यम् तद्यज्ञस्य प्रजापतेः एतस्यां रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त तस्माद्धि॰ रम्यं हिरण्यं ह वै तद्धिरण्यमित्याचक्षते परोक्षम्।

—शतपथब्राह्मण ७।४।१।१६

याग से सम्बन्धित उपर्युक्त द्रव्यों का हवन खड़े होकर किया जाता है।

(घ) अर्हणीय द्रव्य

जिन द्रव्यों से पूज्यों का आदर-सत्कार किया जाता है, वे द्रव्य अर्हणीयद्रव्य कहे जाते हैं। इनमें विष्टर (आसन), अर्घ्य, आचमनीय, मधुपर्क आदि हैं।

(१) विष्टर—दर्भासन को ही विष्टर कहते हैं।

(२) अर्घ्य—जल ही अर्घ्य है।

(३) आचमनीय—आचमन के लिए जो जल दिया जाता है उसे आचमनीय कहते हैं।

(४) मधुपर्क—मधु से युक्त दधि, दूध अथवा अन्न को मधुपर्क कहते हैं। सत्तू के तीन प्रकार हैं और विकल्प से इन्हें भी 'मधुपर्क' कहते हैं। दधि-मिश्रित सत्तू को 'दधिमन्थ', मधुमिश्रित सत्तू को 'मधुमन्थ', तथा जलमिश्रित सत्तू को 'उदमन्थ' कहते हैं।

(ङ) दक्षिणा द्रव्य

शतपथब्राह्मण में दक्षिणा शब्द की व्युत्पत्ति अधोलिखित है :—

"तं (यज्ञं) देवा दक्षिणाभिरदक्षयंस्तद्यदेनं (यज्ञं) दक्षिणाभिरदक्षयंस्तस्माद्दक्षिणा नाम।"

कौषीतकिब्राह्मण में भी इसी प्रकार की व्युत्पत्ति मिलती है।

'तद्यद्दक्षिणाभिर्यज्ञ दक्षयति तस्माद्दक्षिणा नाम'।

देवता दो प्रकार के होते हैं। एक देव तथा दूसरे मनुष्यदेव। यज्ञ सम्पादक ब्राह्मण ही मनुष्य देव हैं।

देवों की दक्षिणा आहुतियों को देकर पूरी कर दी जाती है। मनुष्यदेवों को रुपयों, गायों, बैलों, अश्वों, रथों और वस्त्रों के रूप में दक्षिणा दी जाती है।

बड़े यज्ञों में जिनमें सोलह ऋत्विजों के द्वारा यज्ञ सम्पादित होता है, उन ऋत्विजों को चार श्रेणी में रखा जा सकता है—

१—होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा।

२—प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, ब्राह्मणाच्छंसी।

३—अच्छावाक्, नेष्टा, प्रतिहर्ता, अग्नीत्।

४—ग्रावस्तोता, उन्नेता, सुब्रह्मण्य, पोता।

उपर्युक्त चतुर्वर्गों में प्रथम वर्ग के ऋत्विजों को पूर्ण दक्षिणा दी जाती है। द्वितीय वर्ग के ऋत्विज प्रथम दक्षिणा की अपेक्षा अर्ध दक्षिणा प्राप्त करते हैं। तृतीय वर्ग के ऋत्विज प्रथम दक्षिणा का तृतीयांश तथा चतुर्थ वर्ग के ऋत्विज प्रथम दक्षिणा का चतुर्थांश प्राप्त करते हैं।

(८) यज्ञ में प्रयुक्त पात्रों एवं उपकरणों का सामान्य परिचय

(क) हविर्यज्ञों में प्रयुक्त पात्र एवं उपकरण

हविर्यज्ञों में पत्थर, धातु, मृत्तिका, लकड़ी, मांस, नरकुल, घास, चर्म के बने जिन पात्रों का उपयोग होता है उन्हें कई वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१ मन्थनपात्र

२ स्रुक्पात्र

३ यज्ञायुधपात्र

४ स्थाली पात्र

५ उपयोजनपात्र (सयुक्त पात्र)

६ मन्थनपात्र

अग्निमन्थनपात्र के अवयवों में अधरारणि, उत्तरारणि, देवयोनि, प्रमन्थ, चात्र, उपमन्थ या ओविली हैं।

अधरारणि-अग्निमंथन के लिए नीचे रखी जाने वाली लकड़ी को अधरारणि कहते हैं। यह शमी वृक्ष के ऊपर उगे हुए पीपल की लकड़ी से बनी होती है। चौबीस अंगुल लम्बी, छः अंगुल चौड़ी, चार अंगुल मोटी (या ऊँची) होती है। इसके बीच में अग्नि मंथी जाती है, इसके मध्य भाग को 'देवयोनि' कहते हैं।

उत्तरारणि—(ऊपर रखी जाने वाली लकड़ी)—यह भी अधरारणि के नाप की होती है। उत्तरारणि में छोटे-छोटे टुकड़े लगे होते हैं। एक उत्तरारणि में कई प्रमन्थ होते हैं। प्रमन्थ चात्र में लगा होता है। चात्र अथवा मन्थ खदिरकाष्ठ का बना होता है जो द्वादश अंगुल लम्बा होता है। प्रमन्थ का अन्तिम भाग देवयोनि में रखा जाता है। ऊपर का भाग उपमन्थ जो कि उत्तरारणि में लगा होता है, अधरारणि के ऊपर बिलकुल समानान्तर होता है। उपमन्थ को ही 'ओविली' भी कहते हैं। यह खदिरकाष्ठ का बना होता है तथा द्वादश अंगुल लम्बा होता है। अग्निमन्थन के समय एक व्यक्ति उपमन्थ को हाथ से पकड़ता है, दूसरा मन्थ को घुमाता है। जिसमें प्रमन्थ लगा होता है, उसको वह एक रस्सी की सहायता से घुमाता है जो (रस्सी) गाय की पूछ के बालों की या सन की बनी होती है। छिद्रों में से एक में मन्थ का ऊपरी भाग डाल दिया जाता है और दोनों किनारे दोनों हाथों से पकड़े जाते हैं।

(२) स्रुक् पात्र

स्रुक् पात्रों में (जिन्हें चम्मच कहा जा सकता है) स्रुव, ध्रुवा, जुहू, उपभृत् तथा अग्निहोत्रहवणी हैं।

१—स्रुव—यह खदिरकाष्ठ का कभी-कभी उदुम्बर (गूलर) की लकड़ी का भी बनता है। लम्बाई एक अरत्नि अथवा एक बाहु के बराबर होती है। इसका मुख अंगुष्ठपर्व के वृत्त के बराबर होता है। आज्य (घी) का स्रवण करने के कारण इसकी स्रुव संज्ञा है।

२—ध्रुवा—यह विकंकतकाष्ठनिर्मित होती है तथा जुहू के समान होती है। होमादि के लिए स्रुव के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले आज्य का आधार होती है। यज्ञ की समाप्ति तक वेदी पर एक स्थान पर स्थिर रहने के कारण इसे ध्रुवा कहते हैं। पाणि के बराबर इसका मुख होता है तथा बाहु के बराबर एक दंड लगा रहता है।

३—जुहू—यह पलाशकाष्ठ की बनी होती है। इसके द्वारा हवन किया जाता है इसलिए इसे 'हूयतेऽनया' इस व्युत्पत्ति से जुहू कहते हैं। इसका भी मुख पाणि के बराबर होता है तथा दंड बाहु के बराबर।

४—उपभृत्—यह अश्वत्थ (पीपल) के काष्ठ की बनती है। बाहु के बराबर दण्ड होता है। हंसमुख के समान पाणि के बराबर इसका मुख होता है। यह जुहू के समीप रखी जाती और 'उपसमीपे—भ्रियते ध्रियते' इस व्युत्पत्ति से इसे उपभृत् कहते हैं।

५—अग्निहोत्रहवणी—यह विकंकत काष्ठ की बनी हुई होती है। एक अरत्नि अथवा एक बाहु के परिमाण वाली तथा हंसमुखी होती है। जुहू के ही समान इसका भी आकार होता है।

(३) आयुध पात्र

इस वर्ग के पात्रों का नाम आयुध इसलिए रखा गया है कि ब्राह्मणग्रन्थ में अधिकतर पात्र विशेष प्रकार के आयुध कहे गये हैं। इस वर्ग में स्फ्य, कपाल, शूर्प, शम्या, कृष्णाजिन, उलूखल, मुसल, दृषद् और उपल हैं।

१—स्फ्य—यह खदिर काष्ठ से बनता है। एक अरत्नि या बाहु के नाप का, तीन प्रकार के आकार वाला होता है। चार अंगुल चौड़ा जिसमें चार अंगुल पकड़ने का दंड भी लगा होता है। यह वेदी के उद्धनन् में तथा रेखा खींचने के लिए प्रयुक्त होता है। यह लकड़ी की तलवार है जिसका अग्र भाग तेज होता है। इसे वज्र भी कहा गया है।

२—कपाल—मृत्तिकानिर्मित, ब्राह्मण या क्षत्रिय अथवा वैश्य के हाथ से बनाये गये तथा लौकिक अग्नि में पके हुए होते हैं। घोड़े के टाप के आकार वाले, दो अंगुल मोटे, पुरोडाश सेंकने के लिए बनाये जाते हैं। ये कपाल संख्या में प्रायः ८ या ११ होते हैं, वृत्त रूप में रखे जाते हैं, व्यास छः अंगुल होता है।

३—शूर्प—यह बांस अथवा नरकुल का बना होता है, तथा चमड़े से बंधा

होता है जिसका परिमाण एक अरत्नि होता है। यह व्रीहि और यव के तुष-निरसन के लिए प्रयुक्त होता है।

४–शम्या-यह खदिरकाष्ठ की बनी होती है। ३६ अंगुल लम्बी, एक ओर मोटी, दृषद् के सिर को उठाने के लिए उसके नीचे रखी जाती है। यज्ञ कर्म के समय इससे दृषद् और उपल को खटखटाते हैं।

५–कृष्णाजिन-कृष्णसारमृग का चर्म जो गर्दन सहित, सिर के भाग सहित तथा चारों पैरों के साथ होता है। यव और व्रीहि के कंडन के समय उलूखल के नीचे रखा जाता है।

६–उलूखल-यह वरण, पलाश या उदुम्बर की लकड़ी से निर्मित होती है जिसकी उँचाई द्वादश अंगुल होती है। व्रीहि और यव को कूटने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। शतपथब्राह्मण में उलूखल शब्द की व्युत्पत्ति अधोलिखित है——

(प्रजापतिरब्रवीत्) उरु में करदिति तस्मादुरुकरमुरुकरं ह वै तदुलूखल-मित्याक्षते परोऽक्षम्।'

७–मुसल-यह खादिरकाष्ठ या वरण काष्ठ अथवा अन्य किसी यज्ञिय वृक्ष की लकड़ी का बना होता है। ३६ अंगुल लम्बा तथा उलूखल में व्रीहि और यव के कंडनार्थ इसका उपयोग होता है।

८–दृषद्-यह पत्थर की बनी होती है तथा इसका परिमाण एक प्रादेश, एक अरत्नि अथवा इच्छानुसार हो सकता है। इससे चावल और जौ पीसे जाते हैं।

९–उपल-पाषाण निर्मित होता है, पीसने के लिए इसका उपयोग होता है। उपल और उपर को एक नहीं कहा जा सकता। दृषद् और उपल चावल को पीसाने के काम आते हैं जब कि उपर और ग्रावा सोम को कूटने के काम आते हैं।

(४) स्थालीपात्र

१–आज्यस्थाली-यह भी मृत्तिकानिर्मित अथवा धातुनिर्मित होती है जिसमें आज्य रखा जाता है। इसका विस्तार द्वादश अंगुल तथा ऊँचाई एक प्रादेश अथवा विस्तार और ऊँचाई इच्छानुसार कर सकते हैं।

२–चरुस्थाली-यह मिट्टी अथवा उदुम्बर की लकड़ी की बनी होती है। यह आज्यस्थाली की भाँति होती है। इसका मुख बड़ा नहीं करना चाहिए।

३–अन्वाहार्यस्थाली-यह काँसे या तांबे की बनी होती है। इसमें अन्वाहार्य ओदन पकाया जाता है इसलिए इसे अन्वाहार्यस्थाली कहते हैं। विस्तार इच्छानुसार किया जा सकता है।

४–पिष्टोद्वपनी-इसमें पिष्ट (पिसे हुए पदार्थ) रखे जाते हैं।

५–इडापात्री-कुछ आचार्यों के मतानुसार यह विकंकत काष्ठ की बनी होती है तथा एक अरत्नि के परिमाण वाली होती है। अन्य आचार्यों के मतानुसार पीपल के वृक्ष की लकड़ी से बनी होती है। द्वादश अंगुल के नाप वाली, छिद्र रहित, चार अंगुल चौड़ी तथा चार अंगुल लम्बे दण्ड से युक्त होती है। हवन की हुई हवि के शेष से काट कर पात्री पर जो भाग रखा जाता है उसे इडा कहते हैं। इडा का आधार होने के कारण इस पात्री को इडापात्री कहते हैं।

६, ७–यजमानपात्री तथा यजमानपत्नीपात्री-ये पात्रियाँ यजमान तथा उसकी पत्नी के लिए बनायी जाती हैं।

८–प्रणीतापात्र-यह पीपल अथवा वरणकाष्ठ का बना होता है। इसका परिमाण एक प्रादेश (साढ़े दस अंगुल) होता है। आठ अंगुल के बिल वाला तथा चार अंगुल के दण्ड से युक्त होता है। इसके द्वारा प्रणीता नाम वाले जल का आहरण किया जाता है इसलिए इसे प्रणीतापात्र कहते हैं।

९–प्रोक्षणीपात्र-विकंकत काष्ठ का बना हुआ, एक हाथ लम्बा, हंसमुख, तथा चार अंगुल के बिल वाला होता है। पात्रों के प्रोक्षणार्थ इसमें जल रखा जाता है।

१०–फलीकरण पात्र-पीपल के काष्ठ का बना होता है, चावल तथा जौ को कूटते समय निकलने वाली भूसी यज्ञपर्यन्त इसमें रखी जाती है क्योंकि याग के अनन्तर दक्षिणाग्नि में जुहू से ग्रहण किये गये आज्य के साथ इसका होम होता है। राक्षसों का भाग भी इसी में होता है।

११–मदन्ती-यह धातु निर्मित होता है। भर्जनपात्री के अधिश्रयण के समय जो जल का पात्र रखा जाता है, उसमें रखा गया जल 'मदन्ती' कहा जाता है। मदन्ती जल जिस पात्र में संतप्त होता है, वह पात्र भी लक्षणा से मदन्ती कहा जाता है।

(५) उपयोजनपात्र (संयुक्त पात्र)

इस वर्ग के अन्तर्गत प्राशित्रहरण, श्रृतावदान, मेक्षण, दर्वी, घृष्टि, उपवेष,

अभ्रि, कूर्च, परिधि, अन्तर्धानकट, वेद, पवित्र, विधृति, प्रस्तर, बर्हि, यौक्य, इध्म तथा शाखा हैं।

१-प्राशित्रहरण-यह खदिरकाष्ठ या विकंकत काष्ठ से निर्मित होता है। प्रादेश परिमाण वाला, ऐनक या चमस अथवा गाय के कर्ण के आकार का होता है। चार अंगुल दण्ड से युक्त होता है। हवन करने से शेष बचा हुआ हविर्भाग जो ब्रह्मा को दिया जाता है, वह प्राशित्र कहा जाता है। वह प्राशित्र इस पात्र से ले जाया जाता है इसलिए इसे प्राशित्रहरण कहते हैं।

२-श्रृतावदान-यह विकंकत काष्ठ निर्मित, एक प्रादेश लम्बा, मुख बड़ा तथा अंगुष्ठ के पर्व के बराबर आगे तेज होता है। इसके द्वारा पकाया हुआ अन्न काटा जाता है इसलिए इसे श्रृतावदान कहते हैं।

३-मेक्षण एक मत से विकंकत काष्ठ का बना होता है तथा प्रादेश मात्र लम्बा होता है। दूसरे मत से पीपल के वृक्ष की लकड़ी का बना होता है तथा एक अरत्नि लम्बा होता है। अग्रभाग चार अंगुल चौकोर फलक से युक्त होता है। इसके मूल में दंड लगा होता है। भर्जनपात्रों में रखे गये पिष्ट को मदन्ती जल से मिलाने में इसका उपयोग होता है। चरु पकाने के कारण इसे चरुमेक्षण कहते हैं।

४—दर्वी—यह वरणकाष्ठनिर्मित, एक अरत्नि लम्बी तथा मेक्षण के सदृश होती है। ब्रह्मौदन (ब्राह्मणों को खिलाये जाने वाले भात) को निकालने के लिए इसका उपयोग होता है।

३—घृष्टि—यह भी मेक्षण के समान ही होता है। कपालोपधान के लिए गार्हपत्य से अंगारों को निकालने में इसका उपयोग होता है।

६—उपवेष—इसके आकार के विषय में दो मत हैं—प्रथम मत के अनुसार पलाशकाष्ठनिर्मित, प्रादेश मात्र घृष्टि के आकार का होता है। बछड़ों को गायों से अलग करने के लिए जिस शाखा का प्रयोग किया जाता है उसके पत्तों को अलग करके उसी का उपवेष बनाया जाता है। दूसरे मत के अनुसार खदिरकाष्ठ अथवा विकंकतकाष्ठ निर्मित तथा हाथ के आकार का होता है। सान्नाय्य के संस्कार के समय गार्हपत्य से अंगारों को उत्तर की ओर ले जाने के लिए इसका उपयोग होता है।

७—अभ्रि—खदिर, विकंकत, वरण अथवा उदुम्बरकाष्ठ निर्मित होती है। यह एक अरत्नि लम्बी, तीक्ष्ण मुख वाली होती है। इसका उपयोग वेदी के खोदने में होता है। इसके दोनों ओर से तथा एक ही ओर से भी ज़मीन खोदी जाती है।

८—**कूर्च**—यह कुशनिर्मित, एक बाहु लम्बा, मकर के आकार का, पात्रों को स्वच्छ करने के लिए उपयुक्त होता है।

९—**परिधि काष्ठ**—बाहु की लम्बाई के पलाशकाष्ठ के तीन इध्मकाष्ठों की परिधि सञ्ज्ञा होती है। इन्हें आहवनीय के पश्चिम, दक्षिण तथा उत्तर वेदी की प्रथम मेखला के ऊपर रखा जाता है। तीन ओर से इध्म काष्ठ तथा पूर्व की ओर से सूर्य की कल्पना करके परिधि मान लिया जाता है। इसी कारण इन इध्म काष्ठों को परिधि कहते हैं।

१०—**अन्तर्धानकट**—यह पीपल अथवा विकंकतकाष्ठनिर्मित होता है। द्वादश अंगुल अर्ध चन्द्राकार, कुछ उठे हुए सिर वाला होता है। गार्हपत्य में अध्वर्यु पत्नी सयाज सम्पन्न करता है। उस समय वहाँ पर बुलायी गयी देवपत्नियों को छिपाने के लिए इसे आहवनीय और गार्हपत्य आयतन के बीच रख दिया जाता है।

११—**पवित्र**—दर्भ को पवित्र कहते हैं। प्रादेशमात्र लम्बे, प्रोक्षण कर्म करने के कारण इनकी पवित्र संज्ञा है। इसमें दो दल होना आवश्यक है, दो दर्भ होना आवश्यक नहीं है क्योंकि एक दर्भ भी पवित्र संज्ञक होता है।

१२—**वेद**—दर्भ की एक मुष्टि को वेद कहते हैं। यह दोहरा करके एक प्रादेश के बराबर कर लिया जाता है। जो बछड़े के जानु के सदृश होता है। इसका अग्रभाग कटा होता है। समन्त्रक वेदी के सम्मार्जन में प्रयुक्त होने के कारण इसे वेद कहते हैं।

१३—**विधृति**—पूर्णमास तथा दर्श में वेदी में दो दर्भ उत्तर की ओर अग्र-भाग करके रखे जाते हैं, उन दोनों की विधृति संज्ञा होती है।

१४—**प्रस्तर**—मन्त्र से संस्कार किये गये एक मुष्टि दर्भ उपर्युक्त विधृतियों के ऊपर पूर्व की ओर अग्रभाग करके रखा जाता है और उस पर जुहू रखी जाती है। उस एक मुष्टि दर्भ को प्रस्तर कहते हैं।

१५—**बर्हि**—वेदी पर फैलाने के लिए तीन मुष्टि दर्भ होते हैं जिन्हें बर्हि कहते हैं। बर्हि प्रस्तरण करके हविष्पात्र रखे जाते हैं। इस तरह वेद, पवित्र, विधृति, प्रस्तर तथा बर्हि दर्भों की ही अवस्था विशेष हैं।

१६—**योक्त्र**—यह मूंज की मेखला है जो तीन पर्त वाली होती है। यज्ञ करते समय अध्वर्यु के द्वारा भेजा गया अग्नीत् मन्त्र पूर्वक यजमान पत्नी के कटि प्रदेश में बाँधता है।

१७—**इध्म**—इध्म काष्ठों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :-

१—परिधि—जिनका वर्णन किया जा चुका है।

२—समिध—अष्टादश काष्ठों की समित् संज्ञा होती है। दो काष्ठ आहवनीय में रखे जाते हैं, एक अनुयाज के लिए होता है, पंचदश काष्ठों की सामिधेनी लकड़ियाँ होती हैं। ये लकड़ियाँ एक अंगुष्ठ के बराबर मोटी होती हैं, छाल सहित, एक प्रादेश के परिमाण वाली, द्विशाखाहीन तथा पर्णरहित होनी चाहिए। इस तरह तीन परिधियाँ तथा अष्टादश इन्धनार्थ लकड़ियाँ मिलकर इक्कीस हुईं।

१८—**शाखा**—यजमान के व्रतोपायन करने पर अध्वर्यु पूर्व, उत्तर अथवा ईशान दिशा की ओर जाकर पलाश अथवा शमी की, पूर्व की अथवा पश्चिम की या ईशानकोण की शाखा को कुल्हाड़ी से समन्त्रक काट कर विहार में ले आता है जिसे शाखा कहते हैं।

१९—**शकट**—व्रीहि और यव को ले जाने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। यह खदिर अथवा अन्य यज्ञियकाष्ठनिर्मित होती है। इसके अधोलिखित भाग हैं—

१—**अक्ष**

२—**ईषा**—बगल में लगने वाले दो बांस

३—**युग**—जुआं

४—**चक्र**—दो पहिये

५—**युगकीलक या युगशम्या**—जुआं में लगने वाली कीलें

६—**अक्षशम्या**—अक्ष में लगने वाली कीलें

७—**प्रउग**—ईषादण्ड के मध्य का भाग प्रउग कहलाता है।

८—**नीड**—नीड वह भाग है जिसमें अन्न रहता है

९—**कस्तम्भी**—खदिर काष्ठ की दो लकड़ियाँ, एक खड़ी लकड़ी पर दूसरी लकड़ी बंधी होती है। शकट को खड़ा करने में इसका उपयोग होता है। दर्शपूर्णमास इष्टियों के अन्तर्गत इसका उपयोग होता है।

(६) आसन

ब्रह्मा का आसन विकंकत काष्ठ से निर्मित, एक हाथ लम्बा तथा एक हाथ चौड़ा होता है। यजमान का आसन, पत्नी का आसन, अध्वर्यु का आसन, होता का आसन, अग्नीत् का आसन एक-एक अरत्नि के परिमाण के होते हैं।

ब्रह्मवरण के लिए ब्रह्मा तथा यजमान के लिए दो आसन विहार के उत्तर में रखे जाते हैं।

ब्रह्मा तथा यजमान के बैठने के लिए आहवनीय के दक्षिण में दो आसन होते हैं।

अध्वर्यु के लिए एक आसन गार्हपत्य के उत्तर में तथा एक आसन आहवनीय के उत्तर में रखा जाता है।

८—(ख) सोम यज्ञ में प्रयुक्त होने वाले पात्र एवं उपकरण

सोम यज्ञ में सहायक पात्रों को अधोनिर्दिष्ट वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

१—अधिषवण सम्बन्धी एवं पूतसोम के रक्षकपात्र

२—अग्निहरण सम्बन्धी पात्र

३—संस्कार तथा गणना सम्बन्धी पात्र

४—आसन

५—पशुबन्धनार्थ एवं पशुमारण आदि में सहायक उपकरण

६—चमस

७—ग्रह (प्याला)

८—आज्य धारण सम्बन्धी पात्र

(१) अधिषवण सम्बन्धी एवं पूतसोम के रक्षक पात्र

१—**उपर**—यह पात्र दृषद् के आकार का होता है, केवल नाम में भेद है।

२—**ग्रावा**—यह ऊपर नुकीला होता है। इन दोनों का उपयोग सोम कूटने के लिए होता है।

३—**अधिषवणफलक**—सोम जब लता रूप में रहता है तब उसे पहले इन्हीं दोनों फलकों के बीच में रखकर सोम को दबाया जाता है। ये दोनों फलक उदुम्बर, काश्मर्य या पलाश की लकड़ी के बने होते हैं।

४—**परिषेचनघट**—उत्तरवेदी पर छिडके जाने वाला जल इसमें रखा जाता है।

५—**एकधनाघट**—इस घट में जो जल रहता है उससे सोम को बढ़ाया जाता है।

६—**आधवनीयघट**—सोम रस को साफ करने के लिए इस घट में कूटे गये सोम को बिना छाने हुए ही डाल दिया जाता है। नीचे छिद्र के द्वारा सोम बूंद-बूंद करके गिरता है और दूसरे घट में साफ सोम एकत्र होता है।

७-**पूतभृत्**-इसमें तैयार किया हुआ सोमरस रखा जाता है।

८-**बसतीवरीघट**-इसका उपयोग बसतीबरी जल को रखने में किया जाता है।

(२) अग्निहरण सम्बन्धी पात्र

उखा-यह या तो वृत्ताकर होती है या वर्गाकार होती है तथा ऊंचाई एक प्रादेश होती है।

(३) संस्कार तथा गणना सम्बन्धी पात्र

१-दण्ड-(दीक्षादण्ड) दीक्षित (जिसका दीक्षा संस्कार हो चुका है) की रक्षा के लिए एक उदुम्बर का दण्ड होता है जो भूमि से दीक्षित पुरुष की दाढ़ी तक या उसके मुख तक लम्बा होता है।

२-**विष्टुती**:-ये उदुम्बर वृक्ष की प्रादेश की नाप वाली कई लकड़ियां होती हैं जिनका उपयोग स्तोत्रों की गणना के लिए होता है। एक स्तोत्र का पाठ हो जाने पर बगल में एक लकड़ी को रख दिया जाता है जिससे स्तोत्रों की संख्या का ठीक-ठीक पता चल जाता है।

(४) आसन—(आसन्दी)

इनकी संख्या चार होती है। इनका उपयोग बैठने के लिए किया जाता है। ये छोटी-छोटी चारपाइयों की तरह होती हैं।

१—**राजासन्दी**—यह उदुम्बर की लकड़ी की बनी होती है। इस पर सोम रखा जाता है। इसके चारों पाये नाभि तक उँचे होते हैं। यह मूंज की रस्सी से बुनी हुई होती है।

२—**सम्राडासन्दी**—इसका उपयोग महावीर पात्र के आसादनार्थ किया जाता है। मूंज की रस्सियाँ एक ही ओर लगी होती हैं। इसके पाये घुटने तक ऊंचे होते हैं।

३—**यजमानसन्दी**—यजमान इस पर बैठकर स्नान करता है। यह राजासन्दी के समान ही होती है। इसका उपयोग उखा के आसादनार्थ होता है।

४—**उखासन्दी**—यह या तो मूँज से निर्मित होती है अथवा इसमें लकड़ी का तख्ता लगा होता है। राजासन्दी की तरह इसमें भी एक अरत्नि आसन से ऊपर पाये उठे रहते हैं।

(५) पशुबन्धनार्थ एवं पशुमारण आदि में सहायक उपकरण

१—**यूप**—यह खदिर, पलाश या विल्व वृक्ष की लकड़ी से निर्मित होता है। इसमें याज्ञिक पशु बाँधे जाते हैं। इसकी लम्बाई ३ या ४ अरत्नि होती है।

२—**वपाश्रपणी**—यह काश्मर्य की लकड़ी की बनी होती है जिसमें प्रायः दो शूल होते हैं। पुणे मीमांसा विद्यालय में रखी हुई वपाश्रपणी त्रिभुजाकार है जिसमें सात शूल हैं। इन्ही कीलों पर रखकर वपा को भूनते हैं।

३—**शफौ** (दो शफ)—ये उदुम्बर काष्ठ के बने होते हैं। इनका उपयोग गर्म महावीर पात्र को पकड़ने तथा ले जाने के लिए किया जाता है।

(६) चमस

इन्हें 'चम्मच' कहा जा सकता है जो संख्या में लगभग त्रयोदश हैं।

१—**तानूनप्त्र चमस**—यह वरणकाष्ठनिर्मित, एक प्रादेश के परिमाण का होता है जिसमें तीन अंगुल लम्बा दण्ड लगा रहता है। यह ६ अंगुल चौड़ा तथा ४ अंगुल गहरे मुँह वाला होता है।

२—**होतृचमस**—यह न्यग्रोध (वट वृक्ष) की लकड़ी से बनता है। दण्ड में चक्र का चिन्ह रहता है।

३—**ब्रह्म चमस**—इसका दण्ड चौकोर होता है।

४—**उद्गातृ चमस**—इसका दण्ड त्रिकोण होता है।

५—**यजमान चमस**—इस चमस का दण्ड चारों ओर चौड़ा होता है।

६—**प्रशास्तृ चमस**—इसका दण्ड नीचे कटा होता है। पुणे में रखे गये इस चमस का दण्ड ऊपर से नीचे की ओर झुका है।

७—**ब्राह्मणाच्छंसी चमस**—इसका दण्ड ऊपर कटा होता है।

८—पोतृ **चमस**—इसका दण्ड पीछे से कटा होता है।

९—**नेष्टृ चमस**—इस चमस का दण्ड नीचे की ओर झुका होता है।

१०—**अच्छावाक चमस**—इसका दण्ड एक रस्सी से बँधा होता है।

११—**आग्नीध्र चमस**—इसका दण्ड बेलनाकार होता है।

१२—**सदस्य चमस**—इसका दण्ड ऊपर से नीचे मुड़ा होता है।

१३—**वाजिन चमस**—यह न्यग्रोध अथवा रोहितक की लकड़ी से निर्मित होता है। इसका दण्ड होतृ चमस के दण्ड की ही भाँति होता है किन्तु चक्र के चिह्न से चिह्नित नहीं होता है।

(७) ग्रह

इनका प्रयोग सोमयाग में होता है।

१—**उपांशु ग्रह**—यह विकंकत काष्ठ अथवा किसी भी यज्ञिय वृक्ष की लकड़ी से निर्मित होता है। एक प्रादेश लम्बा, मध्य भाग से नीचे की ओर पक्षी के चंचु की तरह बना रहता है। इसकी गहराई इच्छानुसार होती है।

२—**अन्तर्याम ग्रह**—यह भी उपांशुग्रह की ही भाँति होता है।

३—**ऐन्द्रवायव्य ग्रह**—इसके मुख के पास एक रशना लगा दी जाती है।

४—**मैत्रावरुण ग्रह**—इसमें बकरी के दो चूचक लगा दिये जाते हैं।

५—**आश्विन ग्रह**—यह द्विकोण होता है।

६—**शुक्रग्रह**—इसका भी आकार उपांशुग्रह की ही भाँति होता है।

७—**मन्थि ग्रह**—यह विकंकत की लकड़ी का बना होता है।

८—**ऋतुपात्रग्रह**—यह पीपल की लकड़ी का बना होना है। इसके नीचे अश्व के टाप के आकार का काष्ठ लगा होता है। इसमें एक दूसरे के विपरीत दो चंचु लगे होते हैं।

९—**प्रतिप्रस्थातृऋतुपात्र ग्रह**—यह भी ऋतुपात्र ग्रह के ही समान होता है।

१०—**उक्थ्यग्रह**—
११—**अतिग्राह्य ग्रह**— } उपर्युक्त ग्रह की भाँति ये दोनों ग्रह होते हैं।

१२—**दधि ग्रह**—उदुम्बरकाष्ठनिर्मित तथा चौकोर होता है।

१३—**अश्वदाभ्य ग्रह**—यह दधिग्रह के समान होता है।

१४—**आदित्य ग्रह**—इसका आकार अंशुग्रह की तरह होता है।

१५—**षोडशी ग्रह**—यह खदिरकाष्ठनिर्मित तथा चौकोर होता है।

(८) आज्यधारण सम्बन्धी पात्र

महावीर पात्र—मृत्तिकानिर्मित, प्रादेशमात्र ऊंचा, आठ अंगुल चौड़ा, बीच में तीन या पांच उभाड़ों से युक्त होता है। किनारा उन्नत होता है तथा दूध की धार गिराने के लिए इसमें एक चंचु लगी होती है। यह वायव्य ग्रह के अनुरूप ही होता है।

(९) यज्ञ-सम्पादक पुरुष

यज्ञ के सम्पादन में सहायक पुरुषों को तीन श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) प्रधान पुरुष

(ख) ऋत्विक् पुरुष

(ग) अनृत्विक् पुरुष

(क) प्रधान पुरुष—इस श्रेणी के अन्तर्गत यजमान, यजमान पत्नी और पुरोधा आते हैं। किसी कारणवश यजमान की अनुपस्थिति में जो कार्य करता है उसे पुरोधा कहते हैं। अन्य ऋत्विजों के समान इसे भी दक्षिणा दी जाती है फिर भी इसे ऋत्विजों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि यजमान की उपस्थिति में इसकी आवश्यकता नहीं होती।

(ख) ऋत्विक् पुरुष—बड़े यज्ञों में इनकी संख्या सोलह होती है। मुख्य रूप से चार ही ऋत्विज होते हैं तथा चारों के तीन-तीन अन्य सहायक होते हैं। इस प्रकार उनकी संख्या सोलह हो जाती है। इन ऋत्विजों के अधोलिखित चार वर्ग हैं :—

१—होता, (ऋग्वेदीय)	अध्वर्यु, (यजुर्वेदीय)	उद्गाता, (सामवेदीय)	ब्रह्मा (अथर्ववेदीय)
२—प्रशास्ता,	प्रतिप्रस्थाता,	प्रस्तोता,	ब्राह्मणाच्छंसी
३—अच्छावाक्,	नेष्टा,	प्रतिहर्ता,	अग्नीध्र
४—ग्रावस्तोता,	उन्नेता,	सुब्रह्मण्य,	पोता

(ग) अनृत्विक् पुरुष—ये वेदी के बाहर कार्य करने वाले होते हैं। इनमें सदस्य, सोम प्रवाक तथा परिकर्मी हैं। सदस्य को सभासत्, सभास्तार, सभ्य तथा सामाजिक कहते हैं।

यज्ञ के अंग कर्मों को परिकर्म कहते हैं। उन कर्मों के सम्पादनार्थं परिकर्मी की नियुक्ति होती है।

(१०) यज्ञों का स्वरूप निरूपण

(यज्ञों की संख्या के विषय में मतभेद)

(क) प्रथम मत—(यज्ञ के पाँच प्रकार)

(१) कुछ याज्ञिक आचार्यों के मतानुसार यज्ञ पाँच प्रकार के होते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में उनका उल्लेख हुआ है। वे अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध तथा सोम हैं।

(२) अन्य आचार्य जिनके मत से भी यज्ञ पाँच प्रकार के होते हैं किन्तु प्रथम मत के अनुसार परिगणित किये गये यज्ञों से भिन्न होते हैं वे उन पांचों यज्ञों को इस प्रकार बताते हैं—शिरोयज्ञ, अतियज्ञ, महायज्ञ, हविर्यज्ञ तथा पाकयज्ञ।

(ख) द्वितीय मत—(यज्ञ का एकत्व)

इस मत के अनुसार यज्ञ एक ही है। वही अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि पाँच संस्थाओं में विभक्त है।

(ग) तृतीय मत—(यज्ञ के तीन प्रकार)

अन्य आचार्यों के विचार से इष्टि, पशु और सोम ये यज्ञ के तीन प्रकार हैं।

(घ) चतुर्थ मत—(यज्ञों की इक्कीस संस्थाएँ)

इस मत के अनुसार यज्ञों की इक्कीस संस्थाएँ हैं जिनमें सात पाकयज्ञ संस्थाएँ, सात हविर्यज्ञ संस्थाएं और सात सोम संस्थाएँ हैं जिनका गोपथ ब्राह्मण में विशेष उल्लेख हुआ है।

सात पाक यज्ञ संस्थाओं में सायं प्रातः होम, स्थालीपाक, आग्रयणेष्टि, बलि, पितृयज्ञ, अष्टका और पशुयज्ञ हैं।

सात हविर्यज्ञ संस्थाओं में अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, पौर्णमास, आमावास्य, नवेष्टि, चातुर्मास्य, तथा पशुबन्ध हैं।

अन्य प्रकार से भी सात हविर्यज्ञ संस्थाएँ हैं जिनमें अग्न्याधेय, अग्निहोत्र,

दर्शपूर्णमास, चातुर्मास, निरूढपशुबन्ध, आग्रयणेष्टि और सौत्रामणी इष्टि का परिगणन किया गया है।

सात सोमयज्ञ सस्थाओं में अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, आप्तोर्याम हैं जिन्हें सुत्या भी कहते हैं।

(१) सप्तपाकयज्ञ संस्था

पाक यज्ञ, पाकसाध्य यज्ञ को कहते हैं। हविर्यज्ञ में पुरोडाश का श्रपण होता है किन्तु पाकयज्ञ में चरु पकाया जाता है इसलिए इसे पाकयज्ञ कहते हैं। अथवा पाक का अर्थ स्वल्पकाय भी है, थोड़े श्रम से साध्य होने के कारण इन्हें अल्प कहते हैं। जो छोटे-छोटे यज्ञ होते हैं वे सब पाकयज्ञ के अन्तर्गत आते हैं। इन यज्ञों का सम्पादन एकाग्नि के द्वारा होता है।

जिन यज्ञों में कुछ का सम्पादन हवन किये हुए तथा कुछ का सम्पादन बिना हवन किये हुए होता है, वे सब पाकयज्ञ के अन्तर्गत आते हैं। पाकयज्ञ को ही 'स्मार्तयज्ञ' भी कहते हैं क्योंकि स्मृतियों में इनका बिशद वर्णन मिलता है। गृह्यसूत्रों में विशेषरूप से वर्णित होने के कारण अथवा गृह्याग्नि में सम्पादित होने के कारण इन्हें गृह्ययाग भी कहते हैं।

पाकयज्ञों के प्रकार के विषय में अनेक मत हैं। वे इस भाँति हैं—

प्रथम मत

(अ) पाकयज्ञ के दो प्रकार होते हैं, स्थालीपाक तथा पशुपाक।

(आ) मानवगृह्यसूत्र के अनुसार व्रतचर्या तथा शान्ति कर्म पाकयज्ञ के दो प्रकार हैं।

द्वितीय मत

आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार पाकयज्ञ के तीन प्रकार हैं १—हुत २—प्रहुत ३—ब्रह्मणिहुत।

अग्नि में किये जाने वाले हुत, बिना अग्नि से सम्पादित प्रहुत जैसे बलि-हरण, ब्रह्मयज्ञ आदि। ब्राह्मण भोजन ब्रह्मणिहुत है, जैसे आतिथ्य; पार्वण, श्राद्ध आदि।

तृतीय मत

(क) पारस्करगृह्य सूत्र के अनुसार पाकयज्ञ चार प्रकार के होते हैं।

१—हुन २—अहुत ३—प्रहुत और ४—प्राशित।

होम ही हुत है। जिसमें होम और बलिहरण दोनों होते हैं वह प्रहुत है। ब्राह्मण को भोजन कराना प्राशित है। इनसे भिन्न जो कुछ होता है उसे अहुत कहते हैं।

(ख) शांखायनगृह्यसूत्र के अनुसार भी इन्हीं चार प्रकार के यज्ञों का प्रतिपादन किया गया है। हुत अग्निहोत्र होम से, अहुत बलिकर्म से, प्रहुत पितृकर्म से तथा प्राशित ब्राह्मण भोजन से सम्पादित होते हैं।

चतुर्थ मत

पाकयज्ञ सात प्रकार के होते हैं।

अ—गोपथब्राह्मण में सात प्रकार के पाक यज्ञों का विवरण मिलता है, जिनमें औपासनहोम, स्थालीपाक, नवेष्टि, बलि, पितृयज्ञ, अष्टका तथा पशुयाग परिगणित हैं।

आ—आपस्तम्ब के मतानुसार औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, सर्पबलि तथा ईशानबलि ये सात पाकयज्ञ संस्थाएँ हैं।

इ—बौधायन गृह्यसूत्र के अनुसार सात पाकयज्ञ संस्थाओं में हुत, प्रहुत, अहुत, शूलगव, बलिहरण, प्रत्यवरोहण, तथा अष्टकाहोम हैं।

हुत—जिसमें हवन होता है, जैसे विवाह तथा सीमन्तोन्नयन।

प्रहुत—जहां हवन करके बाद कुछ दिया भी जाता है वह प्रहुत है। जैसे जातकर्म तथा चौलकर्म।

अहुत—जिसमें हवन करके देकर ले भी लिया जाता है उसे अहुत कहते हैं। जैसे उपनयन तथा समावर्तन आदि।

शूलगव—जिस कर्म में शूलपर गाय की वपा का श्रपण (पाककर्म) सम्पादित होता है उसे शूलगव कहते हैं।

बलिहरण—जहां गृह देवताओं के लिए अन्न को विखेर दिया जाया है वह बलिहरण है।

प्रत्यवरोहण—ऋतु के बाद ऋतु में प्रवेश करना प्रत्यवरोहण है।

अष्टकाहोम—एक अष्टका में अन्न को रख कर होम किया जाता है जिसे अष्टकाहोम कहते हैं।

ई—अन्य आचार्यों के मतानुसार सात पाकयज्ञ संस्थाओं में अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायण, चैत्यय, अश्वयुजी हैं।

उ—गौतमधर्मसूत्र के अनुसार औपासनहोम, वैश्वदेव, पार्वण, अष्टका, मासिश्राद्ध, श्रवणा तथा शूलगव सात पाकयज्ञ संस्थाएँ हैं।

पाकयज्ञ, स्मार्तयाग अथवा गृह्ययागों का विवेचन

१—औपासनहोम

यह होम नित्य है। सायंकाल तथा प्रातःकाल दधिमिश्रित चावलों का हाथ से (अन्यपात्र से नहीं) सम्पन्न किये जाने वाले होम को औपासन होम कहते हैं। इस कर्म में सायंकाल अग्निप्रधान देवता होते हैं तथा प्रजापति गौण देवता। प्रातःकाल सूर्य प्रधान तथा प्रजापति गौण होते हैं। दोनों होमों का फल एक ही होता है। यदि एक बार होम कर लिया जाय और दूसरी बार न किया जाय तो उसका फल नहीं होता। सपत्नीक को ही इस आजीवन अनुष्ठेयहोम को करने का अधिकार है।

२—वैश्वदेव कर्म

विश्वेदेवों ने इस यज्ञ को सम्पन्न किया था इसलिए इसे वैश्वदेव कहते हैं। यह भी गृही के लिए नित्य है तथा इसका पाकयज्ञों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे ही पंचमहायाग भी कहते हैं जिनमें देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ हैं। शतपथब्राह्मण में प्रथम चार यज्ञों का संक्षिप्त विवेचन किया गया है किन्तु ब्रह्मयज्ञ सविस्तर वर्णित है। अन्य शाखाओं के अनुसार सायं एवं प्रातः इसके अनुष्ठान का विधान है किन्तु कात्यायन के मतानुसार प्रातःकाल ही इसका अनुष्ठान होना चाहिए।

३—पार्वण कर्म

यह भी नित्य कर्म है तथा प्रति अमावास्या को सम्पन्न किया जाता है। अमावास्या तथा पूर्णिमा दोनों को पर्व कहते हैं इसलिए इन्हीं पर्वों पर किये जाने वाले कर्म पार्वण कहे जाते हैं।

४—अष्टकाश्राद्ध

हेमन्त और शिशिर से सम्बन्धित कृष्णपक्ष की अष्टमी में अपूप तथा

शाक के द्वारा इन्द्र, विश्वेदेव, प्रजापति तथा पितरों के उद्देश्य से सम्पन्न किये जाने वाले कर्म को अष्टकाश्राद्ध कहते हैं। आहिताग्नि (जिसने अग्नि का आधान कर लिया है) को इसका सम्पादन अवश्य करना चाहिए।

५—मासिश्राद्ध

प्रतिमास किया जाने वाला श्राद्ध मासिश्राद्ध है।

६—श्रवणाकर्म

इसे ही सर्पबलि भी कहते हैं। यह श्रावण की पूर्णिमा से लेकर मृगशीर्ष की पूर्णिमा तक प्रतिदिन सर्पों के लिए सम्पादित होने वाला बलिकर्म है

७—शूलगव

इसे ईशानबलि भी कहते हैं तथा यह कर्म भी गोद्रव्य से युक्त कर्मविशेष है। इसका भी अब गोवध-निषेध होने के कारण अनुष्ठान नहीं होता। अन्य शाखा के आचार्यों ने ईशान के लिए स्थालीपाक का श्रपण करके गाय के स्थान पर स्थालीपाक का विधान किया है।

(२) सप्तहविर्यज्ञसंस्था

सप्तहविर्यज्ञसंस्था के अन्तर्गत अग्न्याधेय (अग्नि का आधान) अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध, आग्रयणेष्टि (नवान्नेष्टि) तथा सौत्रामणी हैं।

१—अग्न्याधेय (श्रुति विहित अग्नि संस्कार)

विशिष्ट काल में, विशिष्ट पुरुष के द्वारा, विशिष्ट मन्त्रों से गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय अग्नियों की उत्पत्ति के लिए अंगारों का निधान ही अग्न्याधेय है।

आधान का समय

श्रौतसूत्रों में अग्नियों के आधानार्थ विभिन्न समय निर्धारित हैं। वसन्त ऋतु में ब्राह्मण को, ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रिय को, वर्षा ऋतु में रथकार को, शरद् ऋतु में वैश्य को अग्न्याधान करने का विधान किया गया है। शिशिर ऋतु सब वर्णों के लिए उपयुक्त है। अमावास्या तिथि इस कार्य के लिए सर्वोत्तम मानी गयी है। पूर्णिमा में भी अग्न्याधेय सम्पादित किया जा सकता है।

इस कर्म का आवश्यक भाग अग्न्याधान दो दिन में सम्पन्न होता है। प्रथम

दिन विहार (कुण्डादि) की स्थापना की जाती है। गार्हपत्यागार वृत्ताकार, आहवनीयागार चतुष्कोण तथा गार्हपत्यागार के दक्षिण में स्थित दक्षिणाग्न्यागार अर्धचन्द्राकार होता है। गार्हपत्य में अग्न्याधान के लिए अग्नि या तो अरणिमन्थन से पैदा की जाती है या किसी धनी व्यक्ति के गृह से अथवा किसी विशिष्ट यजमान के गृह से ले आयी जाती है। रात्रि में पति और पत्नी जागते हैं। प्रातः-काल कुण्डों के लिए अरणिमन्थन से नवाग्नि उत्पन्न की जाती है। अग्नि के उत्पन्न होने के समय एक अश्व ले आया जाता है जो कि अग्नि या सूर्य का प्रतीक होता है। अरणिमन्थन से अग्नि निकलने पर उसका गार्हपत्यागार में स्थापन करके उस पर प्रज्ज्वलनार्थ समिधा का आधान होता है तत्पश्चात् गार्हपत्य से एक अंगार आहवनीयागार में ले आया जाता है। आगे-आगे अश्व चलता है और उसके पीछे यजमान। आहवनीयाग्नि के आधान के अनन्तर दक्षिणाग्नि का आधान किया जाता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार दक्षिणाग्नि का आधान आहवनीय के आधान के पूर्व ही होता है। दक्षिणाग्न्यायतन में भी अग्नि गार्हपत्य से ही ले आयी जाती है। दक्षिणाग्नि का उपयोग अन्वाहार्य (ओदन दक्षिणा जो ऋत्विजों को दी जाती है) को पकाने के लिए होता है।

आहवनीय, दक्षिणाग्नि आदि के आधान के बाद सभ्यअग्नि का आधान किया जाता है। सभा भवन में सम्पन्न होने वाला यह आधान केवल क्षत्रिय के लिए निर्दिष्ट है। आधानानन्तर आज्यहोम होता रहता है। इसके पश्चात् अग्नि-होत्र किया जा सकता है। अग्नियों को प्रतिदिन उचित ढंग से समिद्ध किये रहना चाहिए। द्वादश दिन के बाद तनूहविष आहुतियों का होम किया जाता है। ये आहुतियाँ अग्नि के तीन रूप—अग्निपवमान, अग्निपावक तथा अग्निशुचि के लिए प्रदान की जाती हैं। यजमान को तीन दिन से बारह दिन पर्यन्त पवित्र रहना चाहिए। उसको चाहिए कि वह अग्नियों को प्रज्ज्वलित रखे। अग्निहोत्र होम करे, अग्नि के पास शयन करे तथा असत्य भाषण न करे।

अग्न्याधेय के प्रकार

अग्न्याधान के कई प्रकार हैं जैसे अपूर्वाधान, अन्वाधान, पुनराधान, तृतीयाधान तथा विच्छिन्नाग्न्याधान।

१—अपूर्वाधान—अनाहिताग्नि (जिस व्यक्ति ने अग्न्याधान नहीं किया है) यदि अग्निहोत्रादि हविर्यज्ञों को करने के लिए प्रथम बार अग्न्याधान करता है तो उस अग्न्याधान को अपूर्वाधान कहते हैं।

२—**अन्वाधान**—अग्नि के प्रज्ज्वलनार्थ किसी भी इष्टि या यज्ञ में पहली समिधा के आधान को अन्वाधान कहा जाता है।

पुनराधान—अग्न्याधान सम्पन्न हो जाने पर वर्ष के पूर्व किसी पदार्थ की हानि हो जाय, महारोग हो जाय या अन्य कोई काम पड़ जाय तो उस यजमान को पुनर्वसु नक्षत्र से युक्त अमावास्या में अग्न्याधान करना पड़ता है जिसे पुनराधान कहते हैं। इस दशा में एक वर्ष के पश्चात् प्राचीनाग्नि को बाहर कर दिया जाता है तथा तीन दिन का अन्तर करके दूसरी अग्नियों का आधान किया जाता है। अग्नि समिधा से नहीं अपितु कुश से प्रज्ज्वलित की जाती है। पुनराधान के लिए वर्षाऋतु उपयुक्त है। दक्षिणा रूप में आभूषण देने का विधान है।

४—**तृतीयाधान**—पुनराधान के अनन्तर संवत्सर से पूर्व अर्थनाशादि के निमित्त के योग से अग्नि के नष्ट हो जाने पर पुनः अग्न्याधान किया जाता है जिसे तृतीयाधान कहते हैं जो द्वितीय पुनराधान होता है।

५—**विच्छिन्नाग्न्याधान**—सभी अग्नियों के बुझ जाने पर विच्छिन्नता को जोड़ने के लिए अग्नियों का आधान किया जाता है जिसे विच्छिन्नाग्न्याधान कहते हैं।

(२) अग्निहोत्र

सायंकाल तथा प्रातःकाल दूध या अन्य विहित हविष् का अग्नि में होम ही अग्निहोत्र है। आहिताग्नि (जिस व्यक्ति ने अग्न्याधान सम्पन्न कर लिया है) को नित्य सायं और प्रातः अग्निहोत्र करना चाहिए।

प्रातः कालिक हवन का सबसे उपयुक्त समय सूर्योदय के कुछ समय पूर्व या सूर्योदय के कुछ समय बाद होता है तथा सायंकालिक हवन का समय सूर्यास्त के अनन्तर या एक तारा के दिखलायी पडने पर होता है। ऋग्वेदी, कातीय, सामवेदी सूर्योदय के पूर्व ही होम करते हैं। कठ शाखा वाले, तैत्तिरीय तथा मैत्रायणीय शाखा वाले सूर्योदय होने पर होम करते हैं। होम के समय में यद्यपि आचार्यों का मतवैषम्य है तथापि अग्निप्रणयन कर्म सब प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व तथा सायंकाल सूर्यास्त के पूर्व ही करते हैं। सायंकाल अग्निहोत्र के लिए संकल्प करके उपवेष के द्वारा गार्हपत्य से जलती हुई अग्नि को लेकर, बिना मंत्र के दक्षिणाग्नि के आयतन में रखकर, पुनः गार्हपत्यागार से अग्नि का आहरण करके, मन्त्र के साथ आहवनीयागार में आसवन करना चाहिए। स्वयं ले आयी गयी लकड़ियों से यजमान तीनों अग्नियों को प्रज्ज्वलित करे। तदनन्तर अग्न्यागारों पर दर्भ फैलाकर, यजमान की गाय (अग्निहोत्री) को विहार से दक्षिण ले आकर

सूर्यास्त के पश्चात् दुहना चाहिए। दोहन के अनन्तर श्रपण के लिए दूध कुम्भी में रखा जाता है। गार्हपत्य के कुछ अंगारों को कुण्ड से अलग करके वायव्यकोण में रखकर उन पर दूध पकाना चाहिए। याज्ञवल्क्य के अनुसार दूध को अधिक देर तक नहीं पकाना चाहिए अपितु थोड़ा गर्म कर लेना चाहिए क्योंकि पकाने से दूध जो अग्नि का वीर्य है जल जायगा। अग्निहोत्र में अनेक द्रव्यों का उल्लेख मिलता है किन्तु उनमें पय (दूध) मुख्य द्रव्य है। इसके अतिरिक्त यवागू, तण्डुल, दधि, घृत आदि अनेक द्रव्य हैं।

अग्निहोत्र में सायंकाल अग्निप्रधान देवता तथा प्रजापति अंग देवता, प्रातः-काल सूर्यप्रधान देवता प्रजापति अंग देवता होते हैं। इस श्रौत कर्म की अग्निहोत्र संज्ञा है, औपासनहोम की नहीं। अग्निहोत्र जीवनपर्यन्त करना चाहिए। यह यजमान के द्वारा ही यथासम्भव सम्पादित होना चाहिए। यदि असामर्थ्य के कारण यजमान होम न कर सके तो वह एक ऋत्विक् (अध्वर्यु) से अग्निहोत्र सम्पादित करा सकता है किन्तु पूर्णमासी और अमावास्या को स्वयं यजमान के द्वारा ही अग्निहोत्र होना चाहिए। पाकयज्ञों के साम्य के कारण याज्ञवल्क्य ने अग्निहोत्र को पाकयज्ञ के अन्तर्गत रखा है।

(३) दर्शपौर्णमास

पौर्णमास तथा दर्श ये दोनों इष्टियाँ क्रमशः पूर्णमास तथा अमावास्या तिथियों में सम्पन्न होती हैं। इन पर्वों पर सम्पन्न होने के कारण ही इनकी पौर्ण-मास तथा दर्श यह संज्ञा है। पहले पौर्णमास इष्टि सम्पन्न की जाती है तत्पश्चात् दर्श।

आहिताग्नि (जिस व्यक्ति ने आधान कर लिया है) सपत्नीक द्विज ही दर्श पूर्णमास करने का अधिकारी है। जिसके पत्नी नहीं है अथवा पत्नी मर गयी है उसको यज्ञ करने का अधिकार नहीं है।

ये दोनों याग दो दिन में सम्पादित होते हैं क्योंकि पूर्णमासी तथा अमावास्या को अन्वाधान तथा व्रत का ग्रहण ये दो कर्म सम्पन्न होते हैं अर्थात् कृष्ण प्रतिपदा को पूर्णमास तथा शुक्ल प्रतिपदा को दर्श सम्पन्न होते हैं। पौर्णमास एक दिन में भी सम्पन्न हो सकता है क्योंकि यज्ञ के दिन भी व्रतोपायन हो सकता है। दर्श में सान्नाय्य के लिए दधि की आवश्यकता पड़ती है जो कि यजनीय दिन के पूर्व दुहकर यज्ञ के दिन तैयार होता है।

याग करने की इच्छा व्यक्ति वाला वसन्त ऋतु में अग्न्याधान करके सायं प्रातः

अग्निहोत्र करे। मलमास, शुक्रास्त आदि दोषों से रहित आगामिनी पूर्णमासी को अन्वारम्भणीयेष्टि करके पूर्णमास तदनन्तर आगामिनी अमावास्या को दर्शयाग सम्पन्न किये जाते हैं। दोनों पर्वों में चार ऋत्विज होते हैं जिनमें अध्वर्यु, ब्रह्मा, होता तथा अग्नीध्र हैं। इन दोनों यज्ञों में समानता के साथ ही साथ विषमता भी है। पौर्णमास्य में आग्नेय अष्टाकपालपुरोडाश याग, अग्नीषोमीय उपांशुयाग आज्य द्रव्यक, अग्नीषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश याग ये तीन याग होते हैं। अमावास्या में आग्नेयपुरोडाशयाग, जिसने सोमयाग किया है उसके लिए ऐन्द्र सान्नाय्ययाग, असोमयाजी (जिसने सोमयाग नहीं किया है) उसको अमावास्या में वैष्णव या अग्नीषोमीय आज्य हविष्क याग तथा ऐन्द्राग्न द्वादशकपालपुरोडाश-याग करना चाहिए। ये उपर्युक्त दोनों याग माध्यन्दिन तथा शांखायन शाखा वालों के लिए हैं। अन्य शाखा वालों के लिए आग्नेय आज्यहविष्कयाग तथा ऐन्द्राग्न द्वादश कपालपुरोडाश याग विहित हैं।

दर्शपौर्णमास को आजीवन, बीस वर्ष अथवा पन्द्रह वर्ष तक करना चाहिए। यदि दाक्षायण यज्ञ के रूप में करना है तो एक वर्ष तक प्रतिदिन करना पड़ेगा। दर्श तथा पूर्णमास याग तक सर्वप्रथम किये जाते हों तो पहले अन्वारम्भणीया इष्टि की जाती है जिसमें विष्णु के लिए एकादशकपाल पुरोडाश, सरस्वती के लिए चरु, सरस्वन्त के लिए द्वादशकपालपुरोडाश दिये जाते हैं। यह (अन्वारम्भ-णीयेष्टि) प्रथम पूर्णमास याग के दिन अग्न्याधान तथा अग्निहोत्र का सम्पादन करके स्वतन्त्र रूप से की जाती है।

(४) चातुर्मास्ययाग

चार-चार महीने के बाद सम्पादित होने के कारण इस याग की चातुर्मास्य संज्ञा है। इसमें अधोलिखित चार पर्व हैं---

१—वैश्वदेव पर्व

२—वरुणप्रघास पर्व

३—शाकमेध पर्व

४—शुनासीरीयपर्व

१—वैश्वदेव पर्व—तत्तिरीय ब्राह्मण (१।४।१०।५) के अनुसार विश्वेदेवों ने जिस पर्व से यजन किया उसे वैश्वदेव पर्व कहते हैं। यह फाल्गुन की पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाता है। इस प्रथम पर्व में आग्नेय अष्टाकपालपुरोडाश, सोम के लिए चरु, सविता देवता के लिए अष्टकपाल या द्वादशकपालपुरोडाश, पूषा के

लिए पिष्टचरु, मरुत देवता के लिए सप्तकपालपुरोडाश, विश्वेदेवों के लिए पयस्या, द्यावापृथिवी के लिए एककपालपुरोडाश ये आठ हविष् हैं। इसमें ऋत्विज उतने ही होते हैं जितने दर्श तथा पूर्णमास में रहते हैं।

२ **वरुणप्रघास पर्व**-वरुण के उद्देश्य से दिये जाने वाले प्रघास वरुण प्रघास कहे जाते हैं अथवा (ये हविष्) वरुण के पाशरूप कर्म को नष्ट करते हैं इसलिए इन्हें वरुण प्रघास कहते हैं।

वैश्वदेवपर्व के सम्पादनानन्तर चार महीने बीत जाने के पश्चात् आषाढ़ की पूर्णिमा को वरुणप्रघास सम्पन्न होता है। आदि से लेकर वैश्वदेव पर्व के ५ हविष् तथा उनके अतिरिक्त ऐन्द्राग्नद्वादशकपालपुरोडाश, वरुण के लिए आमिक्षा, मरुत के लिए आमिक्षा, ब्रह्मा के लिए एककपालपुरोडाश आदि हविष् दिये जाते हैं। इसमें दो वेदी होती हैं। एक दक्षिणवेदी और दूसरी उत्तरवेदी। होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा और प्रतिप्रस्थाता ये पाँच ऋत्विज होते हैं। अध्वर्यु चतुर्दशी के दिन यवपिष्ट से वृत्ताकार चार करम्भ पात्रों का निर्माण करता है। अध्वर्यु पूर्णिमा में यवपिष्ट से मेष का निर्माण करता है तथा यजमान पत्नी उस पर रूई से बाल का निर्माण करती है। प्रतिप्रस्थाता मेषी का निर्माण करता है। यजमान पत्नी करम्भ पात्रों को शूर्प में लेकर सिर पर रख कर दक्षिणाग्नि में हवन करती है। मेषी होम भी इसी दक्षिणाग्नि में ही होता है जिसे प्रतिप्रस्थाता सम्पन्न करता है। अध्वर्यु उत्तरवेदी में मेष का होम करता है। अवभृथेष्टि के पश्चात् अवभृथस्नान भी होता है। इसकी दक्षिणास्वरूप गाय, अश्व, छः अथवा द्वादश बैल हैं।

३–साकमेध पर्व–कौषीतकिब्राह्मण (५।५), तथा गोपथब्राह्मण उत्तर भाग (१।२३) के अनुसार इसका सम्बन्ध इन्द्र से है। जिन हविष विशेष से देवता बढ़ते हैं उन्हें साकमेध कहते हैं। यह पर्व कार्तिक की पूर्णिमा को सम्पन्न होता है। इसमें अनीकवती आदि इष्टियाँ, महाहविष्, पितृयज्ञ तथा त्र्यम्बकेष्टि ये चार कर्म होते हैं। यह पर्व दो दिन में सम्पादित होता है। प्रथम दिन प्रातःकाल अनीकवती आदि इष्टि का सम्पादन होता है जिसमें अग्नि अनीकवान् देवता होते हैं। अष्टाकपालपुरोडाश द्रव्य तथा अन्वाहार्य दक्षिणा होती है। मध्याह्न में सान्तपनेष्टि होती है जिसमें सन्तपना मरुत देवता होते हैं, चरुद्रव्य होता है, अन्वाहार्य दक्षिणा होती है। सायंकाल गृहमेधीयेष्टि सम्पन्न होती है जिसमें गृहमेधिन मरुत देवता होते हैं। दूध में पकाया गया चरु द्रव्य तथा दक्षिणा में सांड़ दिया जाता है। चतुर्दशी की रात्रि में हविष्शेष ओदन का भक्षण यजमान के घर में आये हुए अन्य

आह्वान कर सकते हैं। इसमें प्रयाज और अनुयाज नहीं होते किन्तु आज्यभागादि इसके अंग हैं। सायं और प्रातः यवागू से अग्निहोत्र होम सम्पन्न होता है। दूसरे दिन प्रातःकाल उषा के प्रादुर्भूत होने पर स्नान करके यजमान के घर के बैल का नाम लेकर बुलाया जाता है। उस बुलाने के शब्द को सुनकर, उसके कुछ बोलने पर अग्निहोत्र के पूर्व पौर्णदर्व्याख्य होम करके दूसरे दिन सूर्योदय के समय क्रीडिनेष्टि की जाती है जिसमें सप्तकपाल पुरोडाश द्रव्य होता है, मरुत क्रीडिन अथवा स्वतवती देवता होते हैं। अन्य सब बातें समान ही हैं। इसमें अन्वाहार्य रूप दक्षिणा का विधान है।

अदितेष्टि–इसमें अदिति देवता के लिए चरु का विधान है। इसकी दक्षिणा अन्वाहार्य है।

महाहविष्इष्टि–यह उत्तरवेदी पर सम्पन्न की जाती है। वैश्वदेव पर्व में दिये गये प्रारम्भ के पांच हविष होते हैं। अतिरिक्त हविषों में से ऐन्द्राग्न द्वादश-कपालपुरोडाश, महेन्द्र के लिए चरु, विश्वकर्मा के लिए एक कपालपुरोडाश है। दक्षिणा ऋषभ (सांड़) है।

पित्र्येष्टि–(महापितृयज्ञ)–पित्र्येष्टि के लिए दक्षिण दिशा में दक्षिणाभिमुख विहार का सम्पादन होता है। उसके मध्य में दक्षिणाग्नि खर होता है जिसमें दक्षिणाग्नि रहती है। इसी में सभी होम होते हैं। सोम पितृमान्, पितरोबर्हिषदः, पितरोऽग्निस्वात्ता ये क्रम से देवता हैं। षट् कपालपुरोडाश, धानाः तथा मन्थ द्रव्य हैं। अन्वाहार्य दक्षिणा है।

त्र्यम्बकेष्टि–इसमें रुद्र (त्र्यम्बक) देवता हैं। यजमान के गृह में स्थित स्त्री-पुरुष की संख्या से एक अधिक एककपालपुरोडाश दिये जाते हैं। एक अध्वर्यु भी ऋत्विक् होता है। ऋषभ दक्षिणा है। इसमें सब कर्म उत्तर की ओर मुंह कर किये जाने चाहिए। दक्षिणाग्नि से जलता हुआ अंगार लेकर, चतुष्पथ (चौराहे) पर जाकर, पंचभूसंस्कार करके, वहाँ उसका स्थापन करके, एक के अतिरिक्त अन्य पुरोडाशों का पलाशपत्र से अवदान करके होम करना चाहिए। अवदान से बचे हुए पुरोडाश का चूहे के द्वारा खोदी गयी मिट्टी में प्रक्षेप कर देना चाहिए। यजमान सपरिवार तीन बार अग्नि की प्रदक्षिणा करता है। अवशिष्ट पुरोडाश को हाथ से ऊपर उछाला जाता है। गिरते हुए उनको हाथ से ग्रहण करके बराबर बराबर बांट कर, दो शिक्यों में रख कर यष्टि या बांस में बांध कर तण्डुलादि डालकर, उत्तर दिशा में ठूठे पेड़ पर, वृक्ष पर या बांस पर अथवा वल्मीक में आरोपित कर देना चाहिए।

४—**शुनासीरीय पर्व**—साकमेधपर्व की समाप्ति के अनन्तर द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ दिन अथवा एक माह के बाद शुनासीरीय पर्व का अनुष्ठान होता है। यदि चार माह के बाद करना है तो फाल्गुन की पूर्णिमा को ही करना चाहिए। जो यजमान एक ही वर्ष में चातुर्मास्य यागों का सम्बन्ध चाहता है अर्थात् द्वितीय संवत्सर में आवृत्ति नहीं चाहता वह फाल्गुनशुक्ल प्रतिपदा को शुनासीरीय पर्व का सम्पादन करके आगामिनी फाल्गुन की पूर्णिमा को सोमयाग या पशुयाग करे।

वैश्वदेवपर्व के आरम्भ के पाँच हविष् होते हैं। अन्य हविषों में शुनासीर के लिए द्वादशकपालपुरोडाश, वायु देवता के लिए दूध, यवागू तथा सूर्य देवता के लिए एककपालपुरोडाश दिये जाते हैं। दक्षिणा छः बैलों से युक्त हल अथवा दो बड़े शक्ति युक्त बैल, श्वेतअश्व अथवा गाय हैं।

चातुर्मास्ययाग के दो पक्ष हैं, एक उत्सर्गपक्ष और दूसरा है यावज्जीवपक्ष। यजमान एकबार चातुर्मास्ययाग करके पशुयाग और सोमयाग करता है न कि चातुर्मास्य। इसे उत्सर्गपक्ष कहते हैं।

आजीवन प्रतिवर्ष चातुर्मास्य से ही यजन किया जाय तो यह यावज्जीव-पक्ष है। जो चातुर्मास्य की आवृत्ति चाहता है उसे फाल्गुन शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को शुनासीरीय पर्व का सम्पादन करके प्रातः पौर्णमासी को पुनः वैश्वदेव पर्व करना चाहिए। (का० श्रौ० सू० ५।११।१८) तदनन्तर वरुणप्रघासादि यथापूर्व सम्पन्न होते हैं।

ऐष्टिक, पाशुक और सौमिक तीन प्रकार का चातुर्मास्ययाग होता है। ऐष्टिक भी वार्षिक (सांवत्सरिक), पंचाह्निक तथा ऐकाहिक होता है सांवत्सरिक पूर्ववर्णित है। पांच दिन में जिसका सम्पादन हो वह पंचाह्निक तथा एक दिन में जिसका सम्पादन किया जाय वह एकाह्निक है। पशु सहित किया जाने वाला यज्ञ पाशुक है। प्रथमपर्व में विश्वेदेवों के लिए, द्वितीय पर्व में वरुण देवता के लिए, तृतीय पर्व में महेन्द्र के लिए, चतुर्थ पर्व में शुनासीर के लिये पशुओं का विधान है।

सौमिक चातुर्मास्य में वैश्वदेवपर्व के स्थान में अग्निष्टोम संस्थाक सोमयाग होता है। वरुणप्रघासपर्व दो दिन में सम्पन्न होता है। प्रथम दिन अग्निष्टोम संस्थाक तथा उक्थ्यसंस्थाक सोमयाग और द्वितीय दिन उक्थ्यसंस्थाक सोमयाग का सम्पादन होता है। साकमेधपर्व तीन दिन में सम्पन्न होता है। प्रथम दिन अग्नि-ष्टोमसंस्थाक सोमयाग, द्वितीय दिन उक्थ्यसंस्थाक सोमयाग तथा तृतीय दिन अति-रात्रसंस्थाक सोमयाग किया जाता है। शुनासीरीय पर्व में ज्योतिष्टोम होता है।

सातों दिन सवनीयपशुयाग भी अंगरूप से होते हैं, जिनमें विश्वेदेव, वरुण, मरुत, अग्नि, इन्द्राग्नी, एकादशिनः देवता तथा वायुदेवता होते हैं। एक-एक पर्व की समाप्ति पर पृथक्-पृथक् अवभृथेष्टि होती है।

(५) निरूढपशुबन्ध

निरूढपशुबन्ध प्रतिवर्ष वर्षाऋतु में सम्पन्न किया जाता है। इसे दो दिन करने का संकेत मिलता है, उत्तरायण के आरम्भ में तथा दक्षिणायन के आरम्भ में। इस यज्ञ में द्रव्य छाग है, उसकी वपा, हृदय, जिह्वा, वक्षपार्श्वद्वय, गुदमध्य, यकृत् तथा वृक्क की आहुति होती है। इन्द्राग्नी, सूर्य और प्रजापति देवता होते हैं। होता, अध्वर्यु, अग्नीध्र , ब्रह्मा, प्रतिप्रस्थाता तथा मैत्रावरुण ये छः ऋत्विज होते हैं। यह ज्योतिष्टोमयाग के अंगभूत अग्नीषोमीयपशुयाग की प्रकृति है। इसमें तीन या चार अरत्नि (एक अरत्नि = २४ अंगुल) के परिमाण का खदिर या बिल्वकाष्ठ से निर्मित यूप भी होता है। ऋत्विजों के अतिरिक्त शमित्र यज्ञीयपशु का संज्ञपन करके, वपा निकाल कर, उसे वपाश्रपणी पर रख-कर आहवनीय पर श्रपण करके, एक अवदान कर उसका हवन करके, हृदय आदि का अवदान करके शामित्रसंज्ञक अग्नि में उन्हें पकाये जाने पर जिस देवता से सम्बन्धित पशुयाग हो उस देवता के लिए पुरोडाश का निर्वाप करके, उस यजमान के द्वारा विशिष्ट देवता के लिए याग कर लिये जाने पर पक्व हविष् को जुहू में लेकर हृदय, वृक्क आदि अष्टांगों का उस देवता के लिए हवन करके तदनन्तर तीन अंगों से स्विष्ट-कृत् अग्नि का हवन सम्पन्न हो जाने पर अनुयाज आदि का अनुष्ठान होता है। इसमें एकादश प्रयाज तथा उतने ही अनुयाज होते हैं। इष्टियों में हविष् के प्रक्षेपण के अनन्तर ही प्रयाज मन्त्रों का पाठ होता है किन्तु पशुयाग में यूप के समीप पशु के रहने पर ही दस प्रयाजों का पाठ होता है, ग्यारहवें प्रयाज का पाठ प्राणहरण के बाद होता है। दक्षिणा में बैल अथवा कोई बड़ी गाय दी जाती है।

६—आग्रयणेष्टि (नवान्नेष्टि)

नवान्न के उत्पन्न होने पर जिसका सम्पादन किया जाय वह आग्रयण है। इसे नवान्नेष्टि भी कहते हैं। इसका सम्पादन शरद और वसन्त में आहिताग्नि के द्वारा होता है। आहिताग्नि इस इष्टि को सम्पन्न करके भोजनार्थ नवान्न का उपयोग करे। द्रव्यरूप में पुरोडाश तथा चरु दोनों का विधान है। इन्द्र तथा अग्नि के लिए पुरोडाश और द्यावापृथिवी के लिए चरु दिया जाता है। नवव्रीहि और यव प्रधानद्रव्य हैं। रथ, मधुपर्क तथा वर्षा में धारण किया गया वस्त्र दक्षिणा है। यह इष्टि नित्य है। व्रीह्याग्रयण करके (अर्थात् चावल से इष्टि करके) यवाग्रयण

पर्यन्त व्रीहि से यवाग्रयण करके व्रीह्याग्रयण पर्यन्त यव (जौं) से यज्ञों का सम्पादन करना चाहिए।

७-सौत्रामणी

यह ब्राह्मयज्ञ है। (शत ब्रा० १२।८।१।१) यह पशुइष्टि स्वतन्त्र तथा अंगभूत भी होती है। चयनयाग के अनन्तर उसके अंगरूप से अनुष्ठान की जाने वाली सौत्रामणी इष्टि अंगभूत है। यह नित्या, काम्या तथा नैमित्तिकी तीन प्रकार की होती है। फल के अनुद्देश्य से सम्पन्न की जाने वाली इष्टि नित्या है जैसे हविर्यज्ञ के अन्तर्गत। फल से युक्त होने पर काम्या होती है। सोमवमन हो जाने पर तदनन्तर अनुष्ठित होने वाली सौत्रामणी नैमित्तिकी है।

ऋद्धिकाम ब्राह्मण को सौत्रामणी करने का विधान है। अग्निचित् (जिसने अग्निचयन किया है। सोमातिपूत (जिसने सोम का चयन किया है) को सौत्रामणी करना चाहिए। राज्यच्युत राजा राजप्राप्ति के लिए, पशुरहित व्यक्ति को पशु-प्राप्ति के लिए सौत्रामणी करना चाहिए। बौधायन तथा आपस्तम्बादि तैत्तिरीय शाखा के अनुयायियों के मतानुसार सौत्रामणी के दो भेद हैं--एक है चरक सौत्रा-मणी और दूसरी है कौकिल। चरक सौत्रामणी स्वतन्त्र भी होती है और वह चयन-याग का अंगभूत भी बनती है। इसमें तीन पशु होते हैं जिनमें अश्विनी के लिए धूम्रवर्ण अज, सरस्वती के लिए मेष तथा इन्द्र के लिए भी मेष का विधान है।

इन हविर्यज्ञ संस्थाओं के अतिरिक्त अनेक इष्टियां भी हैं जिनको अनेक आचार्य हविर्यज्ञ के अन्तर्गत ही अधिष्ठित करते हैं। उन इष्टियों के पांच भेद हैं जिनमें १---अनुनिर्वाप्या इष्टियां, २---अदीक्षितायनानि, ३ -प्रायश्चित्तीया, ४---क्रत्वर्थिवय, तथा ५---काम्या मुख्य हैं। इनका भी संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है---

१-अनुनिर्वाप्या-विमृद्वती, वैभृथेष्टि, वैमृध्या ये सभी इष्टियां अनुनिर्वाप्या-इष्टि के ही पर्याय हैं। यह इष्टि नित्य है।

२-अदीक्षितायनेष्टि-इस वर्ग की इष्टियों के अन्तर्गत दाक्षायण यज्ञ, इलादध, सार्वसनियज्ञ, वसिष्ठयज्ञ, शौनकयज्ञ, साकप्रस्थाय, मुन्ययन, तुरायण आदि हैं। इनमें से दाक्षायणयज्ञ का वर्णन किया जा रहा है---

दाक्षायण यज्ञ -शतपथब्राह्मण (२।४।४।२) के एक उद्धरण से यह विदित होता है कि सर्वप्रथम दक्ष ने इस यज्ञ को किया इसीलिए इसे दाक्षायण यज्ञ

कहते हैं तथा वहीं पर इसका भी निर्देश मिलता है कि इसे वसिष्ठ यज्ञ भी कहते हैं। इसमें पौर्णमास तथा अमावास्य दो याग होते हैं। पौर्णमास में आग्नेयपुरोडाश, अग्नीषोमीय उपांशुयाज, आज्य, अग्नीषोमीयपुरोडाश, इन तीन हविषों का अथवा अग्नीषोमीय पुरोडाश एक हविष् का प्रथम दिन में विधान है। द्वितीय दिन आग्नेय पुरोडाश तथा इन्द्र के लिए सान्नाय्य विहित हैं।

दर्श में प्रथम दिन आग्नेय पुरोडाश, वैष्णव उपांशुयाज आज्य, इन्द्र के लिए सान्नाय्य ये तीन हविष होते हैं अथवा इन्द्र और अग्नि के लिए पुरोडाश ही एक द्रव्य होता है। द्वितीय दिन आग्नेय पुरोडाश तथा मैत्रावरुणी पयस्या का विधान मिलता है। इसे फाल्गुनी से आरम्भ करके आजीवन अथवा पन्द्रह वर्ष तक या सवत्सर (१ वर्ष) तक करना चाहिए। काम्य को संवत्सर तक ही करना चाहिए। कौषीतकि ब्राह्मण (४।४) के अनुसार दक्षपार्वति ने इस इष्टि का सम्पादन करके सभी कामों को प्राप्त किया।

३—**प्रायश्चित्येष्टि**—इन इष्टियों में कुछ महत्त्वपूर्ण इष्टियों का वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

अभ्युदितेष्टि—जिस यजमान के उपवास करने के दिन पूर्व की ओर चन्द्रमा दिखायी पड़ता है वह यज्ञ पथभ्रष्ट होता है इसलिए भ्रान्तिवश पर्व के न आने पर अमावास्या पर्व का अतिक्रमण हो जाता है, इसलिए अभ्युदितेष्टि का सम्पादन करके उसके प्रायश्चित्त के रूप में किया जाता है। यजमान विहित काल के अनुसार पुनः अमावास्ययाग करता है। इस प्रायश्चित्येष्टि में तीन हविष होते हैं—अग्निदातृ के लिए अष्टाकपालपुरोडाश, इन्द्रप्रदातृ के लिए प्रातःकाल दुहे गये दूध में पका हुआ चरु। यह इष्टि दर्श की विकृति है।

अभ्युदृष्टेष्टि—जिस यजमान के उपवसथ में चन्द्रमा पश्चिम की ओर दिखायी पड़ता है वह यज्ञ भी पथभ्रष्ट होता है इसलिए भ्रान्तिवश पर्व के बीत जाने पर इसका अमावास्य प्रकान्त होता है उसके द्वारा अभ्युदृष्टेष्टि की जाती है। यजमान इस इष्टि के द्वारा यज्ञपथ पर पहुंच कर उसी दिन आमावास्य करता है। यह भी दर्श की विकृति है। शतपथब्राह्मण के एक उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि दर्शेष्टि के बाद प्रायश्चित्तीय इष्टियां की जाती हैं।

इनके अतिरिक्त अग्निमदग्नीष्टि, पथिकृद्ग्नीष्टि, वीत्यग्नीष्टि, विविच्यग्नीष्टि, संवर्गेष्टि, शुच्यग्नेष्टि, अप्सुमदग्नीष्टि, रुद्रेष्टि, पथिकृत् पूषेष्टि, व्रतपत्यग्नीष्टि, मारुतेष्टि आदि अनेक प्रायश्चित्तीय इष्टियां हैं। अग्निहोत्र के

उपचार होने पर अनेक प्रायश्चित्तीय इष्टियों का विवरण शतपथब्राह्मण में किया गया है।

४—क्रत्वर्थिक्य इष्टियां—कुछ इष्टियां विशेष कृतुओं की (यज्ञों) की सिद्धि के लिए होती हैं जिन्हें क्रत्वर्थिकी कहते हैं, जैसे—दीक्षणीयेष्टि, आतिथ्येष्टि, उपसदिष्टि—ये तीनों ज्योतिष्टोम यज्ञ के धर्म हैं। प्रायणीयेष्टि, उदयनीयेष्टि आदि सत्र के धर्म हैं। अवभृथेष्टि, अनीकवतीष्टि, सांतपनेष्टि, क्रीडीयेष्टि, पित्र्येष्टि, आदित्येष्टि, सवनेष्टि आदि चातुर्मास्य के धर्म हैं। उखासम्भरण चयनयाग का तथा उदवसानीयाइष्टि सोमयाग का धर्म है।

५—काम्येष्टि—जिन इष्टियों को विशेष कामना से सम्पन्न किया जाता है, वें काम्येष्टि कही जाती हैं। इनमें मित्रविन्दा, पुत्रकामिका, आयुःकामेष्टि, अन्नकामेष्टि, अन्नाद्यकामेष्टि, महायज्ञकामेष्टि, पापक्षयकामेष्टि, शतकृष्णलेष्टि, कारीरीष्टि आदि इष्टियां हैं।

मित्रविन्देष्टि—मित्रप्राप्ति की कामना वाले यजमान को अग्नि, सोम वरुण, मित्र, इन्द्र बृहस्पति, सविता, पूषा, सरस्वती तथा त्वष्टा इन एकादश देवताओं का यजन करना चाहिए। इस इष्टि का नाम मित्रविन्दा है।

पुत्रकामेष्टि—पुत्र की कामना वाला व्यक्ति अग्निपुत्रवान् के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का तथा इन्द्रपुत्री के लिए अष्टाकपालपुरोडाश का निर्वाप करता है।

आयुःकामेष्टि—सम्पूर्ण आयु की सिद्धि के लिए अग्नि आयुष्मान के लिए अष्टाकपालपुरोडाश तथा इन्द्र त्रातृ के लिए एकादश कपालपुरोडाश प्रदान किया जाता है।

(३) सप्तसोम संस्था तथा अन्य सोमयाग

सोमयज्ञ के विवेचन के पूर्व उसके भेदोपभेद का उल्लेख कर देना उचित है। कुछ आचार्यों के मतानुसार यज्ञ के पांच भेद हैं जिनमें १—शिरोयज्ञ, २—अतियज्ञ, ३—महायज्ञ, ४—हविर्यज्ञ और ५—पाकयज्ञ हैं। हविर्यज्ञ और पाकयज्ञ का वर्णन किया जा चुका है। अब शेष तीन का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—शिरोयज्ञ—प्रवर्ग्य याग ही शिरोयज्ञ है।

२—अतियज्ञ—इसके चार भेद हैं—१—अग्निचित्या, २—वाजपेय,

३ — राजसूय तथा ४ अश्वमेध। अश्वमेध से राजसूय तथा राजसूय से वाजपेय श्रेष्ठ है। अग्निचित्या अन्य तीनों से श्रेष्ठ है क्योंकि उससे अमृत की प्राप्ति होती है। अन्य तीन से अमृतत्व नहीं प्राप्त होता। (श० ब्रा० ५।१।१।१३)

अग्निचित्या—गार्हपत्य, नैऋत्य, आहवनीय तथा आठधिष्ण्यों की एकादश अग्नियां होती हैं। इन सोम सम्बन्धिनी अग्नियों का संस्कार विशेष ही अग्निचित्या अथवा अग्निचयन है। यह अग्निचयन दो प्रकार का होता है—स्वतन्त्र तथा सौमांगभूत। जो चयनयाग बिना सोमयाग के ही सम्पन्न होता है वह स्वतन्त्र अग्निचयन है। फाल्गुनी में अश्वालम्भन करके तदनन्तर अष्टकायाग, उखासम्भरण और अमावास्या में दीक्षा कर्म सम्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् संवत्सरपर्यन्त उख्य (उखा की अग्नि) का धारण, विष्णुक्रम आदि का अनुष्ठान और संवत्सर के अन्त में फाल्गुनी के अनन्तर अमावास्या को सोमक्रयण होता है। सोमक्रयण के पूर्व ही गार्हपत्य चयन, नैऋर्त्य चयन होते हैं। सोमक्रयण के पश्चात् चैत्रमास को शुक्लपक्ष में उपसद् तथा आहवनीय अग्नि के अंगारों के बीच में पांच चितियां होती हैं। पुनः शतरुद्रिय होम तत्पश्चात् अग्निविकर्षण, प्रवर्ग का अनुष्ठान और अन्त में वैश्वानरमारुत, वसोर्धारा आदि आहुतियों का होम होता है। इन चार अतियज्ञों में अग्निचित्या और वाजपेय को ब्राह्मण को तथा राजसूय और अश्वमेध यज्ञों को राजन्य (क्षत्रिय) को करने का अधिकार है। शेष तीन वाजपेय, राजसूय और अश्वमेध का विवेचन आगे किया जायेगा।

३—**महायज्ञ**—महायज्ञ के मुख्य दो भेद हैं—

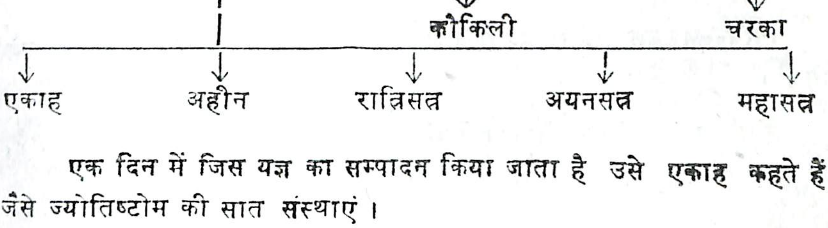

एक दिन में जिस यज्ञ का सम्पादन किया जाता है उसे एकाह कहते हैं। जैसे ज्योतिष्टोम की सात संस्थाएं।

द्विरात्र से लेकर दशरात्र पर्यन्त अनेक दिन में साध्य होने वाले यज्ञ अहीन कहे जाते हैं।

एकादश रात्रि से ले द्वादश रात्रि पर्यन्त अनेक रात्रियों में साध्य सत्रों को रात्रिसत्र कहते हैं।

शतरात्रि के पश्चात् सहस्र रात्रिपर्यन्त अयनसत्र अनुष्ठित होते हैं।

सोमयाग में अनेक रात्रियों तक चलने वाले यज्ञों के लिए सत्र शब्द का प्रयोग किया जाता है। शतपथब्राह्मण (११।५।२।३) में पांच महायज्ञों को ही महासत्र कहा गया है। अन्य आचार्यों के मतानुसार सोमयाग को एकाह, द्वादशाह, संवत्सराह तथा सहस्र संवत्सराह इन चार वर्गों में विभाजित किया जाता है।

एकाह—एकाह अनेक हैं। इन एकाहों की प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम है। उसमें सात संस्थाएं हैं। इस चतुष्टोम (अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र) को अग्निष्टोम भी कहते हैं। अग्निष्टोम साम के द्वारा समाप्ति होने के कारण इसे अग्निष्टोम कहते हैं। प्रातः सवन में बहिष्पवमान, त्रिवृत स्तोम, नवस्तोत्रीय होते हैं। चार पंचदश आज्यस्तोत्र जो संख्या में ६० होते हैं, माध्यन्दिन सवन में माध्यन्दिनपवमान, पंचदशस्तोम इस प्रकार पन्द्रह स्तोत्रीय होते हैं। चार सप्तदश पृष्ठस्तोत्र मिलकर ६८ स्तोत्रीय होते हैं। तृतीय सवन में सप्तदश स्तोम से युक्त आर्भवपवमान होता है। सप्तदश स्तोत्रीय होते हैं। अग्निष्टोम स्तोत्र तथा इक्कीस स्तोत्रीय मिलकर १९० स्तोत्रीय होते हैं।

अग्निष्टोम को ज्योतिष्टोम कहते हैं

विराट् ही छन्दों की ज्योति है इसलिए अग्निष्टोम को ज्योतिष्टोम कहते हैं।

त्रिवृत्, पंचदशस्तोम, सप्तदशस्तोम तथा एकविंशस्तोम इन चारों को विराट् छन्दों में सम्पादित होने के कारण ज्योतिष्टोम कहते हैं।

ये सोमयज्ञ तीन प्रकार के होते हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य।

नित्य—जो यज्ञ स्वतन्त्ररूप से करने के लिए आदिष्ट हैं वे नित्य यज्ञ कहे जाते हैं।

नैमित्तिक—जहां पर सोमयाग करके अन्य यज्ञों का विधान किया जाता है, वहां यज्ञान्तर साहचर्य से सोमयज्ञ नैमित्तिक कहे जाते हैं।

काम्य—जहां इहलोक और परलोक विषयक फल के उद्देश्य से सोमयाग किये जाते हैं वे काम्य कहलाते हैं।

काम्य सोम के दो भेद होते हैं—आदिष्ट सोम तथा प्राक्सौमिक-एकाह तथा अहीनसत्र आदिष्टसोम हैं।

सभी हविर्यज्ञ फल विशेष के उद्देश्य से सोम के साथ सम्पादित होते हैं। सोम के पूर्व सम्पादन होने के कारण उन्हें प्राक्सौमिक कहते हैं।

जिस यज्ञ में सुरा का प्रचार होता है उस यज्ञ को सौत्रामणी कहते हैं। सौत्रामणी के दो भेद हैं—कौकिली तथा चरका। शतपथब्राह्मण तथा आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार असोमयाजी, (जिसने सोमयाग नहीं किया है) वह स्वतन्त्र-याग कौकिली का सम्पादन कर सकता है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार अग्नि-चयन करके वाजपेय यज्ञ का सम्पादन करके श्रौत्रामणी यज्ञ करने का विधान है। "एतया राजसूययाजी यजते" शतपथब्राह्मण के इस कथन से यह विदित होता है कि सौत्रामणी अंग रूप भी है। अतः अंगरूप सौत्रामणी को ही चरका कहते हैं। चरका में सौत्रामणी के साथ हविर्यज्ञत्व चाहने की इच्छा से सौत्रामणी का सप्त-हविर्यज्ञ संस्था में परिगणन होता है।

सर्वप्रथम ज्योतिष्टोम की सात संस्थाओं का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करके अन्य प्रमुख सौमिक यागों का भी वर्णन यथासम्भव किया जायगा।

सप्तसोम संस्था

कुछ आचार्यों के मतानुसार सोम से यजन करने के इच्छुक व्यक्ति को किसी भी वर्ष की बसन्त ऋतु में अग्न्याधान करके उसके बाद ही सोमयाग सम्पन्न करके दर्शपूर्णमास आदि का अनुष्ठान करना चाहिए। अन्य आचार्यों के मतानुसार आधान के अनन्तर दर्शपूर्णमासादि का अनुष्ठान करके सोमयाग करना चाहिये। सोमयाग में भी सात संस्थाएँ हैं जिनमें अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, वाजपेय तथा आप्तोर्याम हैं।

अग्निष्टोम

सोमयाग को अग्निष्टोम साम से समाप्त होने के कारण अग्निष्टोम कहा जाता है। यह याग एक दिन में सम्पन्न हो सकता है किन्तु वर्ग सहित इसके अनुष्ठान में पाँच दिन लगते हैं। इसका प्रारम्भ बसन्त में पूर्णिमा, प्रतिपदा अथवा अमावास्या को होता है। षोडश ऋत्विज होते हैं जिनके अध्वर्युगण, ब्रह्मगण, होतृगण और उद्गातृगण—ये चार गण होते हैं। इनके अतिरिक्त एक सोमप्रवाक होता है। इसके स्थान पर सदस्य नामक ऋत्विक् को कुछ सूत्रकार सत्रहवाँ बतलाते हैं। (का०श्रौ०सू० १०।१।१०) सोमयाग तीनों वेदों की सहायता से सम्पन्न होता है।

(आश्व०श्रौ०सू०२४।१-२) यजुर्वेद से सम्बन्धित अनुष्ठान अध्वर्युगण, ऋग्वेदीय अनुष्ठान होतृगण, सामवेदीय अनुष्ठान उद्गातृगण सम्पादित करते हैं। इन तीनों गणों के द्वारा सम्पन्न किये जाते हुए कर्म के निरीक्षण के लिए ब्रह्मगण होता है।

प्रथम दिन का कृत्य— यजमान के द्वारा सर्वप्रथम सोमप्रवाक का वरण होता है। अध्वर्यु होता, ब्रह्मा आदि के घर जाकर उससे कहता है कि अमुक शर्मा का यज्ञ होगा आपके द्वारा यज्ञ सम्पादन होना चाहिए। वह उनको अपने साथ लेकर यजमान के घर आता है और तब यज्ञ के लिए उनका ऋत्विक रूप में वरण होता है। यज्ञ कराने के लिए चुने गये ऋत्विजों को मधुपर्क दिया जाता है तदनन्तर गार्हपत्य अग्नि को अरणियों पर लेकर उस अग्नि को शान्त करके अरणी और सामग्री के साथ यजमान पत्नी सहित यजनीय स्थान को जाता है। वहां पहुंचने पर शाला तथा कुण्ड का निर्माण होता है। अरणिमंथन करके उत्पन्न अग्नियों को कुण्डों में स्थापित कर दिया जाता है। अपराह्ण में पति-पत्नी को अभीष्ट भोजन करना चाहिए अथवा यदि वे चाहें तो भोजन न भी करें। पति-पत्नी इसी दिन भोजन करते हैं। आगामी चार दिन उपवास ही करते हैं। अवभृथ स्थान के अनन्तर भोजन करके केशादि का वपन होता है। पत्नी के बाल न काट कर नखकर्तन होता है। यजमान के स्नान के बाद दीक्षणीयेष्टि का विधान है। इस इष्टि में दम्पति (पति-पत्नी) के लिए अनेक दीक्षा संस्कार हैं। सर्वप्रथम अग्नि और विष्णु देवता के लिए एकादश कपालपुरोडाश देकर नवनीत से यजमान और यजमान पत्नी का सिर से पैर तक लेप होता है। दोनों मुष्टि बांधते हैं। दोनों के कटिप्रदेश में मुंजमेखला का बन्धन होता है। शिर पर उष्णीष (पगड़ी) होती है। कण्डनार्थ कृष्णमृग का सींग तथा हाथ में धारण करने के लिए एक दण्ड होता है। सूर्यास्त के बाद यजमान पत्नी के साथ दधि ग्रहण करता है। ब्राह्मण के लिए दूध का, राजन्य के लिए यवागू का और वैश्य के लिए आमिक्षा का विधान है।

द्वितीय दिन प्रायणीयेष्टि का अनुष्ठान होता है। इस इष्टि में अदिति, पथ्यास्वस्ति, अग्नि, सोम और सविता ये पाँच देवता होते हैं। इसमें अदिति के लिए चरुद्रव्य तथा अन्य चारों देवताओं के लिए आज्यद्रव्य दिया जाता है। प्रायणीयेष्टि के अनन्तर सोमक्रयण होता है। अध्वर्यु के द्वारा खरीदे गये सोम को दो बैलों से खींचे जाते हुए शकट पर रखकर प्राचीन वंश में उदुम्बर की आसन्दी (राजासन्दी) पर स्थापित किया जाता है। सोमक्रयणानन्तर आतिथ्येष्टि का विधान है जिसमें विष्णु के लिए नवकपालपुरोडाश का निर्वाप किया जाता है। तत्पश्चात् अवभृथ स्नान तक आपस में द्रोह न हो इसलिए सब ऋत्विज तानूनप्त्राज्य

का स्पर्श करते हैं। इसके बाद प्रवर्ग्य कर्म तथा उपसद्याग होते हैं। उपरात् इष्टि में आज्य द्रव्य, तथा अग्नि, सोम और विष्णु देवता होते हैं। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ दिन प्रातः और सांय प्रवर्ग्ययाग और उपसद्याग सम्पादित होते हैं।

तृतीय दिन प्रातःकाल प्रवर्ग्य और उपसद् का होम करके सौमिकी महावेदी का निर्माण और अपराह्ण में प्रवर्ग्य, उपसत् का सम्पादन होता है।

चतुर्थ दिन प्रवर्ग्य और उपसत् का अनुष्ठान करने के बाद अग्नि और सोम से सम्बन्धित पशु से यजन होता है।

पंचम दिन सुत्यादिवस कहा जाता है। इसी दिन सोमाभिषव (सोम का निचोड़ा जाना) करके ग्रहों तथा चमसों के द्वारा हवन होता है। अग्नीत् प्रातः सवनीय पुरोडाशों का निर्वाप करता है। इस कर्म में पाँच हविष् और पांच देवता होते हैं। इन्द्र के लिए एकादशकपालपुरोडाश, इन्द्रहरिवान् के लिए धानाः, इन्द्र पूषण्वान् लिए करम्भ, इन्द्र सरस्वतिमान के लिए दधि, इन्द्र मित्रवरुणवान् के लिए पयस्या। तत्पश्चात् सोम को पीस कर द्रोणकलश में रखा जाता है। सूर्योदय के बाद आग्नेय पशुयाग तथा अन्त में चमस और ग्रहों का होम तथा उनमें शेष होम का भक्षण होता है। इसके अनन्तर माध्यन्दिन सवन का सम्पादन होता है। इस कर्म में इन्द्र और वायु देवता के लिए प्रातः सवन की भाँति द्विदेवत्य ग्रह नहीं होते हैं। दादश ऋतु ग्रह (जिसमें वसन्त, शिशिर आदि ऋतु देवता होते हैं।) नहीं होते। शुक्र, मन्थी, आग्रयण, तीन उक्थ्य, दो मरुत्वतीय ग्रहों का विधान है। प्रातःसवन के समान ग्रहों का भक्षण भी होता है। तदनन्तर ऋत्विजों को दक्षिणा रूप में गाय, अश्व, अश्वतर (बछड़ा), गर्दभ, अज, अवि, तिल, माष उड़द), व्रीहि (धान) और यव दिये जाते हैं। माध्यन्दिन सवन के पश्चात् कुछ समय के बाद तृतीय सवन सम्पन्न होता है। तीन सवन तक प्रधानयाग होता है। इसके अनन्तर अवभृथेष्टि होती है जिसमें वरुण देवता के लिए जल में पुरोडाशहोम का विधान किया गया है। अवभृथ स्थान के बाद अनुबन्ध्य पशुयाग सम्पन्न किया जाता है जिसमें बन्ध्या गाय का विधान है। रात्रि में उदयनीयेष्टि तथा उदवसानीयेष्टि ये दो इष्टियाँ सम्पादित होती हैं। उदयनीयेष्टि तथा प्रायणीयेष्टि के देवता और द्रव्य समान ही होते हैं। विशेषता यह है कि प्रायणीयेष्टि के लिए जिस पात्र में चरु पकाया जाता है उसी पात्र में बिना प्रक्षालन किये हुए ही उदयनीयेष्टि के लिए चरु पकाया जाता है। घर आकर उदवसानीयेष्टि का सम्पादन होता है जिसका द्रव्य अष्टाकपाल पुरोडाश है अथवा उसके स्थान में विष्णु देवता के लिए एक आहुति देकर रात्रि में अग्निहोत्र करने का विधान है।

दूसरे दिन प्रातःकाल अग्निहोत्र होना चाहिए। यदि यजमान ने अग्न्याधान करके पहले सोमयाग ही किया है तो उसे आगामिनी पूर्णिमा में दर्शपूर्णमासयाग का सम्पादन करना पड़ता है।

२—उक्थ्य संस्था

जिस याग के द्वारा सोम का उत्थापन होता है वह उक्थ्य या उक्थ है। प्रातःसवन और माध्यन्दिन सवन में अग्निष्टोम से अन्तर नहीं पड़ता। संकल्प और सवनीय पशु में अन्तर अवश्य पड़ता है। संकल्प के समय यजमान 'उक्थ्येन यक्षे' कहता है। इन्द्र और अग्नि के लिए आग्नेय पशु के साथ दूसरे सवनीय पशु का विधान है। सोमक्रयण के समय सोम को अधिक मात्रा में खरीदा जाता है। अग्निष्टोम के समान माध्यन्दिन सवन का अनुष्ठान करके तृतीय सवन के आरम्भ में ऋजीष (निकाले गये सोम रस से बची हुई सोमलता) से तीन चमसों के लिए रस का अभिषवण होता है। धारा के तीन ग्रहों को आयतन में स्थापित करके अग्निष्टोम के ही समान कर्म का अनुष्ठान होता है। अग्निष्टोम स्तोत्र सम्बन्धी चमसों के प्रचार के बाद उक्थ्य ग्रहों का प्रचार होता है। चमसों के साथ ही क्रमशः तीनों ग्रहों का अध्वर्यु आह्वनीय में हवन करता है। पश्चात् ग्रहों में शेष सोम का भक्षण होता है। प्रथम उक्थ्य ग्रह के इन्द्र और वरुण द्वितीय ग्रह के इन्द्र और बृहस्पति तथा तृतीय ग्रह के इन्द्र और विष्णु देवता होते हैं। इस प्रकार उक्थ्य में तीन स्तोत्र तथा तीन शस्त्र अधिक होते हैं।

(३) षोडशी संस्था

कौषीतकि ब्राह्मण (१७।१) ब्राह्मण में षोडशी की व्युत्पत्ति अधोलिखित है-

'अथोषोडशं वा एतत्स्तोत्रं षोडशं शस्त्रं तस्मात्षोडशीत्याख्यायते।' इसके अनुसार जिस क्रतु में षोडश स्तोत्र और शस्त्र होते हैं उसे षोडशी कहते हैं। यह स्वतन्त्र क्रतु नहीं है इसलिए इसका अग्निष्टोम के समान पृथक् अनुष्ठान नहीं होता है। आग्नेय और ऐन्द्राग्न पशुओं के साथ इन्द्र के लिए तृतीय पशु मेष दिया जाता है। तृतीय सवन में उक्थ्य ग्रह तथा चमसों के प्रचार के अनन्तर षोडशी के लिए चमसों का उन्नयन करके सूर्य के अर्धास्त के समय अध्वर्यु षोडशी स्तोत्र का आरम्भ करता है। स्तोत्र के समाप्त होने पर शस्त्र का आरम्भ तथा ग्रहों और चमसों का प्रचार होता है। शेष कर्म अग्निष्टोम के समान ही होता है।

(४) अतिरात्र संस्था

जिसमें अतिरात्र संज्ञक सामों का गान होता है उसे अतिरात्र ज्योतिष्टोम

कहते हैं । पूर्वोक्त षोडशी में बताये गये तीनों पशुओं के साथ सरस्वती देवता के लिए चतुर्थ पशु मेषी का विधान है । तृतीय सवन के समय ऋजीष को निचोड़ कर पूतभृत् में रस भर कर स्थापित कर दिया जाता है । षोडशी ग्रह के प्रचार अनन्तर चमसों को ले आकर प्रथम रात्रिस्तोत्र के पर्याय में प्रथम स्तोत्र का पाठ होता है । उसकी समाप्ति पर प्रथम पर्याय में होता प्रथम शस्त्र का पाठ करता है । तदनन्तर अध्वर्यु होतृचमस को तथा चमसाध्वर्यु अन्य चमसों को लेकर आहवनीय में हवन करके शेष का भक्षण करते हैं ।

मैत्रावरुण के चमस को प्राथमिकता देकर अन्य चमसों को ले आकर द्वितीय स्तोत्र के स्तुत हो जाने पर, मैत्रावरुण के द्वारा शस्त्र का पाठ तथा अध्वर्यु आदि के द्वारा पहले की तरह हवन करके चमस का भक्षण कर्म होता है । इस गणद्वय का कर्ता अध्वर्यु होता है । इसके बाद दो गणों का कर्ता प्रतिप्रस्थाता होता है । जो कार्य अध्वर्यु को करना चाहिए वह प्रतिप्रस्थाता करता है । ब्राह्मणाच्छंसी के चमस को प्राथमिकता देकर प्रचार होता है । जिसका चमस मुख्य होता है वही 'वषट्' करता है । पर्यायि के बाद दो पर्यायों का पुनरावर्तन होता है । एक पर्याय में चार स्तोत्र तथा चार शस्त्र होते हैं । तीनो पर्यायों में मिलाकर द्वादश स्तोत्र तथा द्वादश शस्त्र होते हैं । यही तीन रात्रि पर्याय कहे जाते हैं । रात्रि में स्तवन किये जाने के कारण इन्हें रात्रिस्तोत्र कहते हैं । रात्रिस्तोत्रों का पर्याय ही रात्रिपर्याय है । पर्याय समाप्त हो जाने पर प्रतिप्रस्थाता अश्विन देवता के लिए द्विकपालपुरोडाश पका कर वेदी में रखता है । अध्वर्यु मुख्यहोतृचमस तथा अन्य चमसों को ले आकर संधिस्तोत्र का पाठ करता है । इसके बाद होता के द्वारा आश्विन शस्त्र का पाठ होता है जो सूर्योदय के बाद समाप्त होता है । सूर्योदय के पश्चात् चमसों का ग्रहण तथा उनका होम होता है । इसी समय प्रतिप्रस्थाता पूर्व निर्मित आश्विनपुरोडाश का हवन करता है । सभी चमसों तथा पुरोडाश के अश्विन देवता होते हैं । हवन के अनन्तर चमस का भक्षण होता है । वषट् होता के द्वारा किया जाता है । शेष कार्य अग्निष्टोम के समान सम्पन्न होता है । इसके अनन्तर अवभृथेष्टि का विधान है । सभी संस्थाओं में अवभृथ के अनन्तर उदनीयेष्टि होती है तथा अनुबन्ध्या के स्थान पर मित्र और व ण के लिए आमिक्षा का विधान है । आमिक्षा होम के बाद अग्निष्टोम के समान ही उदवसानीयेष्टि होती है ।

अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र इन चार ऋतुओं के समूह को ज्योतिष्टोम कहते हैं । इन्हीं चार संस्थाओं का ज्योतिष्टोम में स्थान है । अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और अप्तोर्याम इनका स्थान ज्योतिष्टोम में नहीं है ।

कीथ महोदय के विचार से सम्भवत: इन तीन संस्थाओं को सात संख्या पूरी करने के लिए बाद में सोम संस्थाओं में जोड़ दिया गया।

(५) अत्यग्निष्टोम

अग्निष्टोम स्तोत्र के अनन्तर जिसमें तीन उक्थ्य स्तोत्रों को किये बिना षोडशी स्तोत्र तथा शस्त्रादि का प्रचार किया जाता है वह अत्यग्निष्टोम संस्था है। इस प्रकार अग्निष्टोम ही बाद में षोडशी ग्रह तथा चमस के स्तोत्र आदि के अनुष्ठान में अग्निष्टोम संस्था ही अत्यग्निष्टोम संस्था के रूप में वर्णित है। कुछ विद्वानों के मतानुसार इस अत्यग्निष्टोम संस्था के सम्पादन में क्षत्रिय का ही अधिकार है, ब्राह्मण और वैश्य का नहीं। किन्तु आश्वलायन के मतानुसार तीनों वर्णों के द्वारा प्रतिपाद्य संस्थाओं के मध्य में इसका प्रतिपादन होने के कारण क्षत्रिय के साथ ही ब्राह्मण और वैश्य का भी अधिकार है।

(६) वाजपेय संस्था

इसे अन्नपेय भी कहते हैं। वाजपेय संस्था में प्रात:सवन और माध्यन्दिन सवन में अग्निष्टोम के समान ही अनुष्ठान होता है। तृतीय सवन में षोडशीग्रह-स्तोत्र के अन्त तक षोडशी के समान ही कर्म का सम्पादन होता है तत्पश्चात् वाजपेय संज्ञक एक स्तोत्र का पाठ होता है। चमसों का एक गण होता है जिसमें होतृ-चमस मुख्य होता है। सप्तदश स्तोम वाला स्तोत्र होता है। शस्त्रपाठ होता करता है। इस संस्था की यज्ञ संस्थाओं के अन्तर्गत गणना होने के कारण इसे संस्थावाजपेय भी कहते हैं। इसका विधान न तो आपस्तम्ब और बौधायन आदि के द्वारा किया गया है और न तो यजुष्शाखा में ही इसका विधान मिलता है। ताण्ड्यब्राह्मण तथा छन्दोगसूत्र में इसी का विधान है। तैत्तिरीय शाखा के अनुसार वाजपेय इससे भिन्न है। उसमें सत्रह दीक्षा, तीन उपसद् तथा एक सुत्या का विधान है। प्रजापति से सम्बन्धित सत्तदश सवनीय पशु तथा अरत्नि परिमाण वाले सप्तदश यूप भी होते हैं। उन यूपों को वस्त्र से लपेटा जाता है। प्रजापति देवता से सम्बन्धित सप्तदश सोमग्रह तथा उतने ही सुराग्रह होते हैं। आजकल सुराग्रहों के स्थान पर पयग्रहों का अनुष्ठान होता है। सुत्या के दिन सभी ऋत्विज हिरण्य की माला धारण करते हैं। ऋत्विजों के लिए सत्रह-सत्रह रथ, अश्व, गज, शकट, दासी, दास निष्क, गो, अज, अवि, दुन्दिभि आदि दक्षिणा रूप से दिये जाते हैं। सवनीय पशुओं के समय प्राजापत्य पशुओं के साथ पांच क्रतु पशुओं का भी उपाकरण करके पर्यग्निकरण किया जाता है। प्रथम चार क्रतु पशुओं की वपा निकाल कर कुछ समय के अनन्तर अवशिष्ट पशुओं के साथ प्रचार होता है। अन्य शेष कर्म प्रकृति के समान ही होते हैं। इसे आप्तोवाजपेय

कहते हैं। वाजपेय अग्निष्टोम की संस्था विशेष है। यह यज्ञ विशेष वाजपेय से बढ़कर है।

(७) अप्तोर्याम संस्था

अतिरात्र संस्था के समान ही रात्रिस्तोत्र तथा सन्धि स्तोत्र का एक अनुष्ठान करके बाद में चार स्तोत्रों का अधिक अनुष्ठान होता है। इसकी व्युत्पत्ति श्रुति में इस प्रकार दी गयी है———

'अप्तोः प्रातः यामो यज्ञः अप्तोर्याम इति।' पहले किसी समय प्रजापति ने पशुओं को बनाया। उत्पन्न होकर वे दूर चले गये। प्रजापति ने उनको इसी क्रतु से प्राप्त किया। उन्हें प्राप्त करने के कारण ही अप्तोर्याम नाम पड़ा। इसी प्रकार सन्धिस्तोत्रान्त २९ स्तोत्रों का अनुष्ठान करके तदनन्तर चार स्तोत्र और उसके लिए चार चमस गणों का सम्पादन होता है। उसमें अतिरात्र के समान ही प्रथम और द्वितीय गणों का कर्ता अध्वर्यु तथा तृतीय और चतुर्थ गणों का कर्ता प्रतिप्रस्थाता होता है।

अब कुछ अन्य प्रमुख सोमयागों का विवेचन किया जायगा।

गवामयनसत्र

गायों के द्वारा इसका अनुष्ठान सम्भव है इसलिए इसे गवामयन कहते हैं। इसका प्रारम्भ माघ कृष्ण अष्टमी, माघ शुक्ल की एकादशी, फाल्गुन की पूर्णिमा अथवा चैत्र की पूर्णिमा को होता है। प्रारम्भ के दिन से लेकर द्वादशदीक्षा तथा द्वादश उपसद् होते हैं। इस प्रकार यह चौबीस दिन में सम्पन्न होने वाला यज्ञ है। प्रथम दिन इष्टका के लिए पशु का आगमन तथा उखा सम्भरण सम्पन्न होते हैं। अन्तिम उपसद् के दिन अग्निषोमीय पशु का अनुष्ठान करके उसी दिन ही सुत्या का आरम्भ किया जाता है। महाव्रत में अतिग्राह्य संज्ञक तीन ग्रहों का ग्रहण सम्पन्न किया जाता है। इसमें तीन अनुबन्ध्या गायों का विधान है।

वाजपेय याग

शतपथ ब्राह्मण (५।१।३।३) में वाजपेय शब्द की व्युत्पत्ति अधोलिखित है—
'अन्नं वा एष उज्जयति यो वाजपेयेन यजते अन्नपेयं हवै नामैतद्वाजपेयम्'
यह वाजपेय याग सोम की सात संस्थाओं में वर्णित वाजपेय से भिन्न है।

इसे ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को करने का अधिकार है। सात सोमसंस्थाक वाजपेय के अनुष्ठान में वैश्य का भी अधिकार है। यह शरद् ऋतु में सम्पन्न होता है। इसके

अनुष्ठान में कई पक्ष हैं। प्रथम पक्ष यह है कि आश्विन की पूर्णिमा को वाजपेय सुत्या का अनुष्ठान तथा भाद्रपद की पूर्णिमा और कार्तिक की पूर्णिमा को बृहस्पतिसव का अनुष्ठान करना चाहिए।

द्वितीय पक्ष के अनुसार बृहस्पतिसव के स्थान में अग्निष्टोम के अनुष्ठान का विधान है।

तृतीय पक्ष के अनुसार द्वादश शुक्लपक्षों में वाजपेय के द्वादशयागों का अनुष्ठान होना चाहिए। उसमें अयुग्म (जैसे प्रथम, तृतीय, पंचम) शुक्लपक्षों में अग्निष्टोम का सम्पादन करना चाहिए तथा युग्म (जैसे द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम) शुक्लपक्षों में क्रमशः रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, शाक्वर, रैवत आदि छः सामों से साध्य स्तोत्र एक-एक दिन होने चाहिए। त्रिवृत् पंचदश, सप्तदश, एकविंश. त्रिणव, त्रयस्त्रिंश के क्रम से स्तोम होते हैं। वाजपेय के अनन्तर युग्म शुक्लपक्षों में ज्योतिष्टोम का विधान है। अयुग्म छः शुक्लपक्षों में प्रथम के अनुष्ठान के विपरीत पृष्ठ्य स्तोत्रों का अनुष्ठान किया जाता है।

चतुर्थ पक्ष के अनुसार वाजपेय के पूर्व नव शुक्लपक्षों में पौष की पूर्णिमा से लेकर भाद्रपद की पूर्णिमा तक राजसूय के अन्तर्गत अनुष्ठेय पवित्र, अभिषेचनीय, दशपेय, केशवपनीय, व्युष्टिद्विरात्र, क्षत्रधृति, त्रिष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि का क्रम से अनुष्ठान होता है। आगे भी उन्हीं का प्रतिलोम करके विधान किया गया है। आश्विन की पूर्णिमा अथवा कार्तिक की पूर्णिमा या अमावस्या को राजसूय सम्बन्धिनी सुत्या होती है। कार्तिक की अमावस्या को सुत्या के पक्ष में आश्विन की शुक्ल पक्ष की दशमी में मातृपूजा सम्पादित होती है। तब से लेकर सप्तदीक्षा विहित है। कार्तिक कृष्ण द्वादशी को प्रायणीयेष्टि उसी दिन सोम का क्रयण तथा सुराद्रव्य का भी क्रयण सम्पन्न किया जाता है। तत्पश्चात् तीन दिनों में सायंकाल और प्रातःकाल प्रवर्ग्य और उपसत् का अनुष्ठान होता है। चतुर्दशी को अग्नीषोमीय पशु का विधान है। सत्रह अरत्नि के परिमाण का यूप प्रयुक्त होता है जिसे १७ वस्त्रों से आवृत किया जाता है। पूर्णिमा में पात्रयोजन के समय षोडशीपात्र अधिक होता है। सुराग्रहण के लिए १७ पात्र होने चाहिए, बाईस सवनीय पशु होते हैं। प्रथम पशु अग्नि के लिए, द्वितीय पशु इन्द्र और अग्नि के लिए, तृतीय पशु इन्द्र के लिए, चतुर्थ पशु (मेषी) सरस्वान् के लिए दिये जाते हैं। पंचम पशु में वशागाय का विधान है जिसके स्थान पर अजा को दिया जाता है। इसके अनन्तर आलम्भन हेतु प्रजापति से सम्बन्धित सप्तदश पशुओं का आनयन होता है जो श्यामवर्ण के, शृंगहीन तथा प्रजनन में समर्थ होते हैं। अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं के लिए दिये जाने वाले पशुओं की वपा का अलग-

अलग होम होता है क्योंकि देवता भिन्न-भिन्न होते हैं किन्तु प्रजापति से सम्बन्धित सप्तदश पशुओं की वपा का एक बार में ही, साथ ही होम होना चाहिए। दक्षिणा देने के पश्चात् षोडशरथों में चार-चार अश्व जोते जाते हैं। उनमें एक पर यजमान तथा अपने-अपने रथों पर अन्य ऋत्विज आदि सवार होते हैं। उदुम्बर की शाखा को लक्ष्य करके सभी अपने-अपने रथों को दौड़ाते हैं। इसी को वाजिधावन कहते हैं। उनके गमन के समय ब्रह्मा रथ के चक्र पर बैठकर साम का गायन करता है। उस समय यजमान को आगे-आगे रहना चाहिए। उसके पीछे वे सभी ऋत्विज आदि उदुम्बर वृक्ष की शाखा की प्रदक्षिणा करके देवयजन को लौट जाते हैं। सब के आगमनानन्तर ब्रह्मा रथ के चक्र से उतरता है। तत्पश्चात् यजमान अपना रथ अध्वर्यु के लिए तथा शेष रथों में से जिस-जिस पर जो ऋत्विज सवार रहते हैं उसे उनके लिए देता है। तदनन्तर मधु-ग्रह तथा सौरग्रह का प्रचार होता है। यूप के सहारे एक सीढ़ी लगी होती है जिसमें इक्कीस सोपान होते हैं उस पर यजमान और यजमान पत्नी चढ़ते हैं। नीचे स्थित यजमान के पुत्र-पौत्रादि सत्रह संख्या वाले पीपल के पत्ते में बंधी हुई क्षार तथा मृत्तिका पुटों से यजमान का निर्माण करते हैं जिसे स्वर्गारोहण कहते हैं।

इसके बाद एक अन्न को छोड़कर ग्राम्य तथा वन्य सभी अन्नों का सप्तमन्त्रों से सात बार होम होता है। होम से बचे हुए अन्न से आसन्दी पर स्थित यजमान का अभिषेक होता है। इसके पश्चात् आज्य की आहुतियों का हवन पुनः वपा-प्रचार सम्पन्न होता है।

राजसूय

जिस याग में सोमराजा का अभिषवण होता है वह राजसूय है। राजसूय यज्ञ करके राजा की पदवी धारण की जाती है। फाल्गुन शुक्ल की प्रतिपदा को इसका आरम्भ होता है। यह एक वर्ष से अधिक दिन में सम्पन्न होने वाला याग है। अभिषिक्त (जिसका अभिषेक किया गया हो) क्षत्रिय ही इसका सम्पादन कर सकता है। ब्राह्मण और वैश्य नहीं। कात्यायन श्रौतसूत्र (३५।१।१) के अनुसार राजा के लिए ही राजसूय का विधान है। राजा शब्द से क्षत्रिय जाति का निर्देश किया गया है। पहले आठ दिन चलने वाला पवित्र संज्ञक सोमयाग होता है जो फाल्गुन शुक्लपक्ष की अष्टमी में समाप्त होता है। राजा के लिए सोमभक्षण का निषेध होने के कारण वट वृक्ष के फल से युक्त अंकुरों को लेकर उसका भी सोम के साथ क्रयण आदि संस्कार करके दधि के साथ मिश्रित कर यजमान के चमस में ग्रहण करके होम के समय हवन करके हवन के शेष का भक्षण किया जाता है।

इस चमस का भक्षण यजमान के द्वारा ही सम्पन्न होता है। फाल्गुन शुक्ल दशमी मेंअनुमतीष्टि का अनुष्ठान होता है जिसमें अष्टाकपालपुरोडाश द्रव्य होता है। एकादशी को अग्नि और विष्णु के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश, द्वादशी में अग्नि और सोम के लिए एकादशकपालपुरोडाश, त्रयोदशी में इन्द्र और अग्नि के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश दिये जाते हैं। चतुर्दशी को यव तथा व्रीहि से आग्रयणेष्टि होती है। फाल्गुन की पूर्णिमा में राजसूय के अन्तर्गत चातुर्मास्य का विधान है। पहले पूर्णिमा को वैश्वदेव पर्व चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से लेकर अमावास्या तक प्रतिदिन पौर्णमासेष्टि का सम्पादन होता है। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से लेकर पूर्णमासी पर्यन्त दर्शेष्टि सम्पन्न की जाती है। राजसूय इष्टि के अनन्तर दर्शपूर्णमास तथा पिण्डपितृयज्ञ का नित्य अनुष्ठान होता है। तत्पश्चात् वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़ महीनों में इसी प्रकार कृष्णपक्षों में पौर्णमासेष्टि और शुक्लपक्ष में दर्शेष्टि होती है। प्रतिवर्ष जो यजमान चातुर्मास्य इष्टि का अनुष्ठान नहीं करता उसके लिए उन उन पर्वों के अनुष्ठान के समय उन्हें सम्पन्न करके राजसूय सम्बन्धी पर्वों का विधान है। आषाढ़ की पूर्णिमा को वरुणप्रघास पर्व सम्पन्न होता है। तब से लेकर कार्तिक की पूर्णिमा तक प्रतिदिन पूर्ववत् दर्शपूर्णमास इष्टियों का अनुष्ठान होता है। कार्तिक की पूर्णिमा को साकमेघपर्व तथा मार्गशीर्ष की कृष्ण प्रतिपदा से लेकर फाल्गुन की अमावास्या तक दर्शपूर्णमास इष्टियों का अनुष्ठान होता है। फाल्गुन कृष्ण की अमावास्या को शुनासीरीय पर्व और उसी दिन पंचवातीय संज्ञक होम का विधान है। इन्द्रतुरीया नाम की इष्टि जिसमें अग्नि के लिए अष्टाकपालपुरोडाश, वरुण के लिए यवमय (यव से बना हुआ) चरु, रुद्र के लिए गावेधुक चरु, इन्द्र के लिए वहिनी का दधि ये चार हविष् होते हैं, सम्पन्न की जाती है।

फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को त्रिषंयुक्त नाम के तीन कर्मों में प्रथम इष्टि त्रिषंयुक्ता होती है जिसमें विष्णु के लिए त्रिकपालपुरोडाश प्रथम हविष्, इन्द्र और विष्णु के लिए चरु द्वितीय हविष तथा विष्णु के लिए चरु तृतीय हविष् होते हैं। शुक्लपक्ष की चतुर्थी को द्विहविष्का इष्टि का विधान है जिसमें विश्वानर के लिए द्वादशकपालपुरोडाश तथा वरुण के लिए यव का चरु दिये जाते हैं। उसी दिन द्वादशरत्नहवि संज्ञक इष्टियों का प्रारम्भ किया जाता है। चतुर्थी से लेकर फाल्गुन शुक्ल की पूर्णिमा तक एक-एक दिन राजा के एक-एक सम्बन्धी के घर एक-एक इष्टि का अनुष्ठान होता है। सेनानी के घर प्रथमा इष्टि होती है जिसमें अग्नि अनीकवान् के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का विधान है। पुरोहित के घर में द्वितीय इष्टि होती है जिसमें बृहस्पति के लिए चरु का विधान है। यजमान के घर में तृतीय इष्टि जिसमें रुद्र के लिए चरु दिया जाता

है। महिषी के घर में चतुर्थ इष्टि होती है जिसमें अदिति देवता के लिए चरु दिया जाता है। अश्वसारथी के घर में पंचम इष्टि होती है जिसमें वरुण के लिए यवमय चरु का विधान है। ग्रामनेता के घर में छठी इष्टि सम्पन्न की जाती है जिसमें मरुतों के लिए सप्तकपालपुरोडाश दिया जाता है। सातवीं इष्टि मन्त्री या दूत के घर होती है जिसमें सविता देवता के लिए अष्टाकपालपुरोडाश द्रव्य होता है। नवीं इष्टि रथकार के घर होती है जिसमें अश्विनौ देवता के लिए द्विकपालपुरोडाश दिया जाता है। दसवीं इष्टि परिवेषण करने वाले के घर होती है जिसमें पूषा के लिए चरु का विधान किया गया है। यजमान के घर रुद्र के लिए गोधूम का चरु दिया जाता है। यह ग्यारहवीं इष्टि है। पति-पुत्र से रहित किसी स्त्री के घर बारहवीं इष्टि होती है जिसमें निर्ऋति देवता के लिए नख से ही निकाले गये कृष्णव्रीहि (काले धान के चावल) के चरु का विधान है तदनन्तर उसी दिन सोम और रुद्र के लिए तथा मित्र और बृहस्पति के लिए चरु दिया जाता है। चैत्र कृष्णपक्ष में कुछ भी कर्म नहीं होता है। चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को अभिषेचनीय याग तथा दशपेय याग दोनों को साथ ही आरम्भ करने का संकल्प लिया जाता है। उसमें आठ सोमयाग होते हैं जिनमें पवित्र, अभिषेचनीय, दशपेय, केशवपनीय, व्युष्टिद्विरात्र, क्षत्रस्यधृतिः त्रिष्टोम तथा अग्निष्टोम हैं। दशपेय और अभिषेचनीय में साथ ही सोमक्रयण होता है। सोम के साथ ही वटकेफल से युक्त अंकुरों का भी क्रयण होता है। अभिषेचनीय याग पांच दिन में सम्पन्न होता है। इसमें अग्निषोमीय पशु की सन्निधि में देवसू हविष् का विधान होता है। उन हविषों में दो पुरोडाश तथा छः चरु होते हैं। सवितृ सत्यप्रसव देवता के लिए विरुढव्रीहि का बना अष्टाकपाल पुरोडाश तथा अग्नि गृहपति के लिए आशुव्रीहि (तीन पखवारे में पके धान के चावल) से निर्मित अष्टाकपालपुरोडाश, सोम वनस्पति के लिए श्यामाकचरु, वाक् बृहस्पति के लिए नीवार चरु, इन्द्र ज्येष्ठ के लिए रक्तशालि चरु, रुद्र पशुपति के लिए गावेधुक चरु, मित्र सत्य के लिए स्वयं उत्पन्न व्रीहि के चरु का विधान है। वरुण धर्मपति के लिए यव के बने चरु का विधान है। इसके पश्चात् राजा के अभिषेकार्थ सत्रह प्रकार के जलों का आनयन होता है। अभिषेक के बाद शुनःशेप की कथा का श्रवण किया जाता है। उदुम्बर की आसन्दी पर द्यूत (जुआ) के लिए स्थित यजमान के लिए अक्ष दिया जाता है। फिर द्यूतक्रीडा होती है। इसके पश्चात् संसृप हविषों का विधान है। ये हविष् चैत्र शुक्ल की षष्ठी से लेकर द्वादशी तक छः दिनों में सम्पन्न होते हैं। द्वादशी को अवशिष्ट चार हविष् प्रदान किये जाते हैं। द्वादशी में ही दशपेय के द्वितीय दिन से लेकर चैत्र की पूर्णिमा तक सुत्या होती है।

दशपेय में सोम होता है। दस-दस ब्राह्मण एक-एक चमस का भक्षण करते हैं। यजमान-चमस का भक्षण भी ब्राह्मण ही करते हैं। वैशाख में कुछ कार्य नहीं होता। वैशाख की पूर्णिमा में पंचबिल संज्ञक चरु का विधान है। ज्येष्ठ की अमावास्या को दो पशुबन्ध होते हैं। ज्येष्ठ शुक्ल की एकादशी से लेकर पांच दिनों में अतिरात्रसंस्था-सम्बन्धित केशवपनीय नाम के सोमयाग का अनुष्ठान होता है। आषाढ़ की कृष्ण प्रतिपदा को व्युष्टि द्विरात्र का संकल्प होता है। अहीन होने के कारण उसमें षोडश दीक्षा हैं। द्वादश उषसत् याग तथा दो सुत्या हैं। इस तरह यह व्युष्टिद्विरात्र एक मास में सम्पन्न होता है। श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को क्षत्रधृति का आरम्भ होता है। यह भी महीने भर में साध्य होने वाला यज्ञ है। इसी प्रकार भाद्रपद की कृष्ण प्रतिपदा को मास भर में साध्य होने वाला त्रिष्टोम सम्पन्न होता है। आश्विन की कृष्ण प्रतिपदा को मासि साध्य अग्निष्टोम किया जाता है। कार्तिक की पूर्णिमा में राजसूय की अंग-स्वरूपिणी त्रिपशुका चरकासौत्रामणी का अनुष्ठान होता है।

अश्वमेध यज्ञ

अश्वमेध सोमयाग ही है तथापि अश्वरूपी सवनीय पशु का विधान होने के कारण इसे अश्वमेध कहते हैं। अभिषिक्त सार्वभौम राजा ही इसके सम्पादन का अधिकारी है। फाल्गुन की शुक्लाष्टमी अथवा नवमी या ग्रीष्मकाल में इसका आरम्भ होता है। आरम्भ के दिन वरण के अनन्तर पाक का सम्पादन किया जाता है जिसका चार महाऋत्विजों के लिए दान होता है। प्रत्येक ऋत्विज को एक हजार चार सौ गायें दी जाती हैं। इसके पश्चात् आभूषणों से सजी हुई महिषी, राजपुत्रियों के साथ, परिणीता वल्लभा क्षत्रिय जाति की पुत्रियों के साथ, अवल्लभा अश्व की सेवा करने वाले ग्रामनेता की पुत्रियों के साथ, दूतपुत्री क्षत्ता की पुत्रियों के साथ आती है। उन चारों के साथ यजमान सायंकाल अग्निहोत्र समाप्त करने पर रात्रि में उत्तर की ओर सिर करके सोती हुई वल्लभा पत्नी के दोनों उरुओं के अन्तराल में उत्तर की ओर सिर करके शयन करता है। अन्य पत्नियां चारों ओर लेटती हैं। उस समय यजमान को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। सूर्योदय होने पर अग्निहोत्र होम करके पूर्णाहुति का अनुष्ठान किया जाता है। तत्पश्चात् पथिकृदिष्टि का विधान है जिसमें अग्नि-पथिकृत् के लिए अष्टाकपालपुरोडाश दिया जाता है। पुनः द्वादश अरत्नि या त्रयोदश अरत्नि के परिमाण की दर्भमयी अश्वरशना को घी से आंजकर अश्व के बंधनार्थ ब्रह्मा से पूछना चाहिए। उसकी आज्ञा मिल जाने पर अश्व का बन्धन कार्य सम्पन्न किया जाता है। अश्व भी अनेक लक्षणों से युक्त होना चाहिए। पूर्व भाग कृष्ण-वर्ण का होना चाहिए तथा पीछे का भाग शुक्ल वर्ण। ललाट

प्रदेश शकटाकार त्रिपुण्ड से युक्त तथा नीलवर्ण के लांछन से युक्त हो, एक सहस्त्र गायों के मूल्य से खरीदा गया हो। उस अश्व को तालाब आदि के स्थिर जल में ले जाकर प्रक्षालित किया जाता है। तत्पश्चात् शूद्र के द्वारा वैश्य की पत्नी के गर्भ से उत्पन्न पुरुष के द्वारा चतुरक्षा (आंखों के ऊपर आँख के सदृश चिह्न वाले) कुत्ते को मार कर वेंत की चटाई पर अश्व के नीचे जल के मध्य में बहाया जाता है। वहां से लौटकर होम होता है। तदनन्तर तीन सावित्री इष्टियों का सम्पादन किया जाता है जिनमें तीन द्वादशकपाल पुरोडाश होते हैं। उन इष्टियों के प्रयाज के अनुष्ठान होते समय ऋत्विजों से अन्य कोई ब्राह्मण यजमान के दान और यागादि का गान स्वयं निर्मित तीन गाथाओं के द्वारा वीणा पर करता है।

इसके पश्चात् अध्वर्यु और यजमान यज्ञीय अश्व को यौवन की अवस्था पार कर गये सौ अश्वों के साथ ईशान दिशा में छोड़ते हैं। भ्रमणार्थ छोड़े गये उस अश्व के पीछे चार सौ सैनिक धनुष बाण से युक्त युद्धार्थ भेजे जाते हैं। इस इस तरह अश्व वर्ष भर में घुमाकर ले आया जाता है। संवत्सर पर्यन्त यजमान वावाता पत्नी के साथ शयन करता है। इसके अनन्तर तीन साविद्वी इष्टियां होती हैं। तदनन्तर वीणा पर गाथा गान, पारिप्लवाख्यान, प्रक्रम होम, धृतिहोम सम्पन्न किये जाते हैं। संवत्सर के स्थान में १५ दिन, एक मास, तीन मास तथा छः मास के भी पक्ष हैं। चैत्र की पूर्णिमा को उखा सम्भरण तथा इष्टका पशु-याग सम्पादित होते हैं। उसी दिन दीक्षणीया इष्टि का आरम्भ करके छः दिन एक-एक इष्टि से वैशाख कृष्ण षष्ठी तक सम्पादन होना चाहिए। दीक्षा का आरम्भ करके द्वादश दिनों में वैशाख शुक्ल तृतीया तक द्वादश सुत्याओं का अनुष्ठान होता है। इसी तृतीया को ही सोमक्रयण होता है। तब से लेकर द्वादशी तक द्वादश उपसत् याग होते हैं। चतुर्दशी को ही अग्नीषोमीय पशुओं को ले आया जाता है। इक्कीस-इक्कीस अरत्नि के इक्कीस यूप होते हैं जो विभिन्न जाति के वृक्षों से निर्मित होते हैं। एक यूप रज्जुदाल का, दो यूप पितुदारु के, ६ यूप बिल्व के, ६ यूप खदिर वृक्ष के, ६ पलाश वृक्ष के होते हैं। आहवनीय के आगे रज्जुदाल का यूप होता है, उसके दोनों और पितुदारु से निर्मित यूप होते हैं। अवशिष्ट, बिल्व, खदिर और पलाश के यूप क्रम से कुछ अन्तर देकर गाड़े जाते हैं। इसमें २१ अग्नीषोमीय पशु होते हैं। यूपों में पशु दक्षिण से उत्तर की ओर बांधे जाते हैं। अनेक पशु होने पर भी पशुपुरोडाश एक ही होता है। इसके पश्चात् इसी दिन सोम संस्था से सम्बन्धित प्रथम सुत्या होती है जिसमें २१ अग्नीषोनीय सवनीय पशु होते हैं। उन पशुओं का यूपों में बन्धनकरण इस प्रकार है—

मध्य में रज्जुदाल यूप में दो आग्नेय पशुओं को बांध कर शेष पशुओं को दक्षिण और उत्तर दिशा में बांध दिया जाता है। इसकी दक्षिणा के विषय में भी वैशिष्ट्य है। पूर्व दिशा से प्राप्त धन का तृतीयांश होता को, दक्षिण दिशा से प्राप्त धन का तृतीयांश ब्रह्मा को, पश्चिम दिशा से प्राप्त धन का तृतीयांश अध्वर्यु तथा उत्तर दिशा से प्राप्त धन का तृतीयांश उद्गाता को दिया जाता है। अवशिष्ट दो दो अंशों को दक्षिणारूप में सुत्या दिनों में देने का विधान है। तदनन्तर सूर्यास्त हो जाने पर रात्रि में आज्य, सत्तू, धानाः, लाजाः, नाम के एक एक द्रव्य को लेकर क्रमशः प्रति प्रहर 'प्राणाय स्वाहा' (यजु०सं०२२।२३-२४) इत्यादि मंत्रों से रात्रि भर-हवन-करना चाहिए तत्पश्चात् द्वितीय दिन उक्थ्य संस्था का सम्पादन होता है। स्वर्ण और रजत निर्मित महिम ग्रहों का ग्रहण होता है। बहिष्पवमान के लिए गमन तथा अश्व का अन्वारम्भण होता है। दो एकादशिनी (पशुओं) के उपाकरण के अनन्तर अश्व का उपाकरण होता है। इसके पश्चात् इक्कीस यूपों में दोनों एकादशिनी पशुओं को पूर्ववत् बांध कर अश्व, तूपर (सींग रहित छाग), गोमृगों को अग्निष्ठ रज्जुदाल के यूप में बांधा जाता है। अश्व के ललाट आदि अंगों में द्वादश पशु बाँधे जाते हैं जिन्हें पर्यङ्ग्य कहते हैं। अश्व के शरीर में पशुओं को बांधने के लिए उसके सम्पूर्ण शरीर को रज्जु से लपेटकर उसी में उन पशुओं को बांधा जाता है। ललाट में अग्नि देवता से सम्बन्धित काली गर्दन वाले अज का, हनू के नीचे सरस्वती के लिए मेषी का, बाहुओं में अश्विनौ देवता से सम्बन्धित पशुओं का, नाभि से सोम और पूषा से सम्बन्धित श्याम पशु का, दोनों पार्श्वों में सूर्य से सम्बन्धित श्वेत पशु का तथा यम देवता से सम्बन्धित कृष्णपशु का, दोनों पीछे के पैरों में त्वष्टा से सम्बन्धित लोमश (रोयें वाले) दो अजों का, तथा पूँछ में वायु, इन्द्र और विश्व देवता से सम्बन्धित पशुओं का बन्धन किया जाता है। ये अश्व, तूपर, गोमृग अजादि पशु संख्या में १५ होते हैं। दो आग्नेय पशु जो मध्य यूप में बाँधे जाते हैं मिलकर १७ संख्या का निर्माण करते हैं। अन्य २० यूपों में रोहित आदि १५ पशु बाँधे जाते हैं। पहले एकादशिनी यूप के प्रत्येक यूप में १५-१५ पशुओं के साथ एक एक पशु और मिल जाने से प्रत्येक यूप में षोडश पशु होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर ३३७ पशुओं का विधान है। ये पशु ग्राम्य होते हैं जिनकी गणना यजुर्वेद संहिता (२४/१-२०) में दी गयी है। एक यूप से दूसरे यूप के बीच में अरण्य के पशुओं को रखा जाता है। उनमें से कुछ को पिंजड़ों में, कुछ को घोसलों में तथा कुछ को जल में रखते हैं क्योंकि वे यूप में बँध नहीं सकते।

यूप में बँधे हुए पशुओं का संज्ञपन करके, उनकी वपा, वृक्कादि का हवन होता है। कपिंजल आदि अरण्य के पशुओं का विहित देवता के लिए क्रम से

उपालम्भन करके पिंजरादि के साथ उनका त्याग होता है। अश्व का संज्ञपन होने पर मृत सवनीय अश्व की तीन बार परिक्रमा की जाती है। तत्पश्चात् राजा की महिषी (पत्नी) मृत अश्व के समीप लेटती है। वहीं पर अध्वर्यु और कुमारी का, ब्रह्मा तथा महिषी का, होता और परिवृक्ता, प्रतिहार तथा पालागली का क्रम से संवाद होता है।

अश्व की वपा के अभाव के कारण उसके मेद को निकाल कर कार्ष्मर्य के दो शूलों के द्वारा पका कर होम तत्पश्चात् ब्रह्मोद्य होता है। इसमें अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता, प्रतिप्रस्थाता और यजमान प्रश्न करते और उत्तर देते हैं। इसके बाद एकादशिनी पशुओं की वपा का प्रचार होता है। पुनः वनस्पति याग के अनन्तर अश्वशूल के पशुशेष का अवदान करके होम होता है। आज्य के साथ शाद आदि देवताओं के लिए अश्व के दन्त आदि अंगों से हवन तदनन्तर पत्नीसंयाज करके उस दिन का कार्यक्रम वहीं स्थगित कर दिया जाता है।

प्रातःकाल द्वितीया को अतिरात्र के तृतीय दिन सम्बन्धी षोडशी के अन्तर्गत सम्पन्न होने वाले सभी कार्य करके तत्पश्चात् अवभृथेष्टि का सम्पदान होता है। सात वरुण देवता से, सात विश्वेदेवों से तथा सात बृहस्पति से सम्बन्धित इक्कीस अनुबन्ध्या पशु होते हैं। एक-एक यूप में एक-एक पशु का बन्धन होता है। तीन पशु-पुरोडाश होते हैं। उदवसानीयेष्टि के अन्त में पालागली की अनुचरियों का अध्वर्यु के लिए, महिषी की अनुचरियों का ब्रह्मा के लिए, वावाता की अनुचरियों का उद्गाता के लिए तथा परिवृक्ता की अनुचरियों का होता के लिए दान होता है। उस समय से आरम्भ करके द्वादश दिन पर्यन्त प्रति दिन अग्नि के लिए पुरोडाश या ब्रह्मौदन प्रदान किया जाता है। तत्पश्चात् वर्ष तक प्रत्येक ऋतु में छः छः पशुओं का आलम्भन होता है। वसन्त में अग्नि देवता से सम्बन्धित, वर्षा में पर्जन्य देवता से सम्बन्धित, शरद् में मित्र और वरुण से सम्बन्धित, हेमन्त में इन्द्र और विष्णु से सम्बन्धित, शिशिर में इन्द्र और बृहस्पति से सम्बन्धित पशुओं का आलम्भन होता है। अन्य कर्म निरूढ पशुबन्ध के समान ही होता है।

पुरुषमेध यज्ञ

शतपथब्राह्मण (१३।६।२।१) में पुरुषमेध की व्युत्पत्ति अधोलिखित है–

'तस्य (पुरुषस्य वायोः) यदेषु लोकेष्वन्नं तदस्यान्नं मेधस्तद्यदस्यैतदन्नं मेधस्तस्मात्पुरुषमेधोऽथो यदस्मिन्मेध्यान्पुरुषानालभते तस्मादेव पुरुषमेधः।'

पुरुषमेध ब्राह्मण और क्षत्रिय के द्वारा चालिस दिन में सम्पन्न होने वाला यज्ञ है जिसमें तेइस दीक्षाएँ, द्वादश उपसद्याग तथा पांच सुत्यायाग होते हैं। इसका आरम्भ चैत्र शुक्ल दशमी को होता है। इसमें एकादश यूप तथा एकादश अग्नीषोमीय पशु होते हैं। सभी का एक ही पुरोडाश होता है।

सुत्या में प्रथम और पंचम दिन अग्निष्टोम की दो संस्थाओं का, द्वितीय और चतुर्थ दिन उक्थ्य की दो संस्थाओं का, तृतीय दिन अतिरात्र संस्था का सम्पादन किया जाता है। सुत्या के दिनों में प्रतिदिन एकादश पशु प्रयुक्त होते हैं। तृतीय अतिरात्र संस्था के दिन प्रत्येक यूप में एक-एक एकादशिनी पशुओं को बाँधकर मध्यम यूप में संहिता में उल्लिखित ब्राह्मण आदि ४८ पुरुषों का बन्धन कर्म सम्पन्न होता है। दश यूपों में ग्यारह-ग्यारह पुरुष बाँधे जाते हैं। (यजु०संहि०३२।५-२२) इस प्रकार १८४ पुरुषों का बन्धन-कर्म सम्पन्न हो जाने पर सब का उपस्थान होता है। तत्पश्चात् उनका उत्सर्ग किया जाता है। तदनन्तर जिस विशिष्ट देवता के उद्देश्य से विशिष्ट पुरुष का बन्धन किया जाता है उसी क्रम से तत्तत्देवता के लिए आज्याहुति का हवन होता है। अन्त में अपनी अग्नि का समारोपण तथा सूर्य का उपस्थान करके वानप्रस्थ का अनुसरण किया जाता है। गमन के समय यजमान को पीछे मुड़ कर न देखना चाहिए। आजीवन ग्राम में पुनरागमन का निषेध है। पुन: ग्रामवास की इच्छा हो तो यजमान को अरण्य की दोनों अग्नियों का समारोपण करके गृह में ही रह कर अग्निहोत्र करना चाहिए।

सर्वमेधयाग

यह याग ३४ दिन में सम्पन्न होता है जिसमें द्वादश दीक्षा, द्वादशउपसद्-याग तथा दस सुत्यायाग होते हैं। प्रथम दिन अग्निष्टोम संस्थायाग का सम्पादन करने के अनन्तर तीन दिन इन्द्रस्तुत, सूर्यस्तुत, वैश्वदेवस्तुत, क्रम से उक्थ संस्था याग सम्पादित होते हैं। पुन: महाव्रत, वाजपेय, अप्तोर्याम, त्रिणवस्तोमउक्थ्य, त्रयस्त्रिंश स्तोम व उक्थ्य क्रमशः सम्पादित होते हैं। इसके अनन्तर विश्वजित् अतिरात्र तथा चैत्र व शुक्ल की षष्ठी को इष्टका पशुयाग एवं उखा सम्भरण होते हैं। इसमें एकशतविध (सौ प्रकार की) अग्नियाँ होती हैं। सप्तदश अरत्नि के परिमाण का एक यूप भी होता है।

पितृमेधयाग

तीनों वर्णों को इसके सम्पादन का अधिकार है इसमें एक अध्वर्यु ही ऋत्विक् होता है। मृतपितरों की अस्थियों को अरण्य में ले आकर उन अस्थियों

के द्वारा जिस अंग की जो अस्थि है, उससे उस अंग का निर्माण करके पुरुष की आकृति बना कर शेवल (सिबार) तथा कुश आदि से उन्हें ढक कर, ग्राम को अत्यावर्तन करके, स्नान करके गृहागमन करना चाहिए।

(११) यज्ञों का क्रम

गोपथब्राह्मण (पूर्व भाग ५।७) में यज्ञों के अनुष्ठान का क्रम बतलाया गया है जो अधोलिखित है—

सर्वप्रथम अग्न्याधेय का विधान है, अग्न्याधेय के बाद पूर्णाहुति, पूर्णाहुति के बाद अग्निहोत्र, अग्निहोत्र के बाद दर्शपूर्णमास, तत्पश्चात् आग्रयण, आग्रयण के बाद चातुर्मास्य, चातुर्मास्य का सम्पादन हो जाने पर पशुबन्ध, पशुबन्ध के अनन्तर अग्निष्टोम के सम्पादनान्तर राजसूय, राजसूय के बाद वाजपेय, इसके बाद अश्वमेध, अश्वमेध के पश्चात् पुरुषमेध, पुरुषमेध के प्रतिपादन के बाद सर्वमेध, सर्वमेध के अनन्तर दक्षिणायुक्त यज्ञ तदनन्तर दक्षिणारहित याग और अन्त में सहस्र दक्षिणा यागों का सम्पादन किया जाता है।

□

तृतीय अध्याय

(१) द्रव्य विषयक मतभेद

(क) १– उद्भिजों से प्राप्त होम द्रव्य विषयक मतभेद

(आग्रयणेष्टि के असम्पादक यजमान द्वारा अग्निहोत्र में नवान्न हविष् प्रयोग विषयक मतभेद)

इस विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि अग्निहोत्र में भी नवान्नों का ही हविष् होना चाहिए। यदि वह यजमान दूध का हवन करता है तो गाय को नवान्न खिला कर उससे प्राप्त दूध से हवन करना चाहिए। (शत०ब्रा० २।४।३।१४)

याज्ञवल्क्य के मत से आग्रयणेष्टि किये बिना हविष में नवान्न का प्रयोग न करना चाहिए अन्यथा आग्रयणेष्टि के देवता इन्द्र और अग्नि का अग्निहोत्र के देवता के साथ कलह होगा। (शत०ब्रा० २।४।३।१४)

(क) २-- जरायुजों से प्राप्त होम द्रव्य विषयक मतभेत

(अग्निहोत्र में प्रयुक्त दूध के पाक कर्म में मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार अग्निहोत्र में प्रयोग किये जाने वाले दूध को बुदबुदे उठने के समय तक पकाना चाहिए। तभी उसकी उपयोगिता बढ़ता है। (शत०ब्रा०२।३।१।१४)

याज्ञवल्क्य इस मतका खण्डन करते हुए कहते हैं कि दूध को बुदबुदे उठने के समय तक न पकाना चाहिए नहीं तो दूध जल जायेगा। विना आग्नि पर रखे दूध का हवन भी नहीं करना चाहिए क्योंकि वह अग्नि का वीर्य है। (शत०ब्रा० २।२।४।१५) पकाने से जल न जाय इसलिए इसका पाक कर्म नहीं होना चाहिए।

वीर्य सदैव गर्म रहता है अतः दूध को थोड़ी देर अग्नि पर गर्म करने के बाद हवन करन चाहिए। (शत०ब्रा० २।३।१।१५)

(ख) उद्भिजों से प्राप्त याग द्रव्य विषयक मतभेद

(पुरोडाश-परिमाण विषयक मतभेद)

इस विषय का विवेचन करते हुए याज्ञवल्क्य पुरोडाश का बृहदाकार करने के पक्ष में नहीं प्रतीत होते। अध्वर्यु को कपालों की परिधि के अन्दर ही पुरोडाश को बढ़ाना चाहिए। इस मत की पुष्टि के लिए उनका कहना है कि बड़ा पुरोडाश करने पर वह कार्य मानुष होगा। यदि कपाल से बड़ा पुरोडाश हो गया तो वह यज्ञ से बाहर की वस्तु होगी। अध्वर्यु कहता है कि- "मैं ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता हूं जो यज्ञ के बाहर ही रहे (अर्थात् यज्ञ का अंग न बन सके)" अतः पुरोडाश का आकार बड़ा नहीं करना चाहिए। (शत०ब्रा० १।२।२।९)

इस विषय में तैत्तिरीयकों का मत है कि 'पुरोडाश को अश्व के टाप के बराबर बनाना चाहिए। (शत०ब्रा० १।२।२।१०) इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य तर्क प्रस्तुत करते हैं। "कौन जानता है कि अश्व का टाप कितना बड़ा होता है ?" (शत० ब्रा० १।२।२।१०)

पुरोडाश के आकार के विषय में याज्ञवल्क्य का मत है कि अध्वर्यु पुरोडाश को इतना बड़ा बनाए जितना उसके मन से बड़ा न प्रतीत हो। यावन्तमेव स्वय मनसा न सन्ना पृथुं मन्येतैवं कुर्यात्। (शत०ब्रा० १।२।२।१०)

(सौत्रामणी याग में अश्विनों के लिए द्विकपाल पुरोडाश प्रदान विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार यदि यजमान सौत्रामणी आहुति के द्वारा सोमातिपूत (शरीर से सोम निकलने की क्रिया) का समाधान करना चाहे तो उसे सविता देवता के लिए द्वादशकपालपुरोडाश अथवा अष्टाकपालपुरोडाश वरुण के लिए यव निर्मित चरु तथा इन्द्र के लिए द्वादशकपालपुरोडाश देना चाहिए। इस समय अश्विनों के लिए द्विकपालपुरोडाश बनाना चाहिए। अध्वर्यु वपा हविषों के साथ अश्विनों के लिए द्विकपालपुरोडाश के साथ प्रचरण करे। (शत०ब्रा० ५।५। ४।३३)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसा करने से यजमान यज्ञ मार्ग से च्युत होता है। ऋत्विज जब पशुओं की वपा के साथ हवन

करने केलिए प्रस्थान करें उसी समय उन तीन हविषों के साथ प्रचरण करना चाहिए तथा अश्विनों के लिए द्विकपालपुरोडाश देने की आवश्यकता नहीं है। (शत०ब्रा० ५।५।४।३४)

(पूर्णमास तथा दर्शयागों के साथ अतिरिक्त हविष्-निर्वाप के विषय में मतभेद)

इस विषय में दो पक्ष हैं—प्रथम पक्ष अनुनिर्वाप्य पक्ष है जिसके अनुसार पौर्णमासयाग के अनन्तर यजमान इन्द्रविमृध् के लिए एक अतिरिक्त पुरोडाश देता है तथा इसी प्रकार दर्शेष्टि कर लेने पर अदिति के लिए चरु का निर्वाप और गत हवन की तरह उसका भी हवन करता है। (शत०ब्रा० ११।१।३।१) इन्द्रविमृध् के लिए पुरोडाश देने का कारण यह है कि इन्द्र यज्ञ के देवता हैं। पौर्णमास हविष् अग्नि और सोमदेवता से सम्बन्धित होता है। उसमें 'इन्द्राय त्वा' यह कह कर कोई भी आहुति नहीं दी जाती। इस हविष् प्रदान के अनन्तर इन्द्र का भाग दिया जाता है तथा यज्ञ भी इन्द्र से युक्त होता है। (शत०ब्रा० ११।१।३।२) 'इन्द्रविमृधेत्वा' यह कह कर पुरोडाश देने का कारण यह है कि पौर्णमास याग से इन्द्र सभी मृधों (निन्दकों) को नष्ट करते हैं। (शत०ब्रा०११।१।३।२)

दर्शयाग के पश्चात् अदिति को चरु प्रदान किया जाता है क्योंकि सोम राजा ही चन्द्रमा हैं जो देवों के अन्न हैं। दर्श में पूर्व और पश्चिम दृष्टिगत न होने के कारण इस समय दिया जाने वाला हविष् अनिश्चित होता है। अदिति पृथ्वी है जो निश्चित तथा प्रतिष्ठित है। उसके लिए दिया जाने वाला हविष् निश्चित तथा प्रतिष्ठित होता है। (शत०ब्रा० ११।१।३।३)

द्वितीय पक्ष अननुनिर्वाप्य पक्ष है। इसके अनुसार अतिरिक्त हविष् का निर्वाप नहीं करना चाहिए। इन्द्र विमृध् के लिए पुरोडाश का विधान यज्ञ से इन्द्र को सम्बन्धित करने के लिए होता है। इन्द्र का सहभाव सदैव रहता है क्योंकि 'यज्ञ इन्द्रस्यैव (सभी यज्ञ इन्द्र के ही हैं)' इस श्रुति से स्पष्ट है कि यज्ञ इन्द्र से सम्बन्धित हैं। अतः अनुनिर्वाप से सम्बन्ध स्थापित करना उचित नहीं है। (शत०ब्रा० ११।१।३।४)

दर्शयाग के अनन्तर अदिति के लिए चरु का विधान भी उचित नहीं क्योंकि दर्श स्वयं अनुनिर्वाप्य है। पौर्णमास याग से इन्द्र ने वृत्र का वध किया था। उसके लिए देवताओं ने अतिरिक्त हविष् दर्श का निर्वाप किया था इसलिए एक बार अनुनिर्वाप हो जाने पर पुनः अनुनिर्वाप की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

(शत०ब्रा० ११।१।३।५) जो व्यक्ति अनुनिर्वाप करता है वह अपने विरोध में अपने शत्रु को उद्यत करता है। जो यजमान पौर्णमास तथा दर्शयाग का सम्पादन क्रमशः पौर्णमासी तथा अमावास्या में करता है वह शत्रुरहित तथा बाधारहित होता है। (शत०ब्रा० ११।१।३।३) पूर्णमासी को पौर्णमासयाग तथा अमावास्या को दर्शयाग के सम्पादन से देवताओं ने शीघ्र ही पाप को दूर कर पुत्र-पौत्र से युक्त समृद्धि को प्राप्त किया। (शत०ब्रा० ११।१।३।७)

(अश्वमेधयाग समाप्ति पर दातव्य हविष् के विषय में मतभेद)

अवभृथ स्नान के अनन्तर अध्वर्यु ब्राह्मणों के लिए पकाये गये चावल के द्वादश चरु का निर्वाप करता है (शत०ब्रा०१३।३।६।६)

अन्य आचार्यों का मत है कि अग्निदेवता के लिए द्वादशकपालपुरोडाश देना चाहिए क्योंकि इन इष्टियों के करने से यज्ञ का सम्पादन होता है। यदि यजमान इन इष्टियों को सम्पन्न करता है तो यज्ञ उसके प्रति नम्र बनता है। शत०ब्रा० १३।३।६।६)

इस पक्ष की निन्दा करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं। वह यजमान पापीयान् होगा। सोमयाजी के लिए याज्या मन्त्र शक्तिहीन हो गए हैं। उनमें वह शक्ति नहीं रह गयी जो पहले थी। उन मन्त्रों को शीघ्र ही कार्य में नहीं ले आया जा सकता क्योंकि जब यज्ञ पूर्ण होता है तब वाणी पूर्ण रुप से प्राप्त होने के बाद इसकी शक्ति का ह्रास हो जाता है। वाणी ही यज्ञ है अतः द्वादश हविष् से युक्त इष्टि का विधान नहीं होना चाहिए। (शत०ब्रा० १३।३।६।६)

याज्ञवल्क्य प्रथम मत से ही सहमत प्रतीत होते हैं। द्वादश ब्रह्मौदन चरु के निर्वापार्थ मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि ओदन प्रजापति है, वह संवत्सर है, प्रजापति यज्ञ हैं। इस प्रकार यजमान संवत्सर तथा यज्ञ की प्राप्ति करता है और यज्ञ उसके प्रति नम्र बनने के लिए तैयार होता है साथ ही साथ वह यजमान पापीयान् भी नहीं होता। (शत०ब्रा० १३।३।६।७)

त्र्यम्बकेष्टि में पुरोडाशाभिघारण-विषयक मतभेद)

तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार रुद्र को दिये जाने वाले पुरोडाशों का, जो संख्या में यजमान के परिवार तथा उसके सम्बन्धियों की संख्या से एक अधिक होते हैं, घी से अभिघारण करना चाहिए क्योंकि जो भी हविष् दिया जाता है वह घी से चुपड़ा होता है। (शत०ब्रा० २।६।२।६)

याज्ञवल्क्य का मत है कि पुरोडाशों का अभिघारण नहीं होना चाहिए क्योंकि घी पशुओं से प्राप्त होता है। यदि उन पुरोडाशों का अभिघारण किया जायगा तो घी के कारणभूत पशुओं के लिए भी रुद्र की तृष्णा बढ़ेगी। (शत०ब्रा० २।६।२।६)

(ग) उद्भिजों तथा जरायुजों में पशुओं की जीवितावस्था से प्राप्त द्रव्यों में मतभेद।

(आग्रयणेष्टि में द्यावा पृथिवी के लिए दातव्य हविर्द्रव्य विषयक मतभेद)

द्यावापृथिवी के लिए एक कपाल पुरोडाश देने का विधान है क्योंकि एक कपाल के समान ही पृथिवी एकाकार है। (शत०ब्रा० २।४।३।८)

अन्य आचार्य इस मत को दोषयुक्त बताते हैं। कारण यह देते हैं कि किसी भी याग में जिस देवता को हविष् प्रदान किया जाता है उसमें स्विष्टकृत् का भाग होता है किन्तु यहाँ सब कुछ हवन कर दिया जाता है और स्विष्टकृदग्नि के लिए कुछ शेष नहीं बचता। फल यह होता है कि जाने वाली वस्तु ऊपर न जाकर नीचे वापस आती है। (शत०ब्रा० २।४।३।६) एक कपालपुरोडाश के नीचे वापस लाने से राष्ट्र में अनियन्त्रण होता है। (शत०ब्रा० २।४।३।१०)

इन दो दोषारोपणों के विषय में याज्ञवल्क्य का कथन है कि एककपालपुरोडाश का प्रत्यावर्तन निन्दा नहीं है। यदि एक बार भी प्रत्यावर्तन हो तो भी इसका आदर नहीं करना चाहिए क्योंकि हविष् देवता के उद्देश्य से ही दिया जाता है। इस प्रकार एक ही निन्दा शेष रहती है कि स्विष्टकृत् अग्नि का भाग नहीं लगाया जाता। इस निन्दा से भी बचने के लिए एक कपालपुरोडाश का हवन न करके आज्य दिया जाना चाहिए। ध्रुवा में रखे हुए आज्य का चतुर्थांश लेकर द्यावा-पृथ्वी के लिए यजन करना चाहिए। आज्य द्यावापृथ्वी का प्रत्यक्ष रस है क्योंकि उसमें द्रवत्व है। यव और व्रीहि परोक्ष रस हैं क्योंकि उसमें काठिन्य है। अतः यजमान को प्रत्यक्ष रस (आज्य) से ही यजन करना चाहिए। (शत०ब्रा० २।५।३।१०)

(आग्रयणेष्टि में विश्वेदेवों के लिए नवान्ननिर्मित चरु अथवा प्राचीनान्न निर्मित चरु प्रदान के विषय में मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार देवताओं में प्रजा होने के कारण विश्वेदेवों के लिए प्राचीनान्ननिर्मित चरु का तथा क्षत्र (क्षत्रिय) होने के कारण इन्द्र और अग्नि को नवान्ननिर्मित पुरोडाश का विधान करना चाहिए। क्षत्र को साधारणजन की

श्रेणी से अलग रखने के लिए ही विश्वेदेवों को प्राचीनान्ननिर्मित चरु दिया जाता है। (शत०ब्रा० २।४।३।६)

इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य अपना मत प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार पुरोडाश और चरु दोनों ही नवान्ननिर्मित होने चाहिए। एक के लिए चरु है तथा दूसरे के लिए पुरोडाश, इस प्रकार क्षत्र को साधारण जनसमूह से अलग ही रखा जाता है फिर अन्न-भेद क्यों किया जाय ? (शत०ब्रा० २।४।३।७)

(आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक रूप वाले पूर्णमास तथा दर्शयाग प्रयुक्त द्रव्य विषयक मतभेद)

दर्श तथा पूर्णमास के विषय में आधिदैविक रूप से मीमांसा—

सूर्य प्रतिदिन पूर्ण रहता है। इसलिए पूर्णमास सूर्य है तथा चन्द्रमा अमावास्या को दिखायी नहीं पड़ता, प्रतिपदा के बाद दृष्टिगत होने के कारण दर्श चन्द्रमा है। (शत०ब्रा० ११।२।४।१) दूसरे प्रकार से यह कह सकते हैं कि पूर्णमास चन्द्रमा है क्योंकि चन्द्रमा के पूर्ण हो जाने पर पूर्णमास की रात्रि होती है। दर्श सूर्य है क्योंकि वह जैसा है उस रूप में दृष्टिगत होता है।(शत०ब्रा० ११।२।४।२) पूर्णमास यह पृथ्वी है क्योंकि वह पूर्ण है और दर्श द्यौ (आकाश) है क्योंकि आकाश अपने रूप में ही दिखायी पड़ता है। (शत०ब्रा० ११।२।४।३)

पूर्णमास रात्रि है क्योंकि आधिदैविक रुप से दर्श तथा पूर्णमास के विषय में मीमांसा है। शत०ब्रा० ११।२।४।४)

दर्श तथा पूर्णमास के विषय में आध्यात्मिकी मीमांसा—

पूर्णमास उदान है क्योंकि उदान से यह पुरुष पूर्ण होता है। दर्श प्राण है क्योंकि यह प्राण प्रत्यक्ष है। इस प्रकार पूर्णमास तथा दर्श अन्न के भोक्ता तथा प्रदाता हैं (शत०ब्रा० ११।२।४।५) प्राण अन्न का भोक्ता है क्योंकि प्राणकी सहायता से ही अन्न का उपभोग किया जाता है। उदान अन्नदाता है क्योंकि उदान के द्वारा अन्न दिया जाता है। (शत०ब्रा० ११।२।४।६)

पूर्णमास मन है क्योंकि मन पूर्ण है, दर्श वाणी है क्योंकि वाणी प्रत्यक्ष है इस तरह ये दोनों स्पष्ट रुप से शरीर से सम्बन्धित हैं। उपवसथ के दिन यजमान व्रतोपानीय (व्रत के दिन के खाद्यान्न) का भक्षण करता है। इस प्रकार यजमान आध्यात्म रूप सेप्रत्यक्षदर्श तथा पूर्णमास का तर्पण करता है। दूसरे दिन प्रातः-

काल सम्पाद्य यज्ञ के द्वारा अधिदेवों को सन्तुष्ट करता है। (शत०ब्रा० ११।२।४।७)

इस विषय में ब्रह्मवादियों का मत है कि न तो पूर्णमास के लिए हविष् ग्रहण किया जाता है न तो दर्श के लिए ही। पूर्णमास तथा दर्श में पुरोनुवाक्या और याज्या का पाठ तथा प्रैष मन्त्र भी नहीं विहित हैं। इनके अभाव में पूर्णमास और दर्श का यजन कैसे सम्पन्न हो सकता है ? (शत०ब्रा० ११।२।४।८)

याज्ञवल्वय के कथनानुसार जब वह मन के लिए घी का आघार देता है तो उसका यजन हो जाता है। वाणी दर्श है अतः जिस आघार को वाणी के निमित्त प्रदान किया जाता है उससे दर्श का यजन होता है। इस प्रकार यजमान के पूर्णमास तथा दर्श का विधिवत् अनुष्ठान होता है। (शत०ब्रा० ११।२।४।८)

कुछ आचार्य आज्य के दो आघारों के स्थान पर दो चरु का निर्वाप करते हैं, पूर्णमास में सरस्वत् के लिए तथा दर्श में सरस्वती के लिए। उनका विचार है कि इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शपूर्णमास का यजन होता है (शत०ब्रा० ११।२।४।९)

याज्ञवल्क्य द्वितीय मत का खण्डन करके प्रथम मत की पुष्टि करते हैं। उनके मतानुसार सरस्वत् (सरस्वान्) मन है और सरस्वती वाणी है। मन और वाणी के लिए किए गए दो आघार सरस्वत् तथा सरस्वती से युक्त हैं। अतः उन देवताओं को प्राप्त होने वाला चरुद्वय आघारों से ही सिद्ध होता है। उनके अनुसार सरस्वती और सरस्वान् ही वाणी और मन हैं अतः देवता भेद तो हुआ नहीं इस कारण आघार पक्ष ही उचित है। (शत०ब्रा० ११।२।४।९)

(घ) दक्षिणा द्रव्य विषयक मतभेद

(त्रिरात्र यज्ञ की दक्षिणा के विषय में मतभेद)

कुछ आचार्यो के मतानुसार त्रिरात्र यज्ञ की दक्षिणा में एक सहस्र गायों से अधिक कुछ भी नहीं देना चाहिए क्योंकि उतने से ही यजमान को सब कामों की प्राप्ति होती है। (शत०ब्रा० ४।५।८।१४)

याज्ञवल्क्य आचार्य आसुरि के मत को प्रस्तुत करते हैं। आचार्य आसुरि के मत से एक सहस्र गायों के अतिरिक्त यदि वह यजमान ऋत्विजों को दक्षिणा में कुछ अन्य वस्तुएँ भी देना चाहे तो दे सकता है। एक सहस्र से वह अपने सब कामों की प्राप्ति कर लेता है। अतिरिक्त दान इच्छानुसार दिया जाता है। (शत०ब्रा० ४।५।८।१४)

यजमान यदि ऋषभों से युक्त रथ अथवा अन्य कोई वस्तु देना चाहे तो उसे वशा गाय (वन्ध्या गया) की वपा होम के अनन्तर अथवा उदवसानीयेष्टि के समय देना चाहिए। (शत०ब्रा० ४।५।८।१५)

(अंशु ग्रह की दक्षिणा के विषय में मतभेद)

अंशु ग्रह की दक्षिणा प्रथम गर्भवाली द्वादश गायें हैं इसका कारण यह है कि एक वर्ष में द्वादश मास होते हैं। द्वादश गायें तथा उन गायों के द्वादश गर्भ मिलकर चौवीस होते हैं तथा एक वर्ष में चौबीस अर्द्धमास होते हैं। प्रजापति सवत्सर है और अंशु प्रजापति है। इस प्रकार अध्वर्यु यजमान को प्रजापति बनाता है। शत०ब्रा० ४।६।१।१२)

कौकूस्त को उदाहरण स्वरुप प्रस्तुत करके याज्ञवल्क्य कहते हैं कि कौकूस्त ने प्रथम गर्भवाली चौबीस गायों के साथ एक ऋषभ दिया जो संख्या में पच्चीस हुए। इसके अतिरिक्त स्वर्ण भी दिया। (शत०ब्रा० ४।६।१।१३)

(त्रिरात्र यज्ञ की दक्षिणा में दी जाने वाली साहस्री गाय के वर्ण-विषय में मतभेद)

सहस्रदक्षिणत्रिरात्र (जिसमें पुरोहितों को एक सहस्र गायें दक्षिणा में दी जाती हैं) में प्रतिदिन दक्षिणार्थ तीन सौ तैंतीस गायें दी जाती हैं। इस प्रकार तीन दिन में नौ सौ निन्यानबे गायें दक्षिणार्थ दी जाती हैं। साहस्री (एक सहस्र दक्षिणा की एक गाय) जो प्रथम दिन ले आयी जाती है उसके वर्ण में मतभेद है।

कुछ आचार्यों के मतानुसार उसे तीन वर्णों से युक्त होना चाहिए क्योंकि वह साहस्री का सबसे पूर्ण रूप है। (शत०ब्रा० ४।५।८।२)

याज्ञवल्क्य का मत है कि साहस्री गाय रक्तवर्ण (रोहिणी) होनी चाहिए और साथ ही चितकबरी भी। यह उसका सर्वोत्तम रूप होगा। (शत० ब्रा० ४।५।८।२।)

(चयनकर्म सम्बन्धिनी दक्षिणा के विषय में मतभेद)

कतिपय याज्ञिकों के मतानुसार चयन कर्म के समय भी यजमान को दक्षिणा देना चाहिए अन्यथा उसका यज्ञ दक्षिणा से रहित होगा। आदिष्ट दक्षिणा ब्रह्मा को दी जानी चाहिए क्योंकि ब्रह्मा सम्पूर्ण यज्ञ है। इस प्रकार सम्पूर्ण याग की चिकित्सा हो जाती है। (शत०ब्रा० ६।२।२।४०)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करके चयन कर्म में दक्षिणा न देने का मत प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार से यजमान दक्षिणा देकर इस याग को इष्टका याग बनाता है। फलतः वह प्रति इष्टका दक्षिणादान का विधान करता है। दक्षिणा उचित समय पर ही दी जानी चाहिए। (शत०ब्रा० ६।२।२।४०)

२– देवता विषयक मतभेद

(क) अन्तरिक्ष देवता विषयक मतभेद

(सान्नाय्य प्राप्तकर्ता देवता विषयक मतभेद)

सोमयाजी (जिस यजमान ने सोमयाज कर लिया है) को इन्द्र के लिए सान्नाय्य देना चाहिए।

तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार (तै०सं० २।५।४।४) सान्नाय्य 'महेन्द्राय सान्नाय्यम्' कह कर देना चाहिए क्योंकि वृत्र-हनन के पूर्व इन्द्र थे किन्तु वृत्र-हनन के अनन्तर वे महेन्द्र हो गये। उदाहरणस्वरूप आज भी विजयोपरान्त एक राजा को 'महाराज' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। (शत०ब्रा० १।६।४।२१)

इस मत का निषेध करके याज्ञवल्क्य कहते हैं कि 'इन्द्राय' कह कर सान्नाय्य देना चाहिए। महेन्द्र को सम्बोधित करके नहीं क्योंकि वृत्र-हनन के पहले भी इन्द्र थे और बाद में भी। (शत०ब्रा० १।६।४।२१)

(ख) भावात्मक देवता सम्बन्धी मतभेद

(प्रजापति सम्बन्धी सत्रहवें पशु के देवता के विषय में मतभेद)

वाजपेययाग में प्रजापति के लिए सत्रह पशुओं का आलम्भन किया जाता है। सत्रहवां पशु वागदेवता को दिया जाय या प्रजापति को, इस विषय में मतभेद है—

अनेक आचार्यों के मतानुसार सत्रहवें पशु का आलम्भन वाक् (वाणी) देवता के लिए होना चाहिए क्योंकि यदि प्रजापति के अतिरिक्त कोई वस्तु हो सकती है तो वह वाणी ही है। इस प्रकार यजमान वाणी को प्राप्त करता है। (शत०ब्रा० ५।१।३।११)

याज्ञवल्क्य इस मत का विरोध करके कहते हैं कि यहाँ जो कुछ भी है वह प्रजापति का ही रूप है। ये लोक तथा इन लोकों का वाग्व्यापार प्रजापति के ही रूप हैं। इसलिए वाक् (वाणी) के लिए सत्रहवें पशु का विधान करने वाले मन

का समादर न करके उस पशु को प्रजापति के लिए देना चाहिए। प्रजापति को पशु देने से वह यजमान अन्य वस्तुओं के साथ वाणी को भी प्राप्त करता है। (शत०ब्रा० ५।२।३।११)

(ग) भावात्मक देव तथा देवगण विषयक मतभेद

(अश्वमेध याग में अश्वालम्भन सम्बन्धी देवता के विषय में मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार अश्वालम्भन सब देवताओं के लिए होना चाहिए क्योंकि 'स्वगा त्वा देवेभ्य:', 'तं बधान देवेभ्य:' आदि उद्धरणों से विदित होता है कि अश्व सब देवताओं के लिए दिया जाता है। (शत०ब्रा० १३।३।४।१)

अन्य आचार्यों के मतानुसार प्रजापति के लिए ही अश्व का आलम्भन होना चाहिए। (शत०ब्रा० १३।३।४।१)

याज्ञवल्क्य इस द्वितीय मत के विरोध में कहते हैं कि कोई यजमान प्रजापति के लिए ही अश्वालम्भन करता है तो वह उसमें भाग प्राप्त करने वाले देवताओं को उनके अंशों से रहित करता है। (शत०ब्रा० १३।३।४।१) क्योंकि अश्व में अनेक देवताओं को भाग प्रदान किया जाता है। इस दोष के परिहारार्थ प्रजापति के लिए अश्वालम्भन करके शाद नाम के देव को 'शादं दद्भिरवकां दन्तमूलै:' (शु०य०सं० २५।१) इसी प्रकार अन्य देवताओं को भी प्रसन्न करना चाहिए। आज्यावदान के अनन्तर मन्त्र पाठ करके आज्य को ही अश्वांग मान कर अवदान के समय शाद, वात, मशक, अग्नि, इन्द्र, इन्द्राग्नी, पूषा आदि देवताओं का नामोल्लेख करके उन देवताओं के लिए आहुति का हवन करना चाहिए। ये हवन के मन्त्र शुक्लयजुर्वेद वाजसनेयि संहिता (२५।१-९) में प्राप्त हैं। इस प्रकार अश्व में अंश प्राप्तकर्ता देवताओं को समृद्ध किया जाता है। अवभृथ में 'पृथिवीं त्वचा प्रीणामि स्वाहा' (श०य०सं० २५।९), 'जम्बुकाय स्वाहा' (शु० य० स० २५।९) इन मन्त्रों से होम होता है। इसके पश्चात् विश्वेदेवों के लिए हृदयादि का हवन होता है। हवनान्तर शुक्लयजुर्वेद संहिता ३९।१३ के मन्त्र से द्यावा पृथिवी को आहुति प्रदान करना चाहिए क्योंकि द्यावा पृथिवी पर ही सब देवता प्रतिष्ठित हैं। (शत० ब्रा० १३।३।४।१)

(घ) देवता सामान्य विषयक मतभेद

(शुक्र और मन्थिन ग्रह–ग्रहण तथा होम सम्बन्धी देवता के विषय में मतभेद)

शुक्र और मंथी ग्रह यज्ञ की दो आखें हैं। शुक्र सूर्य है तथा मंथी चन्द्रमा। सूर्य चमकता है इसलिए शुक्र है। (शत०ब्रा० ४।२।१।१) मंथीग्रह में सत्तू के मिश्रण से

मंथी निर्मित होता है। दोनों (सूर्य और चन्द्रमा) प्रजा की आखें हैं क्योंकि इन दोनों के उदय न होने से कोई भी व्यक्ति अपने ही हाथों को नहीं पहचान सकता। (शत०ब्रा० ४।२।१।२) शुक्र भोक्ता है तथा मंथी भोज्य। (शत०ब्रा० ४।२।१।३) शण्ड और मर्क के लिए दोनों का ग्रहण तथा देवताओं के लिए हवन होता है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए अभिज्ञ जन आख्यायिका प्रस्तुत करते हैं—

शण्ड और मर्क नाम के दो राक्षस थे। देवताओं ने सब असुर राक्षसों को तो भगा दिया किन्तु वे इन दोनों को पराजित न कर सके। वे देवताओं के द्वारा सम्पादित होने वाले याज्ञिक कर्म में विघ्न डालकर शीघ्रतापूर्वक भाग जाते थे। (शत०ब्रा० ४।२।१।५) देवताओं ने इन्हें दूर करने के विषय में विचार किया कि 'इन दोनों राक्षसों के लिए ग्रह-ग्रहण किया जाय। जब वे उनके लिए आएंगे तब हम लोग उन्हें पकड़ कर पराजित करेंगे।' जब उनके लिए सोम ग्रहों का ग्रहण किया गया, ये दोनों नीचे आ गये और देवों ने उन्हें पराजित किया इसलिए शण्ड और मर्क को ही उद्देश्य कर दोनों ग्रहों का ग्रहण होता है तथा देवताओं के लिए हवन होता है। (शत०ब्रा० ४।२।१।६)

याज्ञवल्क्य का मत है— 'क्या हम देवताओं के लिए ही होम के समान इन दोनों ग्रहों का ग्रहण भी न करें क्योंकि यह तो विजय का चिह्न है।' (शत०ब्रा० ४।२।१।७) याज्ञवल्क्य ने यह विचार किया परन्तु कार्यरूप में परिणत नहीं किया।

(३) मन्त्र विषयक मतभेद

(क) शुक्ल-यजुर्वेद संहिता में प्राप्त मन्त्रों के विषय में मतभेद

१— मन्त्र-पाठ भेद विषयक मतभेद

(शब्द सयोगकृत पाठभेद विषयक मतभेद)

दर्शयाग के विषय में यह निर्देश है दूसरे दिन महेन्द्र के लिए सान्नाय्य का विधान होने के कारण उसकी प्राप्ति के लिए दधि की आवश्यकता पड़ती है। अध्वर्यु बछड़ों को गायों से अलग कर लेता है और गायें चरागाहों में पहुंचा दी जाती हैं। सायंकाल उनके वापस आ जाने पर जिस क्रम से अध्वर्यु ने उन्हें अलग किया था उसी क्रम से वह बछड़ों को गायों के समीप करता है। पलाश की शाखा से उनका स्पर्श करता है। स्पर्श करने के साथ ही साथ 'वायवः स्थ' (शु० यजु० स० १।१) मन्त्र का भी उच्चारण करता है। (शत०ब्रा० १।७।१।३)

इसके विपरीत तैत्तिरीय शाखा के आचार्य 'वायवः स्थ' के स्थान पर 'उपायवः स्थ' (त०सं० १।१।१) का उच्चारण करते है। (शत०ब्रा० १।७।१।३)

इस मत के विरोध में याज्ञवल्क्य का कहना है कि 'उपायवः स्थ' नहीं कहना चाहिए क्योंकि उसका अर्थ द्वितीय और द्वितीय का अर्थ शत्रु होता है। उप के उच्चारण से शत्रु यजमान के समीप आता है। इसलिए शत्रु से यजमान के रक्षार्थ 'वायवः स्थ' का ही उच्चारण करना चाहिए। (शत०ब्रा० १।७।१।३)

(अनुचित शब्दक्रम कृत पाठभेद विषयक मतभेद)

अग्नि स्विष्टकृत् के यजनार्थ अध्वर्यु के द्वारा 'अग्निं स्विष्टकृत यज' से आदिष्ट होकर होता अधोलिखित निगद का पाठ करता है।

'ये यजामहे अग्निं स्विष्टकृतमयऽग्निरग्नेः प्रियाधामान्ययाट् सोमस्य प्रियाधामान्ययाडग्नेः प्रिया धामान्ययाट् ॥ (शु०य०सं० १६।२४), (शत०ब्रा० १।७।३।११)

इस निगद मन्त्र में अयाडग्निरग्नेः प्रियाधामानि अयाट् सोमस्य प्रियाधामानि' इस प्रकार का पाठक्रम मिलता है।

इसके विपरीत तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार 'अयाट्' शब्द के पूर्व देवता का नाम रखना चाहिए। जैसे 'अग्नेरयाट् सोमस्यायाट्। (शत० ब्रा० १।७।३।१२)

याज्ञवल्क्य के द्वारा यह मत समादृत नहीं है। उनके विचार से इस प्रकार के याज्ञिक आचार्य यज्ञ के विपरीत ही कार्य करते हैं। इसलिए यज्ञ को अपूर्णता से बचाने के लिए शब्दक्रम में स्थानान्तरण करके आयाट्कार को पहले ही रखना चाहिए। (शत० ब्रा० १।७।३।१२)

(कुछ शब्दों के स्थान अन्य शब्दों के रखने से उत्पन्न मतभेद विषयक मतभेद)

वाजपेय याग में यजमान के अभिषेकार्थ मन्त्रों के विषय में मतभेद है। अध्वर्युदेवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिचाम्यसौ (शु०य०सं० ६।३०) इस मन्त्र से यजमान का अभिषेक करता है। (शत० ब्रा० ५।२।२।१३)

अन्य आचार्यों के मतानुसार "सरस्वत्यै वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि' के स्थान पर "विश्वेषां त्वा देवानां यन्तुर्यन्त्रिये दधामि' का उच्चारण करना चाहिए क्योंकि विश्वेदेव सब कुछ हैं। इस प्रकार अध्वर्यु यजमान को सब देवों की अभ्यनुज्ञा में रखता है। (शत० ब्रा० ५।२।२।१४)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करके 'सरस्वत्यै त्वा वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधामि' का ही उच्चारण करने के लिए अपना मत प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार

से सरस्वती वाणी है। उपर्युक्त कथन से यजमान को वाणी की अभ्यनुज्ञा में रखा जाता है। 'बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चाम्यसौ' (शु०य०सं० ९।३०) इस मन्त्र के साथ अध्वर्यु यजमान का नाम–ग्रहण करता है और यह यजमान को बृहस्पति के सायुज्य तथा सलोकता को प्राप्त कराता है। (शत० ब्रा० ५।२।२।१४)

(शतरुद्रिय होम के अवसर पर प्रयुक्त मन्त्र सम्बन्धी पाठभेद)

शतरुद्रिय कर्म में होम के अवसर पर भयभीत यजमान अध्वर्यु के मुख से दसों दिशाओं में वर्तमान रुद्र को नमस्कार करता है। अध्वर्यु 'तेभ्यो नमो अस्तु' का उच्चारण करता है। उसके बाद 'तेनोमृडयन्तु' तथा 'ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः' (शु०व०सं० १६।३६) मन्त्रों के उच्चारण से यजमान के लिए सुख की प्रार्थना करके, यजमान जिनसे द्वेष करता है तथा यजमान से जो द्वेष करते हैं उन दोनों को ही रुद्र के हनू (जबड़ों) में रखता है। (शत० ब्रा० ६।१।१।३८)

अन्य शाखा के आचार्य 'तमेषां जम्भे दध्मः' के स्थान पर 'अमुमेषां जम्भे दधामि, का उच्चारण करने के लिए विधान करते हैं और 'अमुम्' के स्थान पर यजमान जिससे द्वेष करे उसका नाम रखने का आदेश देते हैं। (शत० ब्रा० ६।१।१।३९)

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हुए कहते हैं कि यजमान जिससे द्वेष करता है उसके लिए निर्देश की सिद्धि 'यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां' इस अभिधान से ही हो जाती है। इसलिए मन्त्र में पाठभेद की आवश्यकता नहीं है। (शत० ब्रा० ६।१।१।३८)

शतरुद्रिय कर्म के प्रसंग में ही ऋत्विज और यजमान क्षुधा के प्रतीक एक पाषण खण्ड को जल से भरे घट में रख कर उस घट का निर्ऋति दिशा की ओर प्रक्षेपण करते हैं। इस प्रकार शोक को निर्ऋति की दिशा में रखा जाता है। (शत०ब्रा० ६।१।२।९) शतरुद्रिय कर्म के समय देवताओं में अग्निरुद्र को शतरुद्रिय और जल से शान्त करके उसके शोक तथा पाप को दूर किया था उसी प्रकार यजमान भी अग्निरुद्र को शतरुद्रिय और जल से शान्त करके शोक और पाप को दूर करता है। (शत० ब्रा० ६।१।२।१०) इस घट का प्रक्षेपण अग्निवेदी से बाहर किया जाता है। ऐसा करने से शोक को तीनों लोकों से बाहर रखा जाता है क्योंकि यह अग्निवेदी तीनों लोक है। वेदी पृथ्वी है जिसके बाहर दुख को रखा जाता है। (शत० ब्रा० ६।१।२।११) घट-प्रक्षेपण के समय कौन सा मन्त्र प्रयुक्त किया जाय इस विषय में मतभेद है।

याज्ञवल्क्य के सम्प्रदायानुसार वेदी की दक्षिण श्रोणी पर स्थित होकर अध्वर्यु पूर्व की ओर मुख करके 'यंद्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु' (शु०य०सं० १७।१) मन्त्र से दक्षिण दिशा को ओर घट का प्रक्षेपण करता है। (शत० ब्रा० ९।१।२।१२)

अन्य आचार्यों के मतानुसार 'यंद्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु' के स्थान पर 'यं द्विष्मः अमुंते शुगृच्छतु' का उच्चारण करना चाहिए। 'अमुम्, के स्थान पर जिससे यजमान द्वेष करे उसका नाम रख देना चाहिए। इस प्रकार यजमान से द्वेष करने वाला कोई शेष नहीं बचता। (शत० ब्रा० ९।१।२।१२)

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हैं। उनके विचार से यजमान जिससे द्वेष करता है, वह तो स्वयं निर्दिष्ट है। (शत०ब्रा० ९।१।२।१२)

२—मन्त्र चयन विषयक मतभेद

(अग्निहोत्र होमार्थं सायं प्रातः प्रयुक्त मन्त्र सम्बन्धी मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार सायंकाल 'अग्निर्ज्योतिज्योतिरग्निः स्वाहा' (शु०य०सं० ३।९) मन्त्र से तथा प्रातःकाल 'सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा।' (शु०य०सं० ३।९) मन्त्र से आहुति देनी चाहिए क्योंकि अस्त हुआ सूर्य अग्नि में ही प्रवेश करता है और अग्नि ही प्रकाश रूप होता है। सूर्योदय होने पर अग्नि सूर्य में प्रवेश करता है और दिन में सूर्यं ही प्रकाश रूप होता है। सायं और प्रातः दोनों समय 'अग्निर्ज्योतिः' तथा 'सूर्यज्योतिः' ये दोनों मन्त्र के वाक्य सत्य हैं। इस प्रकार आहुति सत्य से युक्त होती है और जो कुछ भी सत्य से युक्त होता है वह देवताओं को प्राप्त होता है (शत० ब्रा० २।३।१।३०)

तक्षा ने ब्रह्मवर्चसकाम आरुणि के लिए अधोलिखित मन्त्रों का प्रयोग किया था। सायंकाल 'अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा' सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा' (शु०य०सं० ६।९, शत०ब्रा० २।३।१।३१) तथा 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा'। (शु०य०सं० ३।९, शत०ब्रा० २।३।१।३२) प्रातःकाल 'सूर्योर्ज्योतिज्योतिः सूर्यः स्वाहा' (शु०य०स० ३।९)। सायंकालिक मंत्र के द्वारा हवन करने पर यजमान ब्रह्मवर्चस् प्राप्त करता है । प्रातःकालिक मन्त्र प्रजनन रूप है। इस मन्त्र में दोनों ओर अग्नि देवता नाम वाची पद हैं। इस तरह वीर्य देवताओं से आवृत है जिससे प्रजनन होता है तथा मन्त्र से प्रजा की समृद्धि होती है। (शत०ब्रा० २।३।१।३३)

आचार्यं जीवल के मतानुसार उपर्युक्त मन्त्र में वीर्य आवृत हैं, वह गर्भ में ही रहता है प्रजारूप में उत्पन्न नहीं होता इसलिए यह दोषपूर्ण है। (शत०

ब्रा० २।३।१।३४) स्वमत प्रस्तुत करते हुए जीवलाचार्य का कहना है कि सायंकाल यजमान 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' मन्त्र से तथा प्रातःकाल ज्योतिः सूर्यः सूर्योज्योतिः स्वाहा'। (शु० य० सं० ३।९३।) मन्त्र से होम सम्पन्न करें। इस प्रकार प्रजनन शील प्रकाश रूपी वीर्य को बाहर किया जाता है। (शत०ब्रा० २।३।१।३५)

इस मत के विषय में कुछ आचार्य आक्षेप करते हैं। उनके विचार से यह विधान सूर्योदय के अनन्तर आहुति देने वाले के लिए है। सूर्योदय के पूर्व हवन सम्पादक के लिए नहीं क्योंकि सूर्यास्त होने पर अग्नि ज्योति है तथा सूर्योदय होने पर सूर्य ज्योति है। इसमें दोष यह है कि अग्निहोत्र के देवता के लिए पृथक् पृथक् आहुति का विधान नहीं है।

याज्ञवल्क्य अनिद्य पक्ष प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार सायंकाल सजूर्देवेनसवित्रा सजूरात्रेन्द्रवत्या जुषाणो अग्निर्वेत्तु स्वाहा। (शु० य० सं० ३।१०) मन्त्र से अग्नि में प्रत्यक्ष हवन करना चाहिए। (शत० ब्रा० २।३।१।३७) तथा प्रातःकाल 'सजूर्देवेनसवित्रा सजूरुषसेन्द्रवत्या। जुषाणः सूर्योवेत्तु स्वाहा। (शु० य० सं० ३।१०) मन्त्र से सूर्य को प्रत्यक्ष हवन सम्पादित करना चाहिए। (शत० ब्रा० २।३।१।३८)

(उपनयन संस्कार में आचार्य द्वारा उपदिष्ट सावित्री ऋचा-छन्द विषयक मतभेद)

ऋग्वेदीय आचार्य सावित्री का अनुवचन अनुष्टुप् छन्द में करते हैं जो अधोलिखित है—

तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्।
श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥ (ऋ० सं० ५।८२।१)

उनके विचार से अनुष्टुप् वाणी है, इसलिए उत्पन्न माणवक (ब्रह्मचारी) में वाणी की स्थापना की जाती है। (शत० ब्रा० ११।५।४।१३)

याज्ञवल्क्य इस मत के विरोध में कहते हैं कि ऐसी स्थिति में यदि कोई अभिज्ञ यह कहे कि 'निश्चय ही इस माणवक ने आचार्य की वाणी को ले लिया।' तो वह उपदेष्टा (आचार्य) मूक हो जायगा। (शत० ब्रा० ११।५।४।१३)

याज्ञवल्क्य सावित्री का अनुवचन गायत्री छन्द में करने का आदेश देते हैं जो इस प्रकार है—

'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ।। (शु०य० स० ३।३५)', (शत० ब्रा० ११।५।४।१३)
(दीक्षित यजमान के वाग्विसर्जनार्थ प्रयुक्त मन्त्र विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार दीक्षित को 'भूर्भुवः स्वः' (शु०य०सं० ३।५) व्याहृति से वाग्विसर्जन करना चाहिए । इससे यज्ञ को शक्तिशाली तथा पूर्ण बनाया जाता है । (शत० ब्रा० ३।२।२।६)

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करके कहते हैं कि इस प्रकार से न तो यज्ञ शक्तिवान् और न वह पूर्ण ही होता है । यजमान को वाग्विसर्जन से पूर्व 'व्रतं-कृणुत व्रतं कृणुताग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः ।' [शु०य०सं० ४।११] मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए । [शत०ब्र० ३।२।२।७] यह व्रत दीक्षा के समय यज्ञ तथा हविष् भी है । जैसे दीक्षा दिन से पूर्व अग्निहोत्र सम्पादित होता है उसी प्रकार यह भी अग्निहोत्र के प्रति आम्नाय ही है । यजमान सोमयज्ञ में इस व्रताख्य यज्ञ के साधन से सम्भरण करके यज्ञ में यज्ञ का प्रतिष्ठापन तथा यज्ञ से यज्ञ का विस्तार करता है क्योंकि वह व्रत सुत्या दिन तक सम्पन्न किया जाता है । व्रतं कृणुत' तीन बार कहना चाहिए क्योंकि यज्ञत्रिवृत् होता है । दीक्षित यजमान को वाग्विसर्जन के समय अग्नि की परिक्रमा करनी चाहिए । यदि यजमान 'व्रतं कृणुत' के अतिरिक्त अन्य किसी 'भूर्भुवः स्वः' आदि व्याहृतियों से वाग्विसर्जन करता है तो वह यज्ञ को सशक्त नहीं बनाता । [शत०ब्रा० ३।२।२।८) यजमान प्रथम मंत्र भाग के उच्चारण से वाणी के सत्य का उच्चारण करता है । वाग्व्यवहार के आरम्भ में 'अग्निर्ब्रह्म' के उच्चारण से सत्य का ही कथन किया जाता है । [शत० ब्रा० ३।२।२।६]

[आतिथ्येष्टि में हविर्निर्वापार्थ मन्त्र-विषयक मतभेद]

तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार अध्वर्यु को 'अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा गृह्णामि' [त०सं० ६।२।१।७] मन्त्र से हविष् का निर्वाप करना चाहिए क्योंकि एक विशेष भाग के लिए, सोम छन्दों के राज्य एवं साम्राज्य के लिए क्रयणानन्तर ले आये जाते हैं । छन्द सोम के साथ राजा के अराज, राजकृत तथा सूतग्रामणी की भांति हैं । अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा [गृह्णामि]' इसी एक मन्त्र के साथ छन्दों के लिए पांच बार हविष् का ग्रहण करना चाहिए । [शत०ब्रा०३।४।१।७]

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं । उनके विचार से हविष् का निर्वाप छन्दों के लिए यज्ञपूर्णता निमित्त नहीं है क्योंकि जब किसी अर्हन्त [पूज्य]

के लिए भोजन तैयार किया जाता है, राजा के भोजनानन्तर ही अराज, राजपूत तथा सूतग्रामणी आदि राजा के साथियों का अंश दिया जाता है। [शत० ब्रा० ३।४।१।८] विष्णु ही सोम हैं। सोमार्थ हविनिर्वाप करने पर देवताओं के साथ छन्दों का भी अंश प्रदान कर देना चाहिए। एक मन्त्र को ही पांच बार प्रयुक्त करना उचित नहीं है। उसके स्थान पर पांच मन्त्र होने चाहिए।

अध्वर्यु को प्रथम बार 'अग्निस्तनूरसि विष्णवे त्वा' (शु०य०सं० ५।१) मन्त्र से हविर्निर्वाप करना चाहिए। इस प्रकार गायत्री का अंश प्रदान कर दिया गया (शत०ब्रा० ३।४।१।९)। दूसरी बार 'सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा' (शु०य०सं० ५।१) मन्त्र से हविर्निर्वाप करना चाहिए। सोम तथा त्रिष्टुप् क्षत्र हैं, इस प्रकार त्रिष्टुप् को भी अंश प्रदान कर दिया गया। (शत०ब्रा० ३।४।१।१०) तीसरी बार 'अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा (शु०य०सं० ५।१) मन्त्र से हविर्निर्वाप करना चाहिए। इस तरह सोम का नियत अंश, श्रेष्ठ का नियत अंश है। यह ऋत छन्द का अंश है। (शत०ब्रा० ३।४।१।११) चौथी बार 'श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा (शु०य०सं० ५।१) मन्त्र से हविर्निर्वाप होना चाहिए। इससे गायत्री श्येन का अंश प्रदान किया जाता है। (शत०ब्रा० ३।४।१।१२) पाँचवीं बार 'अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवेत्वा (शु०य०सं० ५।१) मन्त्र से हवि-निर्वाप सम्पन्न किया जाना चाहिए। पशु रायस्पोष और जगती हैं। इस प्रकार अध्वर्यु जगती के लिए भी अंश प्रदान करता है। (शत०ब्रा० ३।४।१।१३)

प्रकृतियाग में चार बार हविर्निर्वाप होता है किन्तु आतिथ्येष्टि में पाँच बार। इसका कारण यह है कि यज्ञ संवत्सर के बराबर होता है। संवत्सर में पाँच ऋतुएं होती हैं। यजमान को उस पंचक की प्राप्ति पाँच बार हविर्निर्वाप से ही हो जाती है। पाँच बार 'विष्णवे त्वा' का उच्चारण करके सोम हविर्निर्वाप करने से यज्ञ के लिए ही हविष् का निर्वाप होता है। (शत०ब्रा० ३।४।१।१४)

कुछ आचार्यों के द्वारा पुरोरुक् के लिए 'अयं वेनश्चोदय-त्पृश्निगर्भा ज्योति-र्जरायू (रजसो विमाने)' मन्त्र प्रयुक्त किया जाता है। (शत० ब्रा० ४।२।१।८) याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करके 'पुरोरुक्' के लिए 'तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्टतातिं बर्हिषदं स्वर्विदम् ॥ (शु०यसं० ७।१२) का विधान करते हैं। (शत०ब्रा० ४।२।१।९) पुरोरुक् मन्त्र पाठानन्तर 'प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनि-माशुं जयन्तमनु यासु वर्धसे। उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वैषते योनिर्वीरतां पाहि ॥ (शु०य०सं० ७।१२) मंत्रको पढ़कर शुक्रग्रह दक्षिण दिशा में स्थापित कर दिया जाता है। (शत०ब्रा० ४।२।१।९)

(राजसूय यज्ञ में अभिषेकार्थ प्रयुक्तमन्त्र विषयक मतभेद)

राजसूय यज्ञ में यजमान जब अपनी दोनों बाहुओं को ऊपर उठाता है, उस समय पढ़े जाने वाले मन्त्र के विषय में मतभेद है। कुछ याज्ञिकाचार्यों के मतानुसार यजमान (राजा) के द्वारा दोनों बाहुओं को ऊपर उठाते समय 'हिरण्यरूपा उषसो विरोक उभाविन्द्रा उदिथः सूर्यश्च।

आरोहतं वरुण मित्र गर्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च ॥(शु० य० सं० १०।१६)।

मंत्र का पाठ करना चाहिए। 'आरोहतं वरुण मित्र गर्तम्' कहने का तात्पर्य यह है कि ये दोनों बाहुएं मित्र और वरुण हैं। पुरुष रथ है। 'ततश्चाक्षाथामदितिं दितिं च' का तात्पर्य यह है कि तुम दोनों मित्र और वरुण अपने तथा दूसरे के भी सहज गुण का अवलोकन करो। (शत० ब्रा ५।४।१।१५)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करके 'मित्रोऽसि वरुणोऽसि (शु०य०सं० १०।१६] मन्त्र से दोनों बाहुओं के ऊर्ध्वाभिमुख करने का निर्देश करते हैं क्योंकि मित्र और वरुण यजमान की दो बाहुएं हैं। यजमान अपनी दोनों बाहुओं के द्वारा मित्र और वरुण से सम्बन्धित है। (शत०ब्रा०५।४।१।१६)।

(इष्टका चयन में इष्टकाओं के उपधानार्थ प्रयुक्त मन्त्र विषयक मतभेद)

आक्नाक्ष्य आचार्य के मतानुसार इष्टकाचयन के प्रसंग में विशिष्ट मन्त्रों से युक्त इष्टकाएं ही यजुष्मती (यजुष्मन्त्र से युक्त) इष्टकाएं हैं। उनके ज्ञाता को ही अग्निचयन का सम्पादन तथा वेदी निर्माण करना चाहिए। स्थान-स्थान पर अवशिष्ट भाग में 'लोकम्पृण, छिद्रं पृण' (शु०य०सं०१५।५९) मन्त्र युक्त इष्टकाओं का चयन करना चाहिए। इस प्रकार प्रजापति को स्वस्थ किया जाता है। (शत०ब्रा०६।१।२।२४) ताण्ड्य आचार्य के मतानुसार यजुष्मती इष्टकाएं क्षत्र तथा लोकम्पृण इष्टकाएं विट् (प्रजा) हैं। क्षत्रिय भोक्ता तथा विट् अन्न है। जहां भोक्ता के लिए अन्न बाहुल्य रहता है वह राष्ट्र समृद्ध होता है। अतएव लोकम्पृण इष्टकाओं का ही बाहुल्य रहना चाहिए। इस प्रकार लोकम्पृण मन्त्र का बाहुल्य होगा। (शत०ब्रा०६।१।२।२५)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त दोनों मतों का निरादर करके उपधानार्थ अधोलिखित मन्त्र का विधान करते हैं—

चिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासीद।
परिचिदसि तया देवतया ऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासीद ॥
(शु०य०सं० १२।५३), (शत०ब्रा०६।१।२।२५)

वाणी और स्वांस से वेदी का निर्माण होता है क्योंकि अग्नि वाणी और इन्द्र स्वांस हैं। इन्द्र और अग्नि देवताओं से सम्बन्धित हैं। अग्नि की महानता के अनुसार ही अग्निवेदी का निर्माण भी होता है। (शत०ब्रा०६।१।२।२८)

(अग्निचयन में आहवनीय के प्रति अग्निप्रणयनार्थ प्रयुक्त प्रथम मन्त्र विषयक मतभेद)

अध्वर्यु आहवनीय के प्रति अग्निप्रणयन विधानार्थ होता को 'अग्निभ्यः प्रहियमाणेभ्योऽनुब्रूहि' कहकर आदेश देता है। होता अग्निप्रणयन के लिए मन्त्रों का पाठ करता है। आरम्भ में प्रयुक्त मन्त्र के विषय में मतभेद है। कुछ आचार्य सर्वप्रथम 'पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः। जुषन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवाइषो महीः ॥' (शु०य०स०१२।५०) मन्त्र का विधान करते हैं।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करके अग्निप्रणयन के समय अग्नि से सम्बन्धित तथा कामवती गायत्री ऋचाओं का प्रयोग करने के लिए विधान करते हैं जिनमें आरम्भ की ऋचा अधोलिखित होनी चाहिए–

'आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।

अग्ने त्वाङ् कामया गिरा। (शु०य०सं० १२।११५) (शत०ब्रा०७।३।२।८)

(अश्वमेघ यज्ञ में प्रयुक्त प्रजापति से सम्बन्धित अश्व के आप्रीकरण मन्त्र विषयक मतभेद)

इस विषय में कुछ आचार्यो का मत है कि बार्हदुक्थ मन्त्र समूह से आप्रीकरण करना चाहिए जिसका प्रथम मन्त्र–

'समिद्धो अञ्जन् कृदरं मतीनां घृतमग्ने मधुमत् पिन्वमानः।
वाजी वहन् वाजिनं जातवेदो देवानां वक्षि प्रियमा सधस्थम् ॥
[शु०य०सं० २९।१]

तथा ग्यारहवां मंत्र अधोलिखित है–

'प्रजापतेस्तपसा वावृधानः सद्यो जातो दधिषे यज्ञमग्ने।

स्वाहाकृतेन हविषा पुरोगा याहि साध्या हविरदन्तु देवाः ॥ [शु० य० सं० २९।११]

इन त्रिष्टुप् छन्द वाले मन्त्रों से आप्रीकरण करना चाहिए। उन आचार्यों का विचार है कि वामदेव के पुत्र बृहदुक्थ ने अथवा समुद्र के पुत्र अश्व ने इन

आप्री मन्त्रों (शु० य० सं० २६।१ से ११) का दर्शन किया था। इन्हीं आप्री मन्त्रों से हम इस प्राजापत्य अश्व का आप्रीकरण करते हैं। (शत० ब्रा० १३।२।२।१४)

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करके जामदग्न (जमदग्नि से सम्बन्धित) मन्त्र के समूह (शु०य०सं० २६।२५-३६) से अश्व का आप्रीकरण करने के लिए प्रस्तुत करते हैं जिसका प्रथम मन्त्र——

'समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवोदेवान् यजसि जातवेद:।

आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूत: कविरसि प्रचेता:। (शु० य० सं० २६।२५) तथा ग्यारहवां मन्त्र इस प्रकार है।

'सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगा:।
अस्य होतु: प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवा:॥ (शु० य० सं० २६।३६)

इन एकादश जामदग्न मन्त्रों से आप्रीकरण करना चाहिए क्योंकि जमदग्नि प्रजापति हैं जो अश्वमेध है। अपने ही देवता के द्वारा इसे समृद्ध किया जाता है। (शत० ब्रा० १३।२।२।१४)

(३) मन्त्रों के आधिक्य के विषय में मतभेद

(आग्रयण ग्रह ग्रहणानन्तर उसके आसादनार्थ प्रयोग किये जाने वाले मन्त्र विषयक मतभेद)

अध्वर्यु आग्रयण ग्रह को लेकर तीन बार हिंकार करता है क्योंकि यज्ञ भी त्रिवृत् होता है। (अग्निपरिधि आदि के त्रित्व होने से) हिंकार के पश्चात् ग्रह के आसादनार्थ मन्त्र का विधान है। कुछ आचार्यों के मत से अध्वर्यु को 'सोम:पवते। अस्मै ब्रह्मणेऽस्मैक्षत्राय। अस्मै सुन्वते यजमानाय पवते।) शु० य० सं० ७।२१) इस मन्त्र का उच्चारण करके ग्रहासादन करना चाहिए। उन आचार्यों के विचार से यह सब कुछ उतना ही है जहाँ तक कि ब्रह्म, क्षत्र और प्रजाएं हैं। इन्द्र और अग्नि सब कुछ हैं। अत: इतना ही कह कर ग्रह को रखना चाहिए। (शत० ब्रा० ४।२।२।१२-१३)

याज्ञवल्क्य का मत है कि अध्वर्यु को इसके आगे भी कहना चाहिए। (शत० ब्रा० ४।२।२।१४) 'इष ऊर्जे पवते। अद्भ्य ओषधीभ्य: पवते। द्यावा-पृथिवीभ्यां पवते। सुभूताय पवते। (शु०य०सं० ७।२१) इस पर कुछ आचार्यों

का मत है कि 'सुभूताय पवते' के स्थान पर 'ब्रह्मवर्चसाय पवते' यह कहना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस कथन की निन्दा करते हुए कहते हैं कि 'अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय' कहने से ही 'ब्रह्मवर्चसाय' सम्पन्न हो गया। अब 'ब्रह्मवर्चसाय' कहने की आवश्यकता नहीं है। अध्वर्यु 'विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः '(शु०य०सं० ७।२१) मन्त्र से ग्रह का आसादन करता है। विश्वदेवों के लिए इसे ग्रहण करता है। ग्रह को मध्य में रखता है क्योंकि यह ग्रह आत्मा है। मध्य के समान आत्मा रहती है। दक्षिण में रखी उक्थस्थाली तथा उत्तर में रखी हुई उक्थस्थाली तथा उत्तर में रखी हुई आदित्यस्थाली के बीच में इस ग्रह का आसादन होता है। (शत० ब्रा० ४।२।२।१६)

(उपस्थानार्थ मन्त्र संख्या विषयक मतभेद)

अध्वर्यु चिति के अन्त में अग्नि की समृद्धि के लिए, जिसके कारण चयन होता है उसकी समृद्धि के लिए तथा अग्निचित् की समृद्धि के लिए साधारण उपस्थान करता है। अध्वर्यु सात मन्त्रों के साथ अग्निवेदी के पास पहुंचता है। वे मन्त्र अधोलिखित हैं---

१-'वार्त्रहत्याय शवसे पृतनासाह्याय च।
इन्द्र त्वा वर्तयामसि॥ (शु० य० सं० १८।६८)
२-'सहदानुं पुरुहूत क्षियन्तमहस्तमिन्द्र सम्पिणक् कुणारुम्।
अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुमपादमिन्द्र तवसा जघन्थ॥ (शु० य० सं० १८।६९)

इस प्रकार दो वृत्रहन सम्बन्धी मन्त्रों से उपस्थान किया जाता है क्योंकि देवताओं ने इन मन्त्रों से पाप को दूर किया है। यजमान भी वही कार्य करता है। (शत०ब्रा० ९।५।२।४) तदुपरान्त

३-'वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
यो अस्माँ २॥ अभिदासत्यधरं गमया तमः॥ (शु०य०सं० १८।७०)
४-'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परापत आजगन्थापरस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं विशत्रून् सादि विमृधो नुदस्व॥
(शु०य०स० १८।७१)

इस प्रकार इन्द्रविमृध् सम्बन्धिनी दो ऋचाओं से उपस्थान करता है। इससे देवताओं ने मृध् [निन्दक] पापी का हनन कर यह कार्य किया था। यजमान भी उसी प्रकार करता है। [शत०ब्रा०९।५।२।५] तत्पश्चात्—

५–'वैश्वानरो न ऊतय आ प्रयातु परावतः।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ।। (शु०य०सं० १८।७२)'

६–'पृष्टोदिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वाओषधीराविवेश।
वैश्वानरः सहसा पृष्टो अग्निः स नो दिवा स रिषस्पातु नक्तम् ।।
(शु० य० सं० १८।७३)

वह विश्वानर से सम्बन्धिनी ऋचाओं से उपस्थान करता है। इससे देवताओं ने पाप को जलाया था। इस समय यजमान भी वही करता है। (शत० ब्रा० ९।५।२।६)

सातवीं ऋचा इस प्रकार है——

'अश्याम तं काममग्ने तवोती अश्याम रयिं रयिवः सुवीरम्।
अश्याम वाजमभि वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नमजराजरंते ।।(शु० य० सं० १८।७४)

अध्यर्यु इस एक कामवती ऋक् से उपस्थान करता है। देवताओं में छः ऋचाओं के द्वारा पाप को दूर किया था और कामवती ऋचा से सब कामों को अपना बनाया। इसी प्रकार यजमान भी छः ऋचाओं से पाप को दूर कर एक कामवती ऋचा के द्वारा सब कामों को अपना बनाता है। (शत०ब्रा० ९।५।२।७) सात ही ऋचाओं से उपस्थान (अग्निवेदी के पास गमन) किया जाता है क्योंकि अग्निवेदी सात चितिवाली है। सात ऋतुएं होती हैं, सात दिशाएं, सात देवलोक सात स्तोम, सात पृष्ठ (स्तोत्र), सात छन्द, सात ग्राम्य पशु, सात आरण्य पशु, सात शीर्ष के प्राण, जो कुछ भी सप्तविध है, अधिदैवत है, अध्यातम है उसे इन ऋचाओं के समूह से प्राप्त करता है। वे ऋचाएं अनुष्टुप् के बराबर हैं क्योंकि अनुष्टुप् वाणी है और वाणी के द्वारा ही वह अग्नि के लिए उस वस्तु को प्राप्त करता है जिसकी उसे प्राप्ति नहीं थी। (शत० ब्रा० ९।५।२।८)

अन्य आचार्य आठ ऋचाओं से उपस्थान के पक्ष में हैं उनके मतानुसार सात ऋचाओं के बाद अधोलिखित आठवीं ऋचा भी पढ़ी जानी चाहिए।

'वयते अद्य ररिमा हि काममुत्तानहस्ता नमसोपसद्य।
यजिष्ठेन मनसा यक्षि देवानस्रेधता मन्मना विप्रो अग्ने। (शु०य०सं०१८।७५)

उन आचार्यो के विचार से यह द्वितीय कामवती ऋचा है। गायत्री आठ अक्षरों वाली होती है। अग्नि गायत्री के स्वभाव के हैं। अग्नि के परिमाणानुसार वह पूर्व अनाप्त काम की बात करता है। इस प्रकार इन्द्र और अग्नि अपने अनुसार ही अंश प्राप्त करते हैं।

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वे सात ऋचाएं अनुष्टुप् के बराबर हैं। इस प्रकार सात ऋचाओं के समूह से ही उस काम की प्राप्ति हो जाती है जिसकी प्राप्ति आठ ऋचाओं से होती है। अतः सात ऋचाओं से ही उपस्थान करना चाहिए। आठ से नहीं। (शत०ब्रा० ९।५।२।९)

(४) स्थानान्तरण विषयक मतभेद

(ऋचाओं को सूक्त से निकाल कर स्थानान्तरण के विषय में मतभेद)

याज्ञिक सम्प्रदाय के अनुसार अध्वर्यु के अन्य सहायक बहिष्पवमान शस्त्र-गान होने पर अश्व को जल से प्रक्षालित करके उसके साथ पवमानार्थ गमन करते हैं जिसका निर्देश पहले (शत० ब्रा० १३।२।३।१) हो चुका है। अश्व को बहिष्पवमान किये जाने वाले स्थान पर कदम-कदम करके ले जाया जाता है। यदि अश्व उस समय शब्द करते हुए नाक से भी शब्द करे अथवा घूम जाय तो यजमान को जानना चाहिए कि उसका यज्ञ समृद्ध हुआ है। अध्वर्यु द्वारा आदिष्ट होकर होता एकादश ऋचाओं (शु०य०सं० २९।१२-२२) से प्रशंसा करता है। इन प्रशंसा परक ऋचाओं का पाठ सामिधेनी ऋचा-पाठ के समान ही होता है। (शत०ब्रा० १३।५।१।१६) प्रथम ऋचा 'यदक्रन्दः प्रथमं जायमानः' के तीन वार, तथा ग्यारहवीं ऋक् 'तव शरीरं पतयिष्णवर्वन्तवः' के तीन वार आवर्तन से पञ्चदश संख्या पूरी होती है। यह पंचदश ऋचाओं का समूह बज्रवत् होता है क्योंकि बज्र भी पंचदश होता है। वह वीर्य भी है। इस प्रकार बज्र तथा वीर्य से यजमान पाप को नष्ट करता है। (शत०ब्रा० १३।५।१।१७) अध्रिगु (धार्मिक प्रार्थना) में मा नो मित्रो वरुणो अर्यमाहुः (शु० य० सं० २५।२४-४०) सूक्त का पाठ किया जाता है।

कुछ आचार्यों के मतानुसार—

'चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोः' (शु०य०सं० २५।४१) इस ऋचा को 'निक्रमणं निषदनं विवर्तनम् (शु०य०स० २५।२३) के पूर्व रखना चाहिए क्योंकि इस प्रकार प्रणव को अस्थाम पर नहीं रखा जाता अर्थात् उस ऋचा को वंक्री के पूर्व करने पर एक बार पुनः ओ३म् कहने की आवश्यकता न पड़ेगी। दूसरी बात यह है कि एक बचन के द्वारा बहुवचन (अर्थात् अनेक अश्वों के वङ्क्री वचन) का व्यवच्छेद भी नहीं होता है। (अस्य जब कि बहुत से पशुओं के लिए कहा गया है, इसे अश्व से पूर्व कर देने पर अश्व के लिए ही कहा जाता है) यदि अधोलिखित ऋचा को—

'चतुस्त्रिंशद् वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वधितिः समेति।
अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त ॥'

(शु०य०सं० २५।४१)

'निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च षड्वीशमर्वतः।
यच्च पपौ यच्च घासिं जघास सर्वा ता ते अपि देवेष्वस्तु ॥'
(शु०य०सं० २५।३८)

ऋचा के पूर्व रखा जाता है तो ऋचा अपने स्थान पर रखी जाती है।

याज्ञवल्क्य इस मत की निन्दा करते हुए कहते हैं कि दोनों ऋचाओं (शु०य०सं० २९।२३-२४) को निकालना नहीं चाहिए अपितु 'मा नोमित्रः' (शु० य० सं० २५।२४) सूक्त की समाप्ति के पश्चात् 'उपप्रगाच्छंसनं वाज्यर्वा (शु० य० सं० २९।२३) तथा 'उपप्रागात् परमं यत् सधस्थम् (शु०य०सं० २९।२४) इन दोनों ऋचाओं का अध्रिगु (धार्मिक प्रार्थना) में प्रक्षेपण कर देना चाहिए। साथ ही साथ 'चतुस्त्रिंद्वाजिनो देवबन्धोः' ऋचा को 'निक्रमणं निषदनं विवर्तनं यच्च षड्वीशमर्वतः' के पूर्व नहीं रखना चाहिए अपितु सम्पूर्ण अध्रिगु के साथ उस ऋचा का भी पाठ होना चाहिए क्योंकि प्रैषरूपा यह ऋचा प्रणव का आयतन है। (शत०ब्रा० १३।५।१।१८)

(५) विशिष्ट कर्म में मन्त्र की आवश्यकता के विषय में मतभेद

(अग्नि उपस्थानार्थं समन्त्रक या अमन्त्रक विधान ?)

कुछ आचार्यों के मतानुसार सर्पराज्ञी के तीन मन्त्रों को जपते हुए अग्नि उपस्थान करना चाहिए। वे मन्त्र अधोलिखित हैं—

१—'आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥' (शु०य०सं० ३।६)

२—अन्तश्चरसि रोचना ऽस्यप्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥ (शु०य०सं० ३।७)

३—त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गायधीयते।
प्रति वस्तोरहः द्युभिः ॥ (शु०य०सं० ३।८)'

इस प्रकार यजमान को सम्भार से, नक्षत्रों से, ऋतुओं से, आधान से जो अप्राप्त रहता है इससे प्राप्त होता है। (शत०ब्रा०२।१।४।२९) दूसरे आचार्यो का मत है कि सर्पराज्ञी-मन्त्र पाठ की आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि सर्पराज्ञी तो यह पृथ्वी ही है। पृथ्वी पर अग्न्याधान होने से वह अपने सभी अभीष्ट को प्राप्त करता है। (शत०ब्रा०२।१।४।३०)

[अन्तर्यामग्रहहोम विषयक मतभेद]

इस विषय में 'अलग-अलग मन्त्र हों अथवा होम अमन्त्रक हो या एक ही मन्त्र के द्वारा सम्पन्न किया जाय' चरकाध्वर्युओं का मत है कि उपांशुग्रह होम तथा अन्तर्याम ग्रह होम के लिए अलग-अलग मन्त्र होने चाहिए क्योंकि उपांशु और अन्तर्याम यजमान के प्राण और उदान हैं। ऐसा करके प्राण और उदान को विभिन्न वीर्य वाला बनाया जाता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ऐसा करने से यजमान के प्राण और उदान व्याकुल कर दिये जाते हैं। अतः अन्तर्याम ग्रह का होम अमन्त्रक (बिना मन्त्र के) होना चाहिए। (शत०ब्रा०४।१।२।१९) अथवा जिस मन्त्र से उपांशुग्रह का हवन किया जाता है उसी से अन्तर्याम ग्रह का भी हवन होना चाहिए। (शत०ब्रा०४।१।२।२०) हवन के समय पढ़ा जाने वाला मन्त्र यह है–

'स्वांक्रुतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिवेभ्यः।
पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाऽष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्याय। [शु०य०सं०७।६]

(ख) शुक्लयजुर्वेद संहिता में अप्राप्य मन्त्र विषयक मतभेद

१–पाठभेद विषयक मतभेद

(सामिधेनी ऋचाओं का पाठ करने वाले के प्रति अध्वर्युकृत सम्प्रैषमन्त्र सम्बन्धी मतभेद)

अध्वर्यु पंचदश सामिधेनी ऋचाओं के पठनार्थं होता को 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' प्रैषमन्त्र से आदेश देता है। (शत०ब्रा०१।३।५।२) अन्य आचार्यों के मतानुसार 'अग्नये समिध्यमानाय होतरनुब्रूहि' कहना चाहिए। उनका विचार है कि जो होता रूप में निर्धारित किया जायगा वही तो सामिधेनी ऋचाओं का पाठ करता ह। अतएव उसे सम्बोधित करके कहना चाहिए।

याज्ञवल्क्य द्वितीय मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि अभी तो होता अहोता ही है क्यों कि उसका वरण नहीं हुआ। यजमान द्वारा वरण हो जाने पर वह होता बनेगा। अतः अभी उसे होता शब्द से सम्बोधित करना उचित नहीं है। (शत० ब्रा० १।३।५।३)

[प्रातरनुवाक के प्रैषमन्त्र में मतभेद]

सोम के समीपस्थ होता प्रातरनुवाक पाठार्थ आदिष्ट होता है। अग्नि में एक समिधा रखते हुए अध्वर्यु होता को' देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहि' (शत०ब्रा० ३।९।३।८(आदेश देता है। ऋषि ने यहां पर 'प्रातर्यावभ्यः' जोड़ दिया क्योंकि

छन्द देवता हैं और अनुयाज में भी छन्द ही देवता हैं। अतः 'देवान् यज' का प्रयोग किया गया। यदि 'छन्दोदेवान् यज' कहते तो छन्दों के साथ देवता भी आ जाते। उनके व्यावर्तनार्थ अध्वर्यु 'देवेभ्यः प्रातर्यावभ्यो यज' कहता है। अन्य आचार्यों का मत है कि 'प्रातर्यावभ्यो' नहीं कहना चाहिये क्योंकि' देवेभ्यो अनुब्रूहि' पर्याप्त है।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत के विरोध में कहते हैं कि प्रातःकाल यज्ञ में आगमन करने वाले छन्द देवता हैं। अनुयाज में भी छन्द हैं जो 'देवभ्यः प्रेष्य देवान्यज' से पूर्ण होता है। अतएव अध्वर्यु को 'देवेभ्यः प्रातर्यावभ्योऽनुब्रूहि' प्रैष मन्त्र कहना चाहिए। (शत० ब्रा० ३।९।३।९)

(अष्टमी ऋक्‌विषयक भतभेद)

अग्नि प्रज्ज्वलनार्थ पन्द्रह सामिधेनी लकड़ियां होती है। उनका अग्नि में प्रक्षेपण करते समय एकादश सामिधेनी ऋचाओं का पाठ होता है। प्रथम ऋक् को तीन-तीन बार के आवर्तन से सामिधेनी ऋचाएं भी पंचदश होती हैं। उन एकादश सामिधेनी ऋचाओं में अष्टमी ऋक् अधोलिखित है——

'अग्नि दूत वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् ॥
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥

अन्य आचार्यों के मतानुसार इस ऋचा का पाठ इस प्रकार होना चाहिए–

'अग्निंदूतं वृणीमहे होता यो विश्ववेदसः
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम ॥' (शत० ब्रा० १।४।१।३५)

इसकी कारण मीमांसा प्रस्तुत करते हुए उनका कहना है कि यद्यपि होतारं द्वितीयान्त पद है तथापि इससे 'होता अरम्' भी ध्वनित होता है। अरम् शब्द अलम् का पर्याय है। 'अरम्' शब्द निवारणार्थ है। अतः होता को अपने निवारण के लिए 'होतारम्' का पाठ नहीं करना चाहिए।

इस मत का निषेध करते हुए याज्ञवल्क्य का कहना है कि 'होता यो विश्ववेदसः' यह पाठ मानुषिक होगा। जो मानुषिक है वह अपूर्ण है। अतः यज्ञ में अपूर्णता न लाने के लिए 'होतारं वश्ववेदसम्' पद का ही अनुवचन करना चाहिए। (शत० ब्रा० १।४।१।३५)

२—मन्त्रचयन विषयक मतभेद

(पुरोऽनुवाक्या और याज्या में प्रयुक्त छन्द विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार स्विष्टकृत् अग्नि के लिए हवन करते समय पुरोनुवाक्या (आहुति कर्म की अवतरणिका के रूप में पढ़ी जाने वाली ऋक्) और याज्या (साक्षात आहुति कर्म कराने वाली ऋक्) के छन्द दोनों ही त्रिष्टुप् होने चाहिए क्योंकि स्विष्टकृत् यज्ञ का रिक्त स्थान है अतः वह वीर्यहीन है। त्रिष्टुप् छन्द प्रजापति की बलवती बाहुओ से इन्द्र के साथ उत्पन्न होने के कारण इन्द्र सम्बंधी है। अतः वह वीर्य है। यदि पुरोनुवाक्या और याज्या मंत्र त्रिष्टुप् छन्द में होंगे तो अवीर्य (अबल) स्विष्टकृत् में वीर्य की स्थापना होगी। (शत० ब्रा० १।७।३।१७) अन्य आचार्यों के मत से पुरोनुबाक्या और याज्या मंत्र दोनों अनुष्टुप् छन्द में होने चाहिए क्योंकि स्विष्टकृत् याग प्रधानयाग से अतिरिक्त होता है। अतः वास्तु (रिक्तस्थानीय) है तथा अनुष्टुप् छन्द भी गायत्री आदि सवन के छन्दों से अतिरिक्त होने के कारण वास्तु है। अतएव वास्तु में वास्तु स्थापित होता है। पुरोनुवाक्या और याज़्या को अनुष्टुप् छन्द में करने से यजमान प्रजा और पशु से समृद्ध होगा क्योंकि वास्तु बृद्धि करने वाला है। (शत० ब्रा० १।७।३।१८)

याज्ञवल्क्य के मतानुसार इन दोनों मतों में से कोई भी एक स्वीकार्य है परन्तु विलोम अपेक्षित नहीं है अर्थात् एक मन्त्र त्रिष्टुप् छन्द में तथा दूसरा अनुष्टुप् छन्द में नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के अनुष्ठान से जो परिणाम हो सकता है उसका निर्देश करते हैं——

भाल्लवेय ने पुरोनुवाक्या को अनुष्टुप् छन्द में तथा याज्या को त्रिष्टुप् छन्द में किया। उनका मन्तव्य दोनों की फल प्राप्ति था। परिणाम यह हुआ कि वे एक समय भ्रमण करते हुए रथ से गिर पड़े तथा उनकी बाहु टूट गयी। उन्होंने तर्क से यह निश्चय किया कि अविहित करने के कारण ही यह हुआ। अतः विलोम न करना चाहिए। (शत०ब्रा० १।७।३।१९)

(चातुर्मास्ययागीय पुरोनुवाक्या और याज्या मन्त्र विषयक मतभेद)

ब्रह्मवादियों के मतानुसार चातुर्मास्य के वैश्वदेव पर्व में प्रयुक्त होने वाले पुरोनुवाक्या और याज्या के मन्त्र गायत्री छन्द में, वरुणप्रघासपर्व में त्रिष्टुप् छन्द में, महाहवि पर्व में जगती छन्द में तथा शुनासीरीय पर्व में अनुष्टुप छन्द में होने चाहिए। गायत्री से लेकर अनुष्टुप् तक चारों छन्दों का क्रम से चारों पर्वों में प्रयोग त्रिवृत्, पंचदश, सप्तदश, एकविंश स्तोम चतुष्टय से युक्त सोमयाग की प्राप्ति के लिए है।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उनके विचार से प्रत्येक पर्व में क्रमशः चारों प्रकार के छन्द आते हैं। अतः उनमें से प्रत्येक को क्रमशः एक प्रकार के छन्दों से युक्त नहीं करना चाहिए। यदि प्रत्येक पर्व में चारों छन्दों का योग होता है तो एक-एक प्रकार के छन्द करने की आवश्यकता ही कहाँ रही ? (शत०ब्रा० ११।५।२।६)

[अश्वमेधयाग में पर्यङ्ग्य पशुओं के होम सम्बन्धित पुरोनुवाक्या तथा याज्या मंत्र विषयक मतभेद]

कुछ आचार्यों का मत है कि अश्व, तूपर, गो तथा मृग की पुरोनुवाक्या औरयाज्या भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। वपा होम के समय, पुरोडाश देने के समय तथा अंग प्रदान के समय भिन्न-भिन्न होनी चाहिए क्योंकि इनके लिए मन्त्र मिल जाते हैं। दूसरों के लिए किसी प्रमन्त्र की प्राप्ति न होने के कारण हम उन मन्त्रों का पयोग ही नहीं करते हैं। इस प्रकार पुरोनुवाक्या और याज्या भेद से ही पशुओं का भेद हो जाता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करके कहते हैं कि अश्व क्षत्र है, अन्य पशु प्रजा हैं। इस प्रकार करने से प्रजा को क्षत्र के लिए प्रतिस्पर्धाशील तथा प्रत्यतनशील बनाया जाता है एवं यजमान की आयु भी क्षीण होती है। उनका मत है कि अश्व अकेला प्रजापति से तथा अन्य पशु सामान्य देवताओं से भी सम्बन्धित हैं। प्रजापति के अश्व, तूपर, गोमृग की अलग पुरोनुवाक्या तथा याज्या होगी। सभी देवत्य पशुओं की भी वही पुरोनुवाक्या तथा याज़्या होगी (तात्पर्य यह कि प्रजापति के पशु तथा देवताओं के पशुओं के लिए अलग पुरोनुवाक्या और याज्या मंत्र तथा अन्य (साधारण) पशुओं के लिए अन्य मंत्रों का प्रयोग किया जाना चाहिए(शत०ब्रा० १३।२।२।१५)

(वैश्वानर अग्नि के लिए पुरोडाश देते समय मंत्र बिषयक मतभेद)

वैश्वानर अग्नि के लिए पशु पुरोडाश दिया जाता है क्योंकि वैश्वानर सभी अग्नियां हैं। सब अग्नियों की प्राप्ति के लिए वैश्वानर पशु पुरोडाश दिया जाता है। (शत०ब्रा० ६।२।१।३५) इस पुरोडाश को देने का कारण यह है कि वेदी की चितियां सब ऋतुएं हैं, ऋतुएं अग्नि और संवत्सर हैं तथा संवत्सर वश्वानर है। 'वैश्वानरः पशुपुरोडाशः' के स्थान पर 'अग्नये वैश्वानराय पशु पुरोडाशः, कहने से सम्बन्ध द्योतित हो जाता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हुए कहते हैं 'अग्नये वैश्वानराय पशु-पुरोडाशः' कहना व्यर्थ होगा क्योंकि यह द्वादश कपालों पर पकाया गया एक ही पुरोडाश होता है। द्वादश मास ही संवत्सर हैं तथा जो संवत्सर है, वही वैश्वानर है। (शत०ब्रा० ६।२।१।३६)

(वैसर्जन होम में अग्नीषोमीय पणयन से सम्बद्ध प्रैष सम्बन्धी मतभेद)

उपयमनी पर जलती हुई अग्नि का पणयन होता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार अध्वर्यु को इस अवसर पर होता के प्रति 'अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि अथवा' 'सोमाय प्रणीयमानायानुब्रूहि प्रैष मन्त्र कहना चाहिए। याज्ञवल्क्य वैकल्पिक पक्ष का निषेध करके 'अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि' प्रैष मन्त्र का विधान करते हैं। (शत०ब्रा० ३।६।३।६)

(अध्वर्यु द्वारा प्रस्तोता के प्रति प्रयुक्त प्रैष मन्त्र विषयक मतभेद)

घर्मोद्वासन (घर्मपात्रासादन) के प्रति अध्वर्यु मन्त्र सहित (शु०य०सं० ३८।१६) गमन करता है। इस मन्त्र से प्रवर्ग्य संभार ग्रहण कर अध्वर्यु को प्रस्तोता के प्रति किस प्रैष मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए, इस विषय में कुछ आचार्य 'सामगाय' प्रैष मन्त्र का विधान करते हैं। अन्य आचार्यों के मतानुसार 'साम ब्रूहि' इस प्रैष मन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। (शत०ब्रा० १४।३।१।१०)

याज्ञवल्क्य प्रथम पक्ष का ही निगमन करते हैं। उनके मतानुसार 'साम गाय' यही प्रैष मन्त्र कहना चाहिए। (शत०ब्रा० १४।३।१।१०) 'साम ब्रूहि' नहीं क्योंकि साम के द्वारा गायन होता है, ऋचा के समान उसे पढ़ा नहीं जाता। गीत्यात्मक होने के कारण 'साम गाय' ही कहना चाहिए। साम गमन करते समय गाया जाता है जिससे राक्षसी प्रजा तथा राक्षसों से हिंसा न हो। अन्य मन्त्रों के होते हुए भी सामगान का कारण यह है कि वह तेजोरूप होने से राक्षसों का विनाशक है। प्रस्तोता अग्निदेवता सम्बन्धिनी ऋचा——

'अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।

घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषा जुह्वानस्य सर्पिषः ॥
[शु० य० सं० १५।४७]

पर सामगान करता है क्योंकि अग्नि राक्षसों का विनाशक है। वह ऋचा अति छन्द युक्त होती है। [शत० ब्रा० १४।३।१।११] छन्दों के परिमाण को

पार कर जिस ऋचा का छन्द होता है वह अतिछन्दा है। यह अति छन्द वाली ऋक् सभी छन्दों के रूप वाला है क्योंकि गायत्री आदि उसमें अन्तर्भूत हैं। अन्य ऋचाओं के गान में अधिक अक्षरों के अन्तर्भाव न होने से सब छन्दों का ग्रहण सिद्ध नहीं होता। अध्वर्यु से प्रेषित पस्तोता को 'अग्निष्टपति पतिदहृत्यहावो हाव:' इस स्तोभ पद का आरम्भ करके साम गान प्रारम्भ करना चाहिए। [शत० ब्रा० १४।३।१।१२]

[अध्वर्युकृत प्रातरनुवाक सम्बन्धी पतिगर विषयक मतभेद]

अध्वर्यु को प्रातरनुवाक के पारम्भ से लेकर उसकी समाप्ति तक जागरण करना चाहिए। उसके द्वारा पलकों का गिराया जाना ही प्रतिगर है।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करके स्वमत पस्तुत करते हैं कि अध्वर्यु को होता के साथ जागना ही पड़ता है क्योंकि इसके पश्चात् होता प्रातरनुवाक पाठ करता है। यदि अध्वर्यु को पुन: नींद आ जाय तो वह यथेष्ट सो सकता है। उसे होता के पातरनुवाक समाप्त करने पर प्रचरणी स्रुक् में चार बार आज्य लेकर हवन करना चाहिए। [शत० ब्रा० ३।६।३।११]

[माध्यन्दिन सवन में द्यावा पृथिवीय शस्त्रानन्तर पढ़े जाने वाले प्रतिगर के विषय में मतभेद]

इस विषय में याज्ञवल्क्य का मत है कि द्यावापृथिवी के लिए शस्त्र पाठ होता है। अध्वर्यु ओ३म्' रस को पावा पृथिवी पर रखता है। क्योंकि द्युलोक और पृथ्वी पर ही सम्पूर्ण प्रजा जीवित रहती है। 'ओ३म्' को ही प्रतिगर के रूप में ग्रहण करना चाहिए। वही सत्य है उसे देवता जानते हैं। [शत० ब्रा० ४।३।२। १२] अन्य आचार्यों के मतानुसार 'ओथामो दैववाक्' प्रतिगर का पाठ करना चाहिए क्योंकि प्रतिगर वाणी है इससे वाणी प्राप्त होती है।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उनके विचार से चाहे जिस प्रकार वह प्रतिगरण करेगा, वाणी उसके द्वारा प्राप्त होती है। वाणी के द्वारा ही वह प्रतिगरण करता है। इसलिए 'ओ३म्' को ही प्रतिगर बनाना चाहिए क्योंकि वह सत्य है और उसे देवता जानते हैं। (शत० ब्रा० ४।३।२।१३)

(पिण्डपितृ यज्ञ में आश्रावण प्रत्याश्रावण सम्बन्धी मतभेद)

कुछ आचार्यो के मत से आश्रावण और प्रत्याश्रावण न होना चाहिए

अध्वर्यु को 'श्रौषट्' के स्थान पर 'ओम्स्वहा'; अग्नीध्र को 'अस्त स्वधा' तथा वषट् के स्थान पर 'स्वधानमः' कहना चाहिए। (शत० ब्रा० २।६।१।२४)

आचार्य आसुरि का मत है कि यज्ञ विधि के अनुरूप कार्य सम्पादनार्थ आश्रावण, प्रत्याश्रावण तथा वषट् होना चाहिए। (शत० ब्रा० २।६।१।२५)

३-पाठाधिक्य विषयक मतभेद

(सामिधेनी ऋचाएं और उनके पाठ में मतभेद)

सामिधेनी ऋचाएं एकादश होती हैं आवश्यकतानुसार ऋचाओं के आवर्तन से पंचदश, सप्तदश तथा एकविंश होती हैं। वस्तुतः इनकी संख्या एकादश ही है। इध्म (अग्नि प्रज्ज्वलनार्थ काष्ठ) अवश्य पन्द्रह या सत्रह होते हैं। दर्श पूर्णमास में इध्मकाष्ठ पन्द्रह या सत्रह ही होते हैं। सामिधेनी ऋचाओं में से प्रथम ऋचा तथा अन्तिम एकादश ऋचा का तीन-तीन बार आवर्तन करने से उनकी पंचदश संख्या होती है। एकादश सामिधेनी ऋचाएं अधोलिखित हैं—

'प्रवोवाजा अभिद्यवो हविष्मन्तो घृताच्या।
देवांजिगाति सुम्नयुः। (शत० ब्रा० १।४।१।७) ॥१॥

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये।
निहोता सत्सि बर्हिषि॥ (शु०य०सं० ११।४६, शत० ब्रा० १।४।१।७) ॥ २ ॥

तंत्वा समिद्भिरंगिरो घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य (शत० ब्रा० १।४।१।२५) ॥३॥

स नः पृथुः श्रवाय्यमच्छा देव विवाससि।
बृहदग्ने सुवीर्य्यम्॥ (शत० ब्रा० १।४।१।२७) ॥४॥

ईडेन्यो नमस्यस्तिरस्तमांसि दर्शतः।
समग्निरिध्यते वृषा॥ (शत० ब्रा० १।४।१।२९) ॥५॥

वृषो अग्निः समिध्यते अश्वो न देववाहनः।
तंहविष्मन्त ईडते॥ (शत० ब्रा० १।४।१।२६ ॥६॥

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषाणः समिधीमहि।
अग्ने दीद्यतं बृहत्॥ (शत० ब्रा० १।४।१।३२) ॥७॥

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्॥ (शत० ब्रा० १।४।१।३४) ॥८॥

समिध्यमानो अध्वरे अग्निः पावक ईड्यः ।
शोचिष्केशस्तमीमहे ।। (शत० ब्रा० ।४।१।३८) ।।९।।

समिद्धो अग्न आहुत देवान् यक्षि स्वध्वर ।
त्वंहि हव्यवाडसि ।। (शत० ब्रा० १।४।१।३८) ।।१०।।

आजुहोता दुवस्यताग्निं प्रयत्यध्वरे ।
वृणीध्वं हव्यवाहनम् ।। (शत० ब्रा० १।४।१।३९ ।।११।।

एकादश सामिधेनी ऋचाओं में से प्रथम ऋचा का तथा एकादश ऋचा का तीन-तीन बार आवर्तन करना चाहिए। इस आवर्तन से यजमान तीनों लोकों पर विजय प्राप्त करता है। होता तीन बार के आवर्तन से प्राण, अपान और उदान को अविच्छिन्न रखता है। विशेष बात यह है कि प्रथम और एकादश ऋचाओं को तीन-तीन बार एक स्वांस में ही पढ़ना चाहिए। (शत० ब्रा० १।३।५।१३) यदि होता में इतनी शक्ति न हो कि वह एक स्वांस में ही तीन-तीन बार ऋचा का आवर्तन कर सके इस स्थिति में कुछ आचार्यों के मतानुसार होता बीच-बीच में रुक-रुक कर ऋचा का पाठ कर सकता है, इसमें कोई दोष नहीं है।

याज्ञवल्क्य उन आचार्यों के मत का खण्डन करते हुए स्वमत प्रतिपादन करते हैं कि बीच-बीच में रुक-रुक कर स्वांस लेने से होता की असमर्थता प्रकट होगी जो निन्दनीय है। (शत०ब्रा० १।३।५।१४) उचित मार्ग का निर्देश करते हुए उनका कथन है कि एक-एक ऋचा के पूर्ण होने पर स्वांस लेना चाहिए। इस प्रकार तीन बार में क्रमशः एक-एक लोक यजमान के लिए प्राप्त किया जाता है तथा यजमान के लिए प्राण धारण किया जाता है। अतः एक-एक ऋचा के बाद ही स्वांस लेना चाहिए। (शत० ब्रा० १।३।५।१५) याज्ञवल्क्य स्वमत पुष्टि के लिए एक अन्य कारण प्रस्तुत करते हैं। गायत्री छन्द में चौबीस अक्षर होते हैं। सामिधेनी ऋचाएं पंचदश हैं। पंचदश सामिधेनी ऋचाओं में तीन सौ साठ अक्षर वर्ष के तीन सौ साठ दिनों के लिए प्रयुक्त हैं। उन्हें खण्ड करके नहीं पढ़ना चाहिए अन्यथा संवत्सर में व्यवधान पड़ेगा। दिन और रात क्रम से आते हैं उनमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। उसी प्रकार एक सामिधेनी का दूसरी सामिधेनी ऋचा से सम्बद्ध है। (शत० ब्रा० १।३।५।१६)

(४) स्थानान्तरण विषयक मतभेद

(सामिधेनी ऋचाओं में अष्टमी ऋक् का निर्धारण एवं दो धाय्या ऋचाओं के स्थान विषयक मतभेद)

ऋषि याज्ञवल्क्य अधोलिखित ऋचा को अष्टमी मानते हैं।

'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतम् ॥' (शत०ब्रा० १।४।१।३४)

एकादश सामिधेनी ऋचाओं में इसे अष्टमी ऋचा मानने का कारण यह प्रस्तुत करते हैं कि गायत्री छन्द में आठ अक्षर होते हैं। अतः इसका स्थान अष्टम होना चाहिए। (शत० ब्रा० १।४।१।३६) जहाँ सप्तदश सामिधेनी ऋचाओं का उल्लेख मिलता है वहां दो धाय्या ऋचाएं और मिला दी जाती हैं। वे इस प्रकार हैं—

१–पृथुपाजा अमर्त्यो घृतनिर्णिक्स्वाहुतः।
अग्निर्यज्ञस्य हव्यवाट् ॥ (ऋ० सं० ३।२७।५, मै० सं० ४।१०।१)
२–तं सबाधो यतस्रुच इत्था धिया यज्ञवन्तः।
आचक्रुरग्निमूतये। (ऋ० सं० ३।२७।६)

कुछ आचार्य इन दोनों धाय्या ऋचाओं को अष्टमी ऋचा के पूर्व रखते हैं। कारण यह प्रस्तुत करते हैं कि ये दो ऋचाएँ मुख रूप हैं। मुख से ही भोजन किया जाता है अतः अष्टमी के पूर्व ही दोनों धाय्या ऋचाओं को रखना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हैं क्योंकि ऐसा करने से अष्टमी ऋचा असमर्थ हो जायगी और उसमें गायत्री का सामर्थ्य नहीं रहेगा। साथ ही वह दसवीं हो जायगी तथा नवीं ऋचा ग्यारहवीं होगी। अपना मत प्रस्तुत करते हुए उनका कथन है कि अष्टमी ऋचा के बाद में दोनों धाय्या ऋचाओं का प्रक्षेपण करना चाहिए। नवीं (समिध्यमानवती) तथा दसवीं (समिध्यवती) ऋचाओं के बीच में दोनों धाय्या ऋचाएं पढ़ी जानी चाहिए।

५—विशिष्ट कर्म में मन्त्र की आवश्यकता के विषय में मतभेद

(फलीकरण में शाखान्तर मन्त्र विधि-विरोध)

पुरोडाश (याज्ञिकरोटियां) अथवा चरु के लिए यव या व्रीहि को उलूखल में मुसल से कंडन करके सूर्प से तुष् निकाल दी जाती है। तुष् निकालने की क्रिया को 'फलीकरण' कहते हैं। तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार फलीकरण करते समय 'देवेभ्यः शुन्धध्व देवेभ्यः शुन्धध्वं' मंत्र को तीन बार पढ़ना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस मत से असहमत प्रतीत होते हैं। उनका मत है कि हविष् ग्रहण करते समय अध्वर्यु के द्वारा 'अग्नये जुष्टं गृह्णामि' कहा गया था

यदि इस समय 'देवेभ्यः शुन्धध्वं' कहा गया तो वह हविष् सब देवों के लिए होगा। फलतः उनमें कलह होगा। अतः फलीकरण करते समय किसी मन्त्र का प्रयोग न करना चाहिए। (शत० ब्रा० १।१।४।२४)।

(४) विधि विषयक मतभेद

(क) समय विषयक मतभेद

१—हविर्यज्ञसमय विषयक मतभेद

(अग्न्याधान के अनुष्ठानार्थ समय सम्बन्धी मतभेद)

'अग्न्याधान अमावास्या में ही अनुष्ठित होना चाहिए।' इस पक्ष को लेकर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि दर्शपूर्णमासादि यज्ञात्मक प्रजापति संवत्सर है क्योंकि संवत्सर में द्वादश मास तथा पांच ऋतुएं होने से सप्तदश संख्या पूर्ण होती है। प्रजापति भी सप्तदश अंग वाले हैं। अमावास्या की रात्रि संवत्सर का द्वार तथा चन्द्रमा इसका पिधान है। (तिरोधायक है) चन्द्रमा अमावास्या में रहता नहीं अतः द्वार अनावृत ही रहता है। उस द्वार से यज्ञ में प्रवेश सुकर होता है। अमावास्या में आधान करने वाले व्यक्ति को दोनों आयतनों में आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों को स्थापित करना चाहिए। अमावास्या में आधान करना अनावृत द्वार से पुर में प्रविष्ट होकर स्वर्ग में पहुँचने के समान है। यज्ञावरोधक चन्द्र के अदर्शन रूप पिधान के अनावृत रहने से आधान सम्पादन करके अमावास्या रूप द्वार से यज्ञ में प्रविष्ट होकर संवत्सरात्मक यज्ञ-द्वार से स्वर्ग लोक में प्रवेश होता है। (शत० ब्रा० ११।१।१।२)।

तैत्तिरीयकों के मतानुसार कृत्तिका आदि नक्षत्रों में अग्न्याधान करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हैं कि जो यजमान कृत्तिकादि किसी नक्षत्र में आधान करता है वह उसी प्रकार करता है जैसे कि कोई लौकिक मनुष्य द्वारवर्जित प्रदेश से नगर में प्रवेश करना चाहे और उस बक्रपुर में प्रविष्ट न हो सके। उस यजमान का नक्षत्राधान भी इसी प्रकार होता है। (शत० ब्रा० ११।१।१।३) आधान के दिन चन्द्र-दर्शन होने के कारण अमावास्या रूप द्वार के आवृत होने से उस यजमान का यज्ञ में प्रवेश दुष्कर है। याज्ञवल्क्य स्वमत पुष्टि के लिए अमावास्या की प्रशंसा करते हैं। अमाबास्या को ही उपवास (आधान, सम्भार-सम्भरण करके गार्हपत्य आयतन के समीप, यजमान का अवस्थान) करना चाहिए। अमावास्या को महत्त्व देने का कारण है कि चन्द्रमा अमावास्या को इस लोक में आते हैं और उसी दिन यज्ञ-भूमि में निवास करते हैं। (शत० ब्रा०

११।१।१।४) चन्द्रमा उस दिन यहाँ रहते हैं। अतः सब देव, सब प्राणी, सब देवता, सब ऋतुएं, सब स्तोम, सब पृष्ठ और सब छन्द भी रहते हैं। (शत० ब्रा० ११।१।१।५) जो अमावास्या को आधान करता है वह उक्त सब के लिए अग्न्याधान सम्पन्न करता है। (शत० ब्रा० ११।१।१) वैशाख मास की अमावास्या को अग्न्याधान करना चाहिए। वह वैशाखी अमावास्या रोहिणी नक्षत्र से युक्त होती है। वैशाखी पूर्णमासी को विशाखा नक्षत्र, उसके पश्चात् पन्द्रह नक्षत्रों के परिगणन के बाद अमावास्या में रोहिणी होती है। रोहिणी का अर्थ आत्मा, प्रजा और पशु होता है। अतः रोहिणी में आधान करने से यजमान, आत्मा, प्रजा तथा पशु में प्रतिष्ठित होता है। अमावास्या अग्न्याधेय का रूप है। अतः उस यजमान को अमावास्या में ही अग्न्याधान करना चाहिए। पौर्णमास में अन्वारम्भण तथा अमावास्या को दीक्षा संस्कार करना चाहिए। (शत०ब्रा० ११।१।१।७)

(अग्न्याधानार्थ अग्निमन्थन समय विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार अग्निमन्थन सूर्योदय से पूर्व अर्थात् उषः काल में करना चाहिए तथा गार्हपत्यागार से आहवनीयागार में सूर्योदय के पश्चात् अग्निप्रणयन करना चाहिए। उनका विचार है कि इस प्रकार दिन और रात दोनों का कर्माङ्गरूप से ग्रहण होता है तथा प्राण, उदान एवं मन और वाणी की प्राप्ति होती है।

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हैं और सूर्योदय के पश्चात् अग्निमन्थन सम्पादनार्थ मत व्यक्त करते हैं। उनके विचार से यदि सूर्योदय से पूर्व अग्निमंथन किया जाता है और सूर्योदय के पश्चात् अग्निप्रणयन होता है तो सूर्योदय से पूर्व अग्निमन्थन करने वालों की गार्हपत्य आहवनीय दोनों अग्नियों का आधान सूर्योदय से पूर्व ही हो जाता है। सूर्योदय के पश्चात् सम्पन्न होने वाला अग्निमन्थन अधिक फल प्रदान करता है। (शत०ब्रा० २।१।४।८)

(अग्न्याधेय का अन्त पूर्णाहुति तक मानना चाहिए अथवा उत्तराहुतियों तक)

कुछ आचार्यों के मतानुसार पूर्णाहुति करके उत्तराहुति का आदर न करना चाहिए क्योंकि पूर्णाहुति से अभीष्ट प्राप्त हो जाता है। (शत० ब्रा० २।२।१।५) अन्य आचार्यों के मतानुसार उत्तराहुति की भी आवश्यकता है। बिना उत्तराहुति के अग्न्याध्येय अपूर्ण होता है। उत्तराहुतियाँ तीन होती हैं—१—अग्निपवमान के लिए, २—अग्निपावक के लिए तथा ३—अग्निशुचि के लिए।

अध्वर्यु अग्निपवमान के लिए हविष् निर्वाप करता है। पवमान अग्नि प्राण है। इस प्रकार अध्वर्यु यजमान में प्राण की स्थापना करता है। प्राण का अर्थ

अन्न है और यह आहुति भी अन्न है। (शत० ब्रा० २।२।१।६) इसके पश्चात् अध्वर्यु अग्निपावक के लिए हविष् प्रदान करता है। पावक का अर्थ अन्न है। इस प्रकार अध्वर्यु यजमान में अन्न को रखता है। यह आहुति सचमुच अन्न ही है। (शत० ब्रा० २।२।१।७) तत्पश्चात् अध्वर्यु अग्निशुचि के लिए आहुति देता है। शुचि वीर्य है, इस प्रकार वह यजमान में वीर्य रखता है क्योंकि अग्नि में उस हविष् के हवन करने से उस वीर्य का प्रकाश तेज हो जाता है। (शत० ब्रा० २।२।१।८)।

ब्रह्मवादियों के विचार से पूर्णाहुति से जो फल प्राप्त होता है उसकी प्राप्ति के लिए उत्तराहुतियाँ होती हैं तो इन उत्तराहुत्तियों का उपयोग ही क्या है? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य का कथन है कि उत्तराहुतियों को अवश्य करना चाहिए क्योंकि जो परोक्ष कामना थी वह उत्तराहुति से प्रत्यक्ष हुई। (शत० ब्रा० २।२।१।९) पूर्णाहुति के द्वारा अग्नि में जिन प्राण, अन्न और वीर्य का धारण किया जाता है, वह परोक्ष-सा होता है। पवमान इष्टियों के द्वारा वह प्रत्यक्ष ही किया जाता है क्योंकि पवमान, पावक और शुचि शब्दों से प्राण, अन्न और वीर्य का प्रतिपादन होता है। अतः इन पवमान इष्टियों को नियम पूर्वक सम्पन्न करना चाहिए। अध्वर्यु अग्नि पवमान के लिए इसलिए हविष् देता है कि पवमान प्राण है। जब शिशु उत्पन्न होता है, प्राण उसमें रहता है और जब तक वह उत्पन्न नहीं होता तब तक माता के प्राण से प्राण धारण करता है। अध्वर्यु उत्पन्न हुए शिशु में प्राण प्रतिष्ठा करता। (शत० ब्रा० २।२।१।१०) अग्नि पावक को हविष प्रदान करने का कारण यह है कि पावक का कार्य है अन्न। इस प्रकार उत्पन्न होने पर शिशु में अन्न की स्थापना होती है। (शत० ब्रा० २।२।१।११) अग्नि शुचि को हविष् प्रदान करने का कारण यह हैं कि शुचि का कार्य है वीर्य। जब यह शिशु अन्न की सहायता से बढ़ता है तब उसमें पावक होता है। अग्निशुचि के लिए हविष् प्रदानानन्तर शिशु में कान्ति तथा आभा की स्थापना की जाती है (शत० ब्रा० २।२।१।१२)।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि पूर्णाहुति के पश्चात् उत्तराहुति का सम्पादन होना चाहिए।

(पौर्णमास याग सम्बन्धिनी उपवास तिथि के विषय में मतभेद)

याज्ञवल्क्य के मतानुसार यजमान को पौर्णमासी तिथि के पूर्व ही (शुक्ल चतुर्दशी को) उपवास करना चाहिए। (शत० ब्रा० १।६।३।३१) अन्य आचार्यों के मत से यजमान को पूर्णमासी के दिन अर्थात् याग के ही दिन उपवास करना चाहिए क्योंकि जो पूर्णमासी को उपवास करते हैं वे अपने को किसी के

संघर्ष में डालते हैं और जब दो व्यक्ति संघर्ष में आते हैं तब वस्तुत: यह सन्देह होता है कि दोनों में से कौन श्रेष्ठ है। दूसरे दिन उपवास करने वाला उसी प्रकार करता है जैसे कि कोई व्यक्ति पीछे भागते हुए शत्रु को आहत करे। जब कि वह शत्रु उसका प्रतिकार भी नहीं कर पाता। (शत० ब्रा० १।६।३।३३) याज्ञवल्क्य प्रथम मत का मण्डन तथा द्वितीय मत का खण्डन करते हैं। यजमान को पूर्णमासी के पूर्व ही उपवास करना चाहिए। जो द्वितीय दिन उपवास करता है वह दूसरे द्वारा मृत किये गये व्यक्ति का हनन करता है। वह दूसरे के द्वारा किये गये कार्यों का अनुकरणमात्र करता है। (शत० ब्रा० १।६।३।२४) स्वमत पुष्टि के लिए आख्यायिका प्रस्तुत करते हैं :—

प्राचीन समय में प्रजा की उत्पत्ति करने वाले प्रजापति के शरीर की गात्र-संधियाँ अलग हो गयीं। वर्ष में ही सभी प्रजाओं की उत्पत्ति होने के कारण संवत्सर ही प्रजापति है और उस कालात्मक प्रजापति की प्रात: और सायंकाल, पौर्णमासी तथा अमावास्या एवं वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओं के प्रारम्भ ये सभी गात्र संधियां खुल गयीं। (शत०ब्रा० १।६।३।३५) विलग हुई संधियों वाला प्रजापति उनका संघटन करने में असमर्थ रहा। देवताओं ने पौर्णमासयाग में दिये जाने वाले हविष् के द्वारा प्रजापति की दवा-दारू की। अग्निहोत्र के द्वारा दिन रात्रि के संधिस्थलों (प्रात: एवं सायं को) जोड़ दिया। पौर्णमास तथा दर्शयाग के द्वारा पूर्णमासी और अमावास्या को मिला दिया। चातुर्मास्य की तीन आहुतियों से ऋतुओं के मुख (प्रारम्भ) को जोड़ दिया। (शत० ब्रा० १।६।३।३६) परिणाम यह हुआ कि वह कलात्मक प्रजापति सुदृढ़ पर्वों वाला भोजनार्थ (जो इस अवसर पर प्रजापति को किया जायगा) स्वयं ही उठ खड़ा हुआ। जो इसे जानते हुए पूर्णमासी पहले उपवास करता है वह प्रजापति की गात्र संधियों को यथा समय जोड़ता है और प्रजापति उस अनुग्रह करते हैं। इस प्रकार पूर्व पूर्णमासी को उपवास करने वाला प्रजापति के समान अन्नोपभोक्ता होता है। अत: पूर्णमासी के पूर्व ही उपवास करना श्रेयष्कर है। (शत० ब्रा० १।६।३।३७)।

(दर्शयागीय उपवास तिथि विषयक मतभेद)

इस विषय में एक मत यह है कि चतुर्दशी युक्त अमावस्या को उपवास करना चाहिए क्योंकि द्वितीय दिन चन्द्रदर्शन होगा ही नहीं अत: चन्द्रदर्शन रहित दिन में उपवास करना अनुचित होगा। चन्द्रमा देवताओं का अक्षीण अंग है अतएव जिस प्रकार यह क्षीण न हो वैसा ही करना चाहिए। जब चन्द्राख्य अन्न दृष्टिगत नहीं होता (अर्थात् समाप्त हो जाता है) तब उसके स्थान पर हम इस लोक से 'देवताओं को अन्न भेजेंगे' यह प्रतिज्ञा की जाती है। अत: चतुर्दशी युक्त अमावस्या को ही उपवास करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उनका मत है कि जब चन्द्र का दर्शन न हो अर्थात् अमावास्या को ही उपवास करना चाहिए। (शत० ब्रा० १।६।४।१४ उस दिन सोम राजा पृथ्वी पर आगमन करते हैं। अतः दिखायी नहीं पड़ते। वे ओषधियों में वास करते हैं। पशु ओषधि भक्षणान्तर दूध देते हैं। उसी प्रकार ये ओषधियां ही आहुति रूप हैं और यह दूध ही सोम राजा है। यह एक आख्यायिका से स्पष्ट है कि सोम इस रात्रि में यहाँ आकर ओषधियों में प्रविष्ट हो जाते हैं। बाद में दृष्टिगत होते हैं। (शत० ब्रा० १।६।४।१५) दूसरी बात यह है कि देवताओं का अन्न क्षीण नहीं होता। इसी तरह जो आगामिनी इष्टि सम्पादनार्थ चन्द्र रहित अमावास्या को उपवास करता है अथवा जो इस बात को जानता है उन दोनों का कल्याण होता है। शत० ब्रा० १।६।४।१६)

(पौर्णमास तथा दर्शयाग सम्पादन की अवधि के विषय में मतभेद)

इस विषय में दो पक्ष हैं—प्रथम पक्ष यह है कि यजमान को आजीवन दर्श-पूर्णमास यागों से यजन करना चाहिए। द्वितीय पक्ष यह है कि तीस वर्ष तक दर्शपूर्णमास याग करना चाहिए। इसी द्वितीय पक्ष का निगमन किया गया है। याज्ञवल्क्यीय सम्प्रदाय के अनुसार जो लोग पूर्णमास तथा दर्शयाग करते हैं वे दौड़ लगाते हैं। जितने समय में वह दौड़ पूरी हो जाय उतने समय तक पूर्णमास तथा दर्शयाग करना चाहिए। पन्द्रह वर्ष तक दर्शपूर्णमास याग करना चाहिए क्योंकि पन्द्रह वर्षों में तीन सौ आठ पूर्णमास तथा दर्श होते हैं (एक सौ अस्सी पूर्णमास तथा उतने ही दर्श) एक वर्ष में तीन सौ आठ रात्रियाँ होती हैं। इस प्रकार यजमान रात्रियों को प्राप्त करता है। (शत० ब्रा० ११।१।२।१०) इन पन्द्रह वर्षों के बाद पुनः पन्द्रह वर्ष तक दर्श पूर्णमास करना चाहिए। पन्द्रह वर्षों में तीन सौ साठ पूर्णमास तथा दर्श होते हैं। एक वर्ष में तीन सौ साठ दिन होते हैं। इस प्रकार यजमान दिनों को और स्वयं संवत्सर को भी प्राप्त करता है। (शत० ब्रा० ११।१।२।११) संवत्सर प्राप्ति से ही देव अमर्त्य हुए हैं। संवत्सर प्राप्ति से ही दर्शपूर्णमासयाजी का सुकृत क्षयरहित होता है। (शत० ब्रा० ११।१।२।१२)

इससे अवगत हुआ जो व्यक्ति तीस वर्ष तक दर्शपूर्णमासयाग करता है वह दौड़ लगाने वालों में एक होता है। दाक्षायण यज्ञ करने वाले यजमान को पन्द्रह वर्ष तक ही दर्शपूर्णमास याग सम्पादन करना चाहिए क्योंकि यह यजमान प्रति-मास दो पौर्णमास याग तथा दो आमावास्या करता है जिससे वह पूर्णता उसमें आ जाती है। (शत० ब्रा० ११।१।२।१३)

(साकमेध पर्व में पूर्णदर्व्याख्य कर्म सम्बन्धी हवन के समय में मतभेद)

प्रातःकाल अग्निहोत्र की समाप्ति पर अथवा उसके पूर्व होमार्थ समन्तक हविर्ग्रहण का विधान। दर्वी के द्वारा कुम्भी से अधोलिखित मन्त्र पढ़कर हविर्ग्रहण किया जाता है।

पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत।
वस्तेव वक्रीणावहा इषमूर्जं शतक्रतो ॥

(शु०य०सं० ३।४०, शत०ब्रा० २।५।३।१७)

आहुति-समय के विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि अध्वर्यु यजमान को ऋषभ (बल) से शब्द कराने के लिए आदेश दे। ऋषभ के ध्वनि करने पर हवन करना चाहिए। उसका शब्द ही वषट्कार है और वषट्कार के अनन्तर ही हवन सम्पन्न होता है।

याज्ञवल्क्य का मत है कि यह ऋषभ ध्वनि वषट्कार नहीं है वह इन्द्र का रूप ही है जिससे वृत्र-वध के लिए इन्द्र का आह्वान किया जाता है। यदि ऋषभ शब्द करता है तो जानना चाहिए कि यज्ञ में इन्द्र का आगमन हो गया और यज्ञ इन्द्रसहित हो गये। यदि ऋषभ शब्द नहीं करता तो दक्षिण दिशा में स्थित ब्रह्मा को अध्वर्यु से 'जुहुधि' कहना चाहिए जो इन्द्र की वाणी है। (शत०ब्रा० २।५।३।१८) हवन अधोलिखित मन्त्र से सम्पन्न होना चाहिए :—

'देहि ते ददामिते, नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥

(शु०य०सं० ३।५०, शत०ब्रा० २।५।३।१९)

(पशुबन्ध की दक्षिणा के सम्बन्ध में मतभेद)

एक शाखा के आचार्य वपा-होम के अनन्तर तथा पशुपुरोडाश इष्टि के पूर्व ही पश्वंगभूत दक्षिणा (जिसमें किसी पशु या गाय का सिर तथा अन्य वस्तुएँ रहती हैं) देने का विधान करते हैं।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उक्त मत पर आक्षेप करते हुए उनका कथन है कि इस समय दक्षिणा ले आते हुए यजमान से कोई अभिज्ञ यह कह सकता है कि 'यह यजमान प्राणों से बाह्य देश में दक्षिणा ले आया। उस दक्षिणा से प्राणों की वृद्धि नहीं की।' इस स्थिति में यजमान या तो अंधा हो जायगा या व्रणी अथवा बहरा हो जायगा अथवा एकांगवाद से शुष्क अर्ध शरीर-वाला होगा। (शत० ब्रा० १।७।२।४) याज्ञवल्क्य अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि वपा याग के अनन्तर पशु पुरोडाशीय इडोपाह्वान के पश्चात् दक्षिणा ले आनी चाहिए। मध्य शरीर में वर्तमान प्राण इन्द्र देवता से सम्बन्धित है। इस

प्रकार मध्य (माध्यन्दिनसवन) से ले आयी जाती हुई दक्षिणाओं के द्वारा इन्द्र बलवान् बनाये जाते हैं क्योंकि वह सवन तो पूर्णरूपेण उन्हीं का है जैसा कि श्रुति से प्रकट है।

'प्रातः सुतमपिबो हर्यश्व माध्यंदिनं सवनं केवलं ते।' (ऋ० सं ४।३५।७) सोमयाग के माध्यन्दिन सवन में ही ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है। अतः माध्यन्दिन सवन के रूप से संस्तुत पुरोडाश तथा इडा के हवन किये जाने पर दक्षिणा ले आनी चाहिए। (शतपथ ब्राह्मण ११।७।२।५)

२—सोमयागीय समय विषयक मतभेद

(वाग्विसर्जनार्थ समय विषयक मतभेद)

तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार दीक्षित यजमान को प्रथम नक्षत्र (तारा) दृष्टिगत होने पर वाग्विसर्जन करना चाहिए क्योंकि उस समय सूर्य पूर्णरूपेण हो जाता है।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। उनका तर्क है कि जब आकाश में मेघ होंगे और एक भी नक्षत्र नहीं दृष्टिगत होगा तब अनुष्ठाता लोग दीक्षित (यजमान) से वाग्विसर्जन कैसे करा पाएँगे ? अतः दीक्षित को सूर्यास्त का ज्ञान होने पर वाग्विसर्जन करना चाहिए। (शत० ब्रा० ३।२।२।५)

(सोमयाग में एकादशयूप प्रतिष्ठापन के समय में मतभेद)

इस विषय में अभिज्ञों के दो मत हैं—प्रथम मत के अनुसार सब यूपों को सुत्या के पूर्व दिन ही प्रतिष्ठापित कर देना चाहिए। (शत० ब्रा० ३।८।२।३)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध तथा द्वितीय मत का प्रतिपादन करते हैं साथ ही साथ प्रथम मत के दोषपूर्ण होने का कारण भी प्रस्तुत करते हैं। सुत्या के पूर्व दिन उत्तरवेदी की प्राची दिशा में स्थित अग्नि-सोमीय पशु के लिए एक ही यूप प्रतिष्ठापित किया जाना चाहिए क्योंकि अध्वर्यु इस यूप के प्रतिष्ठापित हो जाने पर इसका स्पर्श रशना बन्धन के समय तक किये रहता है। सुत्या के पूर्व दिन सब यूपों का साथ ही प्रतिष्ठापन हो जाने से एक (जिसे अध्वर्यु स्पर्श किये रहता है) के अतिरिक्त अन्य सब यूप रात्रि पर्यन्त नग्नावस्था में ही रहते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त मत की निन्दा हो गयी। पशुओं का आलम्भन द्वितीय दिन (प्रातः) होने से अध्वर्यु के द्वारा अन्य यूप द्वितीय दिन प्रातःकाल में प्रतिष्ठापित किये जाने चाहिए। (शत० ब्रा० ३।७।२।४)

(अतिग्राह्य ग्रहों के ग्रहणार्थ समय विषयक मतभेद)

याज्ञवल्क्य ने सर्वप्रथम अतिग्राह्य ग्रहों की नामकरण विषयक अनूठी कहानी कहकर ग्रहण से लाभ, तत्पश्चात् इनके ग्रहण के समय का भी निर्देश किया है। पहले सब देव समान (एक से) थे। सब अच्छे थे उनमें तीन देवों ने सोचा कि हम श्रेष्ठ हो जायं। (शत० ब्रा० ४।५।४१) वे अर्चना करते हुए तथा परिश्रम करते हुए बढ़ते गये। तत्पश्चात् उन्होंने अतिग्राह्य ग्रहों का अवलोकन किया। उन्होंने उसे अपने लिए सब ओर से ग्रहण किया। अतः उन ग्रहों का नाम 'अतिग्राह्य' पड़ा। वे तीनों (अग्नि, इन्द्र और सूर्य) देवता श्रेष्ठ बन गये और आज भी श्रेष्ठ बने हुए हैं। इसे जानते हुए जिस व्यक्ति के ग्रहों का ग्रहण किया जाता है वह भी श्रेष्ठ बन जाता है। (शत० ब्रा० ४।५।४।२) इस ग्रह-ग्रहण के पूर्व न तो अग्नि में वह तेज था (शत०ब्रा० ४।५।४।३) इन्द्र में यह बल नहीं था (शत० ब्रा० ४।५।४।४) सूर्य मैं वह प्रताप नहीं था (शत०ब्रा० ४।५।४।५) जो अब है। उन देवों ने ग्रह को अपने लिए आहरण किया और उनमें क्रमशः तेज, बल और प्रताप आ गया। इसे जानते हुए जिस यजमान के लिए इन सोम ग्रहों का ग्रहण होता है वह तेज और बीर्य को अपने में धारण करता है। (शत० ब्रा०४।५।४।५) इन ग्रहों के ग्रहण समय में मतभेद है—प्रथम मत के अनुसार अतिग्राह्य ग्रहों को प्रातः सवन में आग्रयण ग्रह के पश्चात ग्रहण करना चाहिए क्योंकि आग्रयण आत्मा है और उस आत्मा के अनेक भाग हैं जैसे क्लोम, हृदय तथा अन्य भाग। (शत०ब्रा०४।५।४।६) दूसरे मत के अनुसार माध्यन्दिन में उक्थ्य ग्रह के पश्चात् ग्रहण करना चाहिए।

याज्ञवल्यय का कथन है कि यह केवल मीमांसा ही है। इन अतिग्राह्य ग्रहों को प्रातः सवन में आग्रयण ग्रह के अनन्तर ही ग्रहण करना चाहिए। (शत० ब्रा० ४।५।४।७) पृष्ठ्य, षडह में प्रथम तीन दिनों में उनका ग्रहण होना चाहिए। प्रथम दिन आग्नेय ग्रह, द्वितीय दिन ऐन्द्रग्रह तथा तृतीय दिन सौर्यग्रह का ग्रहण किया जाता है। (शत० ब्रा० ४।५।४।१३) अन्य आचार्यों के मतानुसार अन्तिम तीन दिनों में अतिग्राह्य ग्रहों का ग्रहण होना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करके स्वस्त प्रस्तुत करते हैं— प्रथम तीन दिनों में ग्रह-ग्रहण होना चाहिए। यदि अन्तिम तीन दिनों में ही ग्रह-ग्रहण करना हो तो पूर्व के तीन दिनों में ग्रहण करने के पश्चात् अन्तिम तीन दिनों में भी ग्रह-ग्रहण सम्पन्न होना चाहिए। (शत० ब्रा० ४।५।४।१४) निष्कर्ष यह निकला कि पृष्ठ्य, षडह, विश्वजित तथा एकाह में इन ग्रहों को ग्रहण करना चाहिए।

(ससृपहविषों में मुख्य तीन हविषों का निवार्पकाल विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार अध्वर्यु को उपसद्याग प्रतिपादन के समय संसृप हविर्षों में से मुख्य तीन हविषों का निर्वाप करना चाहिए। उन तीन हविषों में से प्रथम हविष अग्नि देवतार्थ अष्टाकपालपुरोडाश, द्वितीय हविष् सोमदेवतार्थ चरु तथा तृतीय हविष् विष्णु देवतार्थ त्रिकपालपुरोडाश अथवा चरु हैं। (शत० ब्रा० ५।४।५।१६)।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उनके मतानुमार सप्तम, अष्टम तथा नवम दिन उपसद का अनुष्ठान करके उसके अन्त में अग्नि, सोम तथा विष्णु देवता के लिए तीनों संसृष हविषों का निर्वाप करना चाहिए। (शत० ब्रा० ५।४।५।१७)।

(पश्वालम्भन के समय में मतभेद)

अग्निचित्या में प्रजापति को दिये जाने वाले पशु का आलम्भन पूर्णमासी को होना चाहिए। कुछ आचार्यों के मतानुसार अग्निचित्या में प्राजापत्य पशु का आलभम अमावास्या को होना चाहिए क्योंकि चन्द्रमा प्रजापति है। अमावास्या की रात्रि में वह इन पृथ्वी पर निवास करता है। अत: उक्त तिथि आलभन होने से समीप में स्थित रहते हुए ही प्राजापत्य पशु का आलभन होता है। (शत० ब्रा० ३।२।२।१६)

याज्ञवल्क्य निर्दिष्ट आचार्यों से सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि पश्वालम्भन पूर्णमासी को ही होना चाहिए क्योंकि वह पशु चन्द्र है और देवता उस पशु रूप चन्द्र का आलभन पूर्णमासी को ही करते हैं। यजमान सोचता है कि मैं भी उसी समय पश्वालम्भन करूँगा जिस समय देवता पश्वालम्मन करते है। पौर्णमासी प्रकाशार्थ प्रथम थी अतः पौर्णमासी को ही आलभन होना चाहिए। (शत० ब्रा० ६।२।१।१७) यह आलभन फागुनी नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा में होना चाहिए। उत्तरा फाल्गुनी संवत्सर की प्रथम रात्रि होती है तथा फाल्गुनी अन्तिम रात्रि। अत: उत्तरा फाल्गुनी की पौर्णमासी में किया गया पश्वालम्भन संवत्सर के प्रारम्भ में ही सम्पन्न होता है। (शत० ब्रा० ६।२।२।१८) इन्द्र वृत्र पापी का हनन करके प प से मुक्त होकर इस याज्ञिक कर्म (पशुयाग) में संलग्न हुए थे। उसी तरह यजमान भी पौर्णमासेष्टि सम्पन्न करके वृत्र पापी का हनन मुक्त होकर इस पवित्र कार्य में संलग्न होता है। (शत० ब्रा० ६।२।२।१९)

(प्राजापत्य पशुओं की वपा प्रचरण एवं वपा हविष तथा प्राकृत पशुओं क वपा हविष के साथ होम के समय में मतभेद)

कुछ आचार्यो के मतानुसार प्राजापत्य पशुओं के सम्बन्ध में विधान क्रम यह

है कि माध्यन्दिन सवन में मैत्रावरुण के द्वारा वामदेव्य साम का अनुशंसन किये जाने पर पशुओं की वपाओं के साथ प्रचरण (प्रस्थान) करना चाहिये क्योंकि वामदेव्य प्रजनन है और प्रजापति का भी अर्थ प्रजनन होता है। तथा ये पशु प्रजापति से सम्बन्धित हैं। (शत० ब्रा० ५।१।३।१२) अनुयाज की समाप्ति पर चव स्रुक्-व्यूहन न हुआ हो, उन पशुओं के मुख्य हविषों के साथ प्रस्थान किया जाता है। तृतीय सयन में अनुयाज याग के अनन्तर जुहू और उपभृत् व्यूहन के पूर्व ही प्राजापत्य हविषों का याग करना चाहिए क्योंकि वह समय सवनीय में दिये जाने वाले यज्ञों की अवधि है। प्रजापति सर्वोत्तम है। अतः वही अन्त है। अन्त रूप उस समय में किये जाने वाले हविष के होम से यजमान प्रजापति को जीतता है। यदि उक्त समय के पूर्व ही वपा के साथ प्रचरण किया जाता है तो यह व्यर्थ ही है। जैसे कि लोक में देखा जाता है कि पुरुष लक्ष्य देश को पहुंच कर अन्यत्र गमन नहीं करता। उसी प्रकार होमकरण के फलस्वरूप प्रजापति की प्राप्ति हो जाने पर अतिरिक्त कर्मानुष्ठान निष्फल होंगे। अत: अनुयाज के अन्त में, स्रुक्व्यूहन के पूर्व पशु हविर्होम करना चाहिए। (शत० ब्रा० ५।१।३।१३) याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं उनका कथन है कि इस प्रकार के अनुष्ठान से यजमान यज्ञपथ से अलग होता है। अन्य पशुओं की वपाओं के साथ जिस समय प्रचरण (प्रस्थान) किया जाता है उसी समय इन प्राजापत्य पशुओं के साथ भी प्रचरण करना चाहिए। जब अन्य पशुओं के मुख्य हविष के साथ ऋत्विज प्रचरण करते हैं उसी समय इन पशुओं के हविष के साथ प्रचरण करना चाहिए। यहां केवल एक अनुयाज होता है तथा एक याज्या क्योंकि ये सब हविष एक देवता से सम्बन्धित हैं। (शत० ब्रा० ५।१।३।१४) अध्वर्यु मैत्रावरुण को अनुयाज पाठ के लिए आदेश देता है जो अधोलिखित है।

'प्रजापतये (उपांशु) छागाना 'हविषः अनुब्रूहि' (छागों की हविष् के लिए अनुयाज मन्त्र का पाठ करो) तत्पश्चात् मैत्रावरुण प्रैषमन्त्र कहता है जो इस प्रकार है———

'प्रजापतये (उपांशु) छागानां हविः प्रस्थितं प्रेष्यं' (प्रजापति के लिए छागों की प्रस्तुत हवि को भेजो) जैसे ही वषट्कार कहा जाता है अध्वर्यु वपा हवन करता है। (शत० ब्रा० ५।१।३।१४)

(अग्नियोजन-अग्निवेदी का योजन— तथा विमोचन के समय में मतभेद)

अध्वर्यु प्रथम सुत्या के प्रातरनुवाक पाठ से पूर्व सब कामों की प्राप्ति के लिए अग्नि को युक्त करता है। सब कर्मों के पूर्व अग्नि को युक्त करने के कारण

अग्नियोजन के पश्चात् जो कुछ भी किया जाता है वस उस वेदी पर आसादित होता है। (शत० ब्रा० ६।४।४।१) अध्वर्यु परिधियों पर इसे युक्त करता है क्योंकि परिधियां अग्नि हैं। इस प्रकार अग्नियों के साथ अग्नि को युक्त किया जाता है। (शत० ब्रा० ६।४।४।१) अध्वर्यु मध्यम परिधि का स्पर्श करके अधोलिखित मन्त्र को जाप करता है———

'अग्नि युनज्मि शवसाघृतेन, दिव्यं सुपर्णं वयसा बृहन्तम्।
तेन वयं गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वो रुहाणा अधिनाकमुत्तमम्॥
(शु० य० स० १८।५१, शत० ब्रा० ६।४।४।३)

दक्षिण की ओर रखी गयी परिधि का स्पर्श करके अधोलिखित मंत्र का जप करता है —

"इमौ ते पक्षावजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांस्यपहंस्यग्ने।
ताभ्यां पतेम सुकृतामुलोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा :॥"
(शु०य०सं० १८।५२, शत०ब्रा० ६।४।४।४)

उत्तर की ओर रखी गयी परिधि का स्पर्श करके अधोलिखित मन्त्र से योजन करता है —

इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।
महान्त्सधस्थे ध्रुव आनिषत्तो नमस्तेऽस्तु मा मा हिंसीः॥
(शु०यसं० १८।५३, शत०ब्रा०६।४।४।५)

मध्यम मन्त्र आत्मा तथा दोनों ओर के मन्त्र पक्षी के पक्ष सदृश वेदी के दो पक्ष हैं। (शत०ब्रा० ६।४।४।६) इन तीन मन्त्रों में अग्नियोजन किया जाता है क्योंकि अग्नि त्रिवृत् है। (शत० ब्रा० ६।४।४।७) अध्वर्यु अग्नियोजन से यथेष्ट काम की प्राप्ति होने पर यज्ञायज्ञीय स्तोत्र पाठ के पूर्व अग्नि का विमोचन करता है क्योंकि यज्ञायज्ञीय स्वर्गलोक है और उसी लोक की प्राप्ति के लिए अग्निवेदी का योजन होता है। काम प्राप्ति के पश्चात् उसका विमोचन किया जाता है। (शत०ब्रा० ६।४।४।१०) अध्वर्यु स्तोत्र पाठ के अनन्तर यदि विमोचन करता है तो यज्ञायज्ञीय रूप स्वर्गलोक का अतिक्रमण करके उससे दूर जाकर इसेनष्ट कर देता है। स्तोत्र से पूर्व विमोचत करने पर स्वर्गलोक की प्राप्ति करके अग्निविमोचन किया जाता है। (शत०ब्रा०९।४।४।११) अध्वर्यु परिधियों पर अग्नि (वेदी) विमोचन करता है क्योंकि इन्हीं परिधियों पर इसे युक्त करता है। लोक में भी जिस किसी स्थान पर अश्व को युक्त किया जाता है वहीं से विमोचन भी होता है। (शत०ब्रा० ९।४।४।१२) अध्वर्यु दोनों

संधियों (दक्षिण, उत्तर) पर अग्नि का स्पर्श करके इन दोनों मंत्रों का जप करता है। दक्षिण संधि का स्पर्श करके–

दिवो मूर्द्धाऽसि पृथिव्या नाभिः' (शु०य०सं० १८।५४) (शत०ब्रा० ६।४।४:१३ मंत्र का जप करता है तथा उत्तर सन्धि का स्पर्श कर —

'विश्वस्य मूर्धन्नधि तिष्ठसि श्रितः' (शु०य०सं०१८।५५)

मन्त्र का जप करता है। इन दोनों मन्त्रों से विमोचन किया जाता है क्योंकि यजमान द्विपाद है और वह अग्नि है। तीन मन्त्रों से तथा योजन दो मन्त्रों से विमोचन किया जाता हैं। इस प्रकार संख्या पांच हुई। अग्नि में पांच चितियाँ होती हैं। संवत्सर पांच ऋतुओं वाला होता है। अग्नि (वेदी) संवत्सर है। (शत० ब्रा० ६।४।४।१४) अन्य आचार्यों के मतानुसार अग्नियोजन तथा विमोचन क्रमशः प्रायणीय अतिरात्र और उदयनीय अतिरात्र में सम्पन्न होने चाहिए क्योकि अग्नि विमोचन संस्था (समाप्ति) का रूप है। अतः यज्ञ समाप्ति से पूर्व संस्था का सम्पादन न करना चाहिए। (शत०ब्रा० ६।४।४।१५)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार यज्ञ का विस्तार (सम्पादन) तथा उसका समापन प्रतिदिन होता है। अध्वर्यु यजमान की स्वर्ग प्राप्ति के लिए प्रतिदिन अग्नियोजन करता है। यजमान को प्रतिदिन स्वर्गप्राप्ति होती है। (शत०ब्रा०६।४।४।१५) अध्वर्यु जिस प्रकार सामिधेनी का अनुवचन प्रायणीय अतिरात्र पर करके उदयनीत में करने के लिए प्रतिज्ञा करता है। इसी प्रकार अग्नयोजन और विमोचन भी प्रतिदिन होने चाहिए। (शत०ब्रा० ६।४।४।१६) याज्ञवल्क्य स्वमत पुष्टि के लिए उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—शाण्डिलय कंकतीयों के प्रतिदिन सम्पादित होने वाले यज्ञ कर्म में वर्तमान थे। प्रस्थान करते समय उन्होने कहा कि अध्वर्यु तुम्हारे प्रतिदिन अग्नियोजन और विमोचन भीकरेंगे। (शत०ब्रा०६।४।४।१७) फलतः अग्नियोजन और विमोचन प्रतिदिन होने चाहिए।

(अग्निचयन में उपस्थान समय विषयक मतभेद)

पाप के निवारणार्थ कुछ आचार्य अग्निचयन सम्बन्धी प्रत्येक कर्म के आरम्भ में सात मन्त्रों शु०य०स० १८।६८--७४) का पाठ करते हैं। अन्य आचार्यों का मत है कि प्रत्येक चिति (पर्त) पर जब पुरीष (पंक) डाल दिया जाय, इस समय उपस्थान करना चाहिए। इस प्रकार यह चिति सम्पूर्ण होती है। याज्ञवल्क्य का कथन है कि इन दोनों मतों में से जिस मत के अनुसार

चाहे कर्म करे। चयन होने पर उपस्थान किया जाय अथवा चयन सम्पादन के पूर्व किया जाय। (शत०ब्रा०९।५।२।११)

(उखा सम्बन्धी अग्नि धारण के समय में मतभेद)

अग्निचयन संवत्सर पर्यन्त स्थिर रह कर करना चाहिए क्योंकि वर्ष तक अनुवचन होता है। कुछ आचार्यों का मत है कि संवत्सर पर्यन्त उखाग्नि धारण कर पुन: संवत्सर पर्यन्त चयन तथा अनुवचन करना चाहिए। उनका तर्क यह कि एक वर्ष में वीर्य सेचन किया गया और दूसरे वर्ष में कुमार की उत्पत्ति हुई। अत: दो वर्ष तक अनुवचन करना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हैं और केवल एक वर्ष तक अग्निचयन तथा अनुवचन करने के लिए सकारण स्वमत प्रस्तुत करते हैं कि जिस वीर्य का सिंचन होता है वही उत्पन्न होता है। तदनन्तर विकृत होकर समृद्ध होता हुआ स्थित रहता है। अत: संवत्सर पर्यन्त ही अग्नि चयन तथा संवत्सर पर्यन्त अनुवचन करना चाहिए। अग्निचयन के अनन्तर अग्नि (वेदी) का नामकरण कर पाप को दूर किया किया जाता है। 'चित्रोऽसि' कहकर अग्नि का आह्वान किया जाता है क्योंकि सब चित्र वस्तुएं अग्नि ही हैं। (शत०ब्रा०६।१।३।२०)

(स्तोत्र-शस्त्र पाठ के समय में मतभेद)

अध्वर्यु अग्निस्विष्टकृत्याग के सम्पन होने पर इडा को इडापात्री पर रखता है। इडोपाह्वान के अनन्तर जल का स्पर्श करके। माहेन्द्र ग्रह' ग्रहण किया ,जाता है। तत्पश्चात् स्तोत्र का प्रचार होता है। आसन्दी पर स्थित यजमान का स्तोत्र-पाठ के लिए आह्बान किया जाता है। यजमान को इस अवसर पर अभिषवण करते हुए आसन्दी से उतर कर स्तोत्र और शस्त्र का अनुगमन करना चाहिए। (शत० ब्रा० ५।२।३।१६) कुछ आचार्य माहेन्द्र ग्रह ग्रहण कर, स्तोत्र शस्त्र का पाठ करके, स्विष्टकृद् आदि के अनुष्ठानार्थ मत प्रस्तुत करते हैं। तत्पश्चात् यजमान के अवरोहण का विधान करते हैं।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हुए कहते हैं कि यदि यजमान के आसन्दी पर स्थित रहने पर भी स्तोत्र और शस्त्र का पाठ होता है, यह उचित नहीं है क्योंकि स्तोत्र यजमान की आत्मा है, शस्त्र उसकी प्रजा है। इस प्रकार अनुष्ठान से अध्वर्यु यजमान का विनाश करता है। यजमान वक्र गति से गमन करता है। वह यज्ञ मार्ग से स्खलित होता है। (शत० ब्रा० ५।२।३।२०)

(अश्वमेधयागीय काल विषयक मतभेद)

कुछ याज्ञिकाचार्यों के मतानुसार अश्वमेध का आरम्भ ग्रीष्म ऋतु में होना चाहिए। क्योंकि ग्रीष्म क्षत्रियों की ऋतु है तथा यह अश्वमेध यज्ञ क्षत्रिय का है।

याज्ञवल्क्य इस मत की निन्दा कर अपना मत प्रस्तुत करते हैं कि अश्वमेध का आरम्भ वसन्त ऋतु में करना चाहिये क्योंकि वह ब्राह्मण की ऋतु है। जो वसन्त में यज्ञ करता है वह ब्राह्मण होकर यज्ञ करता है। वसन्त में यजमान उपनयन और आधानादि सम्पन्न करता है क्योंकि जो यजमान यज्ञ करता है वह दीक्षा के द्वारा ब्राह्मण होकर ही यज्ञ करता है। (शत० ब्रा० १३।४।१।३) वसन्त में फाल्गुनी पूर्णमासी के पूर्व अर्थात् शुक्लपक्ष की नवमी अथवा अष्टमी को अश्वमेध आरम्भ करना चाहिये। अध्वर्यु, होता, ब्रह्मा और उद्गाता ये चारऋत्विज् भी अश्वमेध याग सम्पादन में सहायक होते हैं। (शत० ब्रा० १३।४।१।४)

सोमयाग करने की अवधि में मतभेद)

इस विषय में दो पक्ष हैं—प्रथम पक्ष के अनुसार वर्ष भर (संवत्सर पर्यन्त) सोमयाग करना चाहिये। प्रतिदिन एक-एक सोमयाग करने से तीन सौ साठ सोमयाग सम्पन्न होते हैं। संवत्सर तथा एक शतविध पुरुष के प्रमाण की वेदी सब कुछ है। इस प्रकार यजमान सर्व से सर्व की प्राप्ति करता है। (शत० ब्रा० १०।२।५।१५) द्वितीय पक्ष के अनुसार यदि यजमान संवत्सर पर्यन्त सोमयाग नहीं कर सकता तो उसे सौ पृष्ठों से युक्त विश्वजित अतिरात्र याग करना चाहिए। इसमें सब कुछ दक्षिणा में दे दिया जाता है। इस याग में सभी पृष्ठों के होने से, सर्वस्व दक्षिणा-दान से और एक शतविध (एक सौ एक) पुरुष के प्रमाण वाले अग्निवेदी के चयन वाले अग्निवेदी के चयन से सर्वस्व की प्राप्ति होती है। (शत० ब्रा० १०।२।५।१६)

(सावित्री अनुवचनार्थ समय विषयक मतभेद)

कुछ आचार्य सावित्री का अनुवचन उपनयन संस्कार के एक वर्ष के अनन्तर पूर्ण अवयवों से युक्त गर्भोत्पत्ति होती है। इसी प्रकार माणवक भी आचार्य के समीप गर्भ रूप में रहता हुआ उनके आदेशानुसार नियमों का पालन करता हुआ एक वर्ष में पुनः उत्पन्न होता है। सावित्री के अनुवचन से उत्पन्न हुए ब्रह्मचारी में वाणी धारण की जाती है। इस अभिप्राय से एक वर्ष पश्चात् सावित्री का अनुवचन होता है। शत०ब्रा० ११।५।४।६)

अन्य आचार्य सावित्री का अनुवचन उपनयन संस्कार के छः मास बाद करते हैं। उनका तर्क यह है कि एक वर्ष में छः ऋतुएं होती हैं तथा एक वर्ष में पूर्णरूप में गर्भ की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होते ही उसमें वाणी धारण करते हैं। (शत० ब्रा० ११।५।४।७)

दूसरे आचार्य सावित्री का अनुवचन उपनयन संस्कार के चौबीस दिन पश्चात् करते हैं। उनके विचार से एक वर्ष में चौबीस अर्धमास होते हैं। एक वर्ष में गर्भ भी अपने पूर्ण रूप में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न होते ही वाणी को रखते हैं। शत०ब्रा० ११।५।४।८)

कुछ आचार्य सावित्री का अनुवचन उपनयन संस्कार के बारह दिन के अनन्तर करते हैं। उनका तर्क यह है कि एक वर्षमें बारह महीने होते हैं और एक वर्ष में पूर्ण गर्भोत्पत्ति होती है। इस प्रकार उत्न्न होने पर उसमें वाणी धारण की जाती है। (शत०ब्रा० ११।५।४।९)

अन्य आचार्य सावित्री का अनुवचन उपनयन संस्कार के छः दिन बाद करते हैं। इप विचार से कि एक वर्ष में छः ऋतुएं होती हैं और एक वर्ष में पूर्णावयव गर्भ की उत्पत्ति होती है। उत्पन्न होते ही माणवक में वाणी धारण करते हैं। (शत०ब्रा० ११।५।४।१०)

कुछ आचार्य सावित्री का अनुवचन उपनयन संस्कार के तीन दिन बाद करते हैं उनका तर्क यह है कि संवत्सर में तीन ऋतुएं होती हैं। गर्भ एक वर्ष में व्यक्त अवयव वाले होकर उत्पन्न होते हैं।। उत्पन्न होते ही माणवक में वाणी को धारण करते हैं। शत०ब्रा० ११।५।४।११) इस मत को मानने वाले आचार्य अधोलिखित श्लोक का पाठ भी करते हैं—

'आचार्यो गर्भी भवति हस्तमाधाय दक्षिणम्।
तृतीयस्यांस जायते सावित्र्या सह ब्राह्मणः ॥

याज्ञवल्क्य तीनों वर्णों के लिए सावित्री अनुवचन का विधान करके ब्राह्मण के लिये उपनयन संस्कार के अनन्तर ही अनुवचन करने का बिधान करते हैं क्योंकि अग्नि के साथ ब्राह्मण की उत्पत्ति प्रजापति के मुख से हुई। वह ब्राह्मण अग्नि देवत्य (आग्नेय) है। मन्थनान्तर अग्नि उत्पन्न होते हैं। अतः उसके साम्य से सावित्री का अनुवचन उपनयनानन्तर ही करना चाहिये (शत०ब्रा० ११।५।४।१२)

ख—स्थान विषयक मतभेद

१—द्रव्य के लिए स्थान निर्धारण विषयक मतभेद)

आज्यासादनार्थ स्थान विषयक मतभेद)

आहवनीयागार में अधिश्रयणानन्तर वेदी के अन्तर्गत आज्यासादन किया

है। कृष्ण यजुर्वेदीय आचार्यों के मतानुसार आज्यासादन वेदी के अन्तर्गत नहीं करना चाहिये क्योंकि पत्नीसंयाज के समय इसी आज्य से देवपत्नियों का याग सम्पन्न होता है। वेदी के चारों ओर देवता आसीन रहते हैं, वहां आज्यासादन करने से देवपत्नियों का आगमन होगा। वे देवों की दृष्टि में आएंगी। ऐसा करने पर यजमान पत्नी भी पुंश्चली (व्यभिचारिणी) होगी।

याज्ञवल्क्य वेदी के अन्तर्गत ही आज्यासादन करने के लिए अपना मत करते हैं। उनका कथन है कि पत्नी सयाज के समय देवपत्नियों को भी आज्यांश प्रदान किया जाता है। पत्नी-संयाज के कारण वेदी के अन्तर्गत आज्यासादन न करना अनुचित है। यजकानपत्नी पुंश्चली हो जाय, या जो कुछ भी हो इससे क्या प्रयोजन? यजमान पत्नी परःपुंसा हो जाय इसका भी ध्यान कौन करता है? क्योंकि वेदी यज्ञ है, आज्य यज्ञ है। वेदी के अन्तर्गत आज्यासादन करने से वेदीरूप यज्ञ से आज्यरूप यज्ञ का निर्माण होता है। अत: वेदी के अन्तर्गत आज्यासादन करना उचित होगा। शत०ब्रा० १।३।१।२१)

(आज्यभाग प्रदानार्थ स्थान विषयक मतभेद)

पौर्णमास याग में अग्नि और सोम को आज्याहुतियां प्रदान की जाती हैं। इन दो आज्यभागों का प्रक्षेपण कहां किया जाय इस विषय में मतभेद है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार दोनों आज्यभाग यज्ञ के दो नेत्र हैं। अत: उन्हें प्रधान हविष् के समक्ष हवन करना चाहिये क्योंकि ये लौकिक नेत्र भी सामने ही होते हैं। अत: अध्वर्यु प्रधान हविष् के समक्ष हवन करने से नेत्रों को पुरोभाग में स्थापित करता है। शत०ब्रा० १।६।३।३८)

अन्य आचार्य उत्तर पूर्वार्ध में आग्नेयआज्य भाग तथा दक्षिण पूर्वार्ध में सौम्य आज्यभाग के हवन का विधान करते हैं। उनके विचार से पूर्व भाग में ही नेत्रों का स्थापन होता है। इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह बोधगम्य नहीं है। प्रधान हविष् यज्ञ का शरीर है। सामने ही दोनों आज्य-भागों के हवन से दोनों नेत्र स्थापित किये जाते हैं। अध्वर्यु को जिस स्थान में भी प्रधान हविष् के समक्ष समिद्धतम अग्नि दृष्टिगत हो वहीं दोनों आज्यभागों का हवन उत्तरपूर्वार्ध और दक्षिण पूर्वार्द्ध की अपेक्षा न करते हुए करना चाहिये क्योंकि समिद्ध होने से ही आहुतियां समृद्ध होती हैं। (शत०ब्रा० १।६।३।३९)

(हवि: श्रपण-स्थान विषयक मतभेद)

कुछ आचार्य आहवनीयाग्नि में हविष्पाक का विधान करते हैं क्योंकि

देवों ने इसी आहवनीय से स्वर्ग प्राप्ति की। अतः स्वर्ग गमनार्थ आहवनीयाग्नि में ही हविष्पाक कर्म करना चाहिए। उनका मन्तव्य है कि देवों ने आहवनीय हविष् प्रदान कर स्वर्ग गमन किया। अतः हम भी एक ही स्थान पर हविष् का पाककर्म क्यों न सम्पन्न करें ? गार्हपत्य में हविष्पाक से यह दोष होगा कि जैसे खल (क्षेत्र) से व्रीहि यवादि बाहर निकल कर व्यर्थ हो जाते हैं उसी प्रकार गार्हपत्य में पकाया जाने वाला हविष् भी स्थान-स्थान पर गिर कर व्यर्थ ही होगा अतः आहवनीय में पाककर्म का सम्पादन श्रेयस्कर है क्योंकि आहवनीय यज्ञ है, हविष् यज्ञ का साधन है। अतः वह भी यज्ञ है। इस प्रकार यज्ञ से यज्ञ का विस्तार किया जाता है। (शत० ब्रा० १।७।३।२६)

दूसरे आचार्यों का मत है कि गार्हपत्याग्नि में हविष्पाक कर्म करना चाहिये क्योंकि आहवनीयाग्नि पक्व हविष् हवनार्थ है, अपक्व हविष् पाकार्थ नहीं। अर्थात् आहवनीय मुख्यतः होम साधन होने से हवनार्थ ही है। पाकक्रिया गार्हपत्य में सम्पन्न होनी चाहिए।

याज्ञवल्क्य इन दोनों मतों में विकल्प प्रस्तुत कर कहते हैं कि अध्वर्यु स्वेच्छापूर्वक उपर्युक्त दोनों अग्नियों में से किसी एक अग्नि में पाक कर्म सम्पन्न कर सकता है। (शत० ब्रा० १।७।३।२७)

(दधि निकालने के स्थान के विषय में मतभेद)

सोम-मात्रा वृद्धि के लिए दधि-मिश्रण किया जाता है। अध्वर्यु दधिग्रह से किस ओर से दधि निकाले, इस विषय में मतभेद है। तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार (तै० सं० ६।५।६।४) अध्वर्यु को दधि ग्रह के मध्य से निकालना चाहिए क्योंकि पशुओं के अन्तर्गत वर्तमान दूध भी मध्य में ही होता है।

याज्ञवल्क्य इस पक्ष के विरोध में कहते हैं कि दधिग्रह में से पश्चिम भाग से निकालना चाहिए क्योंकि पशुओं में दूध पिछले भाग में ही होता है। (शत० ब्रा० ४।३।५।१३)

२—अद्भ्यार्थ स्थान निर्धारण विषयक मतभेद

दर्शपूर्णमास में वेद निर्माण के समय कुशों के अग्र भाग को काट दिया जाता है जो स्रुक् पात्रों के सम्माजनार्थ प्रयुक्त होता है। अग्रभाग से रहित अंश अर्थात् वेद का उपयोग वेदी परिमार्जनार्थ होता है। परिमार्जनानन्तर कुशाग्र-प्रक्षेपण स्थान के विषय में तैत्तिरीयकों का मत है कि कुशाग्र वेद के अंग हैं और

वेद यज्ञांग हैं अत: कुशाग्र भी वेद के अंग होने से यज्ञांग हैं अर्थात् उनका भी यज्ञियत्व है। वेदांग होने से ही कुशाग्रयज्ञिय नहीं हैं अपितु स्रुक् पात्र सम्मार्जन के कारण भी वे यज्ञांग हैं। वेदाग्रों को अन्यत्र प्रक्षेपण कर उन्हें यज्ञ से अलग किया जाता है अत: इस दोष से बचने के लिए पात्रसम्मार्जन के अनन्तर कुशाग्रों का आहवनीयाग्नि में प्रक्षेपण कर देना चाहिए।

याज्ञवल्क्य लौकिक दृष्टांत से इस मत का खण्डन करते हैं—हविष् प्रदान के पूर्व अग्नि में कुशाग्रों का प्रक्षेपण भोजनार्थ स्थित व्यक्ति को भोजन देन से पूर्व पात्र प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त जल को पिलाने के समान होगा। याज्ञवल्क्य का मत है कि वेदाग्रों का प्रक्षेपण उत्कर में करना चाहिये। शत०ब्रा० १।३।१।११)

(लोमावपन-स्थान विषयक मतभेद)

कतिपय याज्ञिकों के मतानुसार सोत्रामणीयाग में अध्वर्यु पशु मांस पर सिंह, वृक (भेड़िया), शार्दूल (चीता) के लोम का आवपन करता है क्योंकि ये सिंह, वृक् तथा शार्दूल इन्द्र के शरीर से स्रवित होने वाले सोम से उत्पन्न हुए। इस प्रकार के अनुष्ठान से इन्द्र समृद्ध किये जाते हैं। (शत० ब्रा० ५।५।४।१८)

याज्ञवल्क्य इस मत का निरसन करते हैं कि यदि अध्वर्यु पशु-मांस पर लोमावपन करता है तो वह पशुओं को कंटीली उल्का से प्रेरित करता है। उनका मत है कि लोमों को परिस्रुत (मादक द्रव्य) में डाल देना चाहिये। अध्वर्यु इस अनुष्ठान से पशुओं को कंटीली उल्का द्वारा प्रेरित न करके इन्द्र को समृद्ध करता है। (शत०ब्रा० ५।५।४।१९)

(उपस्थान-स्थान विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार प्राणभृत् इष्टकाओं का उपधान उपहित स्वर्ण निर्मित पुरुष के समीप करना चाहिये। स्वर्णपुरुष प्राण है। इसके धारक होने के कारण इष्टकाओं को प्राणभृत् कहते हैं।

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन कर स्वमत प्रस्तुत करते हैं कि स्वर्ण पुरुष प्राण है, चिति उसका शरीर है। इस प्रकार प्राणभृत् इष्टकाएं स्वर्ण पुरुष के अंग न बन सकेंगी। चिति स्वर्ण पुरुष का शरीर है। यदि चित्याग्नि शरीर वाले इस हिरण्य पुरुष के अंग को प्राणभृत् इष्टकाओं नहीं प्राप्त करते तो प्राण धारण सम्बन्ध न होने से इस स्वर्ण पुरुष के अंग को प्राण नहीं प्राप्त करेगा। प्राणरहित अंग काष्ठवत् शुष्क और ग्लान हो जाता है। अत: स्वर्ण पुरुष की प्राप्ति के लिए यत्न आवश्यक है। इन प्राणभृत् इष्टकाओं का उपधान चारों

दिशाओं में परिश्रित (आवृत करने वाला पत्थर) के समीप करना चाहिये। इस प्रकार स्वर्ण पुरुष के शरीर में प्राण-प्राप्ति होगी और मध्य में उपहित इष्टकाओं के द्वारा उस स्वर्ण पुरुष का मध्य शरीर पूर्ण होता है तथा वे इष्टकाएं विलग भी नहीं होतीं। (शत०ब्रा०८।१।४।१)

(इष्टकोपधान विषयक मतभेद)

कुछ आचार्य पांचवीं चिति के सम्बन्ध में तीसवीं (स्तोमभागा) इष्टका का उपधान 'वेषश्री: क्षत्राय क्षत्रं जिन्व' स्तोम से करते हैं क्योंकि विराट् छन्द तीस अक्षर वाला होता है और यह पांचवीं चिति विराट् है।

इस मत के विरोध में याज्ञवल्क्य का कथन है कि इस प्रकार के अनुष्ठान से एकविंश तथा गायत्री स्तोम की सम्पत् का उल्लंघन होता है। न्यून विराट् इन्द्र लोक है। इन्द्रलोक में इन्द्र के समान बलवान, उसके द्वेषी शत्रु को उद्यत किया जाता है। यजमान यज्ञ में इंद्र हैं। अत: उसके लोक में उसके द्वेष करने वाले शत्रु को उद्यत किया जाता है। जिस अग्नि का आहरण किया जाता है वह यजमान का रूप है। आयतन के साधन से वह पांचवी चिति की तीसवीं इष्टका है। (शत०ब्रा० ८।५।३।८) याज्ञवल्क्य स्तोमभागा इष्टकाओं का अषाढा इष्टकाओं की श्रेणी पर उपधान के लिए स्वमत प्रस्तुत करते हैं। क्योंकि अषाढा वाणी है और यह इष्टकाओं का समूह अन्न रस है। कोई भी मनुष्य हृदय तथा मन से विचार करता है। इष्टको-पधान सब दिशाओं में किया जाता है। ये इष्टकाएं। पुण्यलक्षण हैं। अत: इनको सब ओर रखा जाता है। लोक में भी देखा जाता है कि जिसके सब ओर लक्षण होते हैं वह पुण्यलक्षणों वाला होता है। (शत०ब्रा० ८।२।४।३)

(लोकम्पृणा इष्टकोपधान स्थान विषयक मतभेद)

इस विषय में कुछ आचार्य लोकम्पृणा इष्टकाओं (Spcefilling bricks) को मुहूर्तलोका कहते हैं क्योंकि उनका उपधान मुहूर्त-प्राप्ति साधन के रूप में होता है वे मुहूर्तों की प्रतिमा हैं इसका कारण यह है कि उनकी संख्या दस हजार आठ सौ होती है तथा संवत्सर में इतने ही मूहूर्त होते हैं। इष्टकाओं में से इक्कीस का उपधान गार्हपत्य में किया जाता है। अठहत्तर इष्टकाओं का उपधान आठ धिष्ण्यों में तथा शेष दस हजार सात सौ एक इष्टकाओं का उपधान आहवनीय में होता है। (शत० ब्रा० १०।४।३।२०) इस मत के विपरीत अन्य आचार्यों का मत है कि सब दस हजार आठ सौ लोकम्पृणा इष्काओं का उपधान आहनीय में ही होना चाहिये क्योंकि

धिष्ण्य और गार्हपत्य भिन्न इष्टकाओं से निर्मित हैं। उनमें उपहित इष्टकाओं की गणना आहवनीय के साथ क्यों की जाय ?

याज्ञवल्क्य इस मत का निरसन कहते हैं। उनके विचार से चित्याग्नि पर यजमान दस वेदी (गार्हपत्य, आहवनीय, आठधिष्ण्य) का चयन करता है। अत: कहा जाता है कि अग्नि विराट् है। विराट् छन्द में दस अक्षर होते हैं। वेदी और धिष्ण्य एक हैं, एक ही अग्नि के अंश हैं। जिस प्रकार दिन और रात, अर्धमास और ऋतुएं संवत्सर के रूप हैं उसी प्रकार दस वेदियां अग्नि के रूप हैं। शत० ब्रा० १०।४।३।२१) याज्ञवल्क्य के कथनानुसार जो व्यक्ति आहवनीय में ही सब लोकम्पृणा इष्टकाओं का उपधान करते हैं वे इन गार्हपत्य, धिष्ण्य लक्षण वाले रूपों को संवत्सरात्मक अग्नि से बाहर करते हैं। वे पापयुक्त कर्म में शंका उत्पन्न करते हैं। क्षेत्र के लिए प्रजाभूत वैश्य जाति को विपरीतकारिणी तथा स्पर्द्धाशील बनाते हैं। (शत० ब्रा० १०।४।३।२२)

समाधि-स्थान विषयक मतभेद)

कुछ याज्ञिकाचार्यों के मतानुसार समाधि उस भूमि पर बनानी चाहिये, जो उत्तर की ओर ढालू हो क्योंकि उत्तर दिशा मनुष्यों की दिशा है। इस प्रकार उस प्रेत को मनुष्य लोक में भी भागी बनाया जाता है। उस प्रेत की प्रजा श्रेयसी होती है। (शत० ब्रा० १३।८।१।६) अन्य आचार्यों के मतानुसार समाधि दक्षिण की ओर उठी हुई भूमि पर निर्मित होनी चाहिये क्योंकि समाधि उच्छ्रित पाप होती है।

इस मत का निषेध करके याज्ञवल्क्य कहते हैं कि जो भूमि उत्तर की ओर झुकी होती है वह उच्छ्रित पाप होती है। (शत०ब्रा० १३।८।१।८) उनका मत है कि किसी भी सम भूमि में जहां जल दक्षिण-पूर्व से पश्चिमोत्तर की ओर बहकर किसी झील, सरोवर आदि में मिले, समाधि का निर्माण करना चाहिये क्योंकि जल अन्न है। इस प्रकार प्रेत को आगे और पीछे की ओर से अन्न प्रदान किया जाता है। जल अमृत है। वह सप्तर्षियों के उदयन तथा सूर्यास्त के बीच का एवं जीवों का निवासस्थान था। ऐसी समाधि निर्मित कर जीवों में अमृत ही रखा जाता है। यह भी निश्चित है जो प्राणियों के लिए हितकर होता है वह पितरों के लिए भी हितकर है। (शत० ब्रा० १३।८।१।८) अब समाधि स्थल का स्थान किस प्रकार हो, इस विषय में मीमांसा प्रस्तुत करते हैं— समाधि एक सुहावने स्थान पर निर्मित होनी चाहिए। जहां कि प्रेत को सुख मिल सके।

स्थान शान्त होना चाहिए। समाधि का निर्माण मार्ग में, खुले स्थान में अथवा वृक्ष, गुल्म आदि से रहित प्रदेश में नहीं करना चाहिए अन्यथा प्रेत के पाप को ही प्रकाशित किया जाता है। (शत० ब्रा० १३।८।१।१०) वह स्थान वृक्षों, गुल्मों से संवृत हो, साथ ही उस स्थान पर सूर्य का प्रकाश भी पड़ता रहे। गुहा प्रेत के पाप को छिपाती है। सूर्य का प्रकाश उस प्रेत के पाप का नाशक है। आदित्य का प्रकाश प्रदान कर प्रेत-पाप का विनाश किया जाता हैं। (शत० ब्रा० १३।८।१।११) समाधि ऐसे स्थान पर होनी चाहिए जो ग्राम से दिखायी न पड़े। यदि उस समाधि के चारों ओर कुछ भी नहीं है तो वह अनावृत समाधि हैं। वह समाधि याचना कर रही है जिसका परिणाम यह होगा कि शीघ्र ही प्रेत के परिवार में से कोई अन्य भी मृत्यु को प्राप्त होगा। (शत० ब्रा० १३।८।१।१२) समाधि के पश्चिम दर्शनीय वन, पर्वत, देवालय आदि होने चाहिए क्योंकि दर्शनीय (चित्र) वस्तुओं का अर्थ होता है–प्रजा। उस प्रेत को दर्शनीय वस्तु तथा प्रजा प्राप्त होती है। यदि दर्शनीय वस्तुएं नहीं हैं तो समाधि के पश्चिम या उत्तर की ओर जलाशय अवश्य होना चाहिए क्योंकि जल दर्शनीय वस्तु है। इस प्रकार प्रेत दर्शनीय बस्तु और प्रजा प्राप्त करता है। (शत० ब्रा० १३।८।१।१३)

समाधि निर्माण ऊसर भूमि में करना चाहिए क्यों ऊषा वीर्य है इस प्रकार इसे प्रजनन में मिलाया जाता है। उत्पादक को उत्पत्ति का अंश प्रदान किया जाता है। पितरों को भी उसमें अंश प्राप्त होता है। प्रेत की प्रजा श्रेयसी होती है। (शत० ब्रा० १३।८।१।१४) समाधि मूल (जड़) युक्त स्थान पर निर्मित होनी चाहिए क्योंकि पितरों का सम्बन्ध मूल युक्त तृणों, तृण युक्त प्रदेशों तथा अन्य प्रकार की घासों से है। (शत० ब्रा० १३।८।१।१५) समाधि का निर्माण न तो भूमिपाश, नरकुल, अश्मगन्धा (अश्वगंधा) अध्यान्दा, पृश्निपर्णी उगने वाले स्थान पर और न तो अश्वत्थ, विभीतक, तिल्वक, स्फूर्ज, हरिद्र (कटहल), न्यग्रोध (वट) के समीप तथा अन्य पाप नाम वाले वृक्षों (श्लेश्मान्तक, कोविदार) के पास ही करना चाहिए। मंगल की कामना वाले व्यक्ति के लिए वृक्षों का परिहार कर देना चाहिए। (शत० ब्रा० १३।८।१।१६)

(घर्मोद्वासन (स्थापन) स्थान विषयक मतभेद)

कतिपय आचार्यों के मतानुसार परिष्यन्द (जिस स्थान के चारों ओर जल हो) में घर्मोद्वासन करना चाहिये। स्वमत पुष्टि के लिए उनका कथन है कि अग्नि द्वारा तप्त हुआ यह घर्म शोचनशील (दाहशील) होता है। पृथ्वी पर प्रवर्ग्योत्सादन सम्पन्न होने पर उसकी उष्णता पृथ्वी में प्रबिष्ट होगी। जल में उत्सादन किये जाने पर प्रवर्ग्य की उष्णता जल में प्रविष्ट होगी किन्तु यदि द्वीप

(परिष्यन्द) में उत्सादन किया गया तो न जल की और न पृथ्वी की क्षति होगी। यद्यपि द्वीप में भू-भाग होता है तथापि उसके चारों ओर जल बहता है। अतः पृथ्वी को क्षत नहीं किया जाता क्योंकि जल शान्ति है। ताप की शान्ति के लिए जल प्रसिद्ध है। अतः धर्म के सम्बन्ध से पृथ्वी में जो ताप है, उसका शमन वर्तमान जल से हो जाता है। अतः द्वीप में ही उत्सादन करना उचित होगा। शत०ब्रा० १४।३।१।१४)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध कर उत्तर वेदी पर प्रवर्ग्योत्सादनार्थ स्वमत व्यक्त करते हैं क्योंकि उत्तर वेदी यज्ञ है। प्रवर्ग्य सिर है। इस प्रकार यज्ञ सिरयुक्त किया जाता है। शत०ब्रा० १४।३।१।१५)

(ग) दिशा विषयक मतभेद

१—अधिरोहणदिशा विषयक मतभेद

(यूप पर आरोहण करने की दिशा के विषय में मतभेद)

आरोहणार्थ यूप पर निश्रयणी (सीढ़ी) रखी जाती है।

आरोहण की दिशा के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ आचार्यों के मतानुसार यजमान को उत्तराभिमुख होकर दक्षिण दिशा से यूप पर आरोहण करना चाहिए। अन्य आचार्यों के मत से यजमान दक्षिणाभिमुख होकर उत्तर दिशा से यूप पर आरोहण करे।

याज्ञवल्क्य प्रथम मत को ही सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं कि यजमान को दक्षिण दिशा से उत्तराभिमुख होकर यूप पर आरोहण करना चाहिये। इस प्रकार कर्म का अग्रगमनत्व सिद्ध होगा। (शत०ब्रा० ५।२।१।९)

(अग्निवेदी पर अधिरोहण दिशा विषयक मतभेद)

अध्वर्यु को आहुति प्रदान के समय किस दिशा से अग्निवेदी पर अधिरोहण करना चाहिए, इस प्रसंग में अन्य आचार्यों के द्वारा पूर्व से पश्चिम की ओर या पश्चिम से पूर्व की ओर प्रस्तुत किये गये मतों का खण्डन कर याज्ञवल्क्य का कथन है कि अग्निवेदी एक पशु है। यदि कोई व्यक्ति किसी पशु पर सामने से पीठ की ओर चढ़ता है तो वह पशु सींग से आहत करेगा। पीछे से सामने की ओर आरोहण करने पर वह पशु अपने पैरों से उसे आहत करेगा। अतः इन दोनों प्रकार के अधिरोहण मतों का अनुसरण नहीं करना चाहिये।

याज्ञवल्क्य का मत है कि अग्निवेदी पर मध्य शरीर से आरोहण करना चाहिए जैसे कि अश्व पर आरोहण किया जाता है। जिस पशु पर पार्श्व भाग से आरोहण होता है वह वहन करते हुए आघात नहीं पहुंचाता। अतः अध्वर्यु को अग्निवेदी पर वाम भाग (उत्तर की ओर) से आरोहण करना चाहिये क्योंकि लोक में भी वाम भाग से ही किसी पशु पर आरोहण किया जाता है। शत०ब्रा० ७।३।२।१७)

२–आसादन-दिशा विषयक मतभेद

(उपांशुग्रह के आसादनार्थ दिशा सम्बन्धी मतभेद)

उपांशु ग्रह का मार्जन कर उसे खर पर रखा जाता है। खर पर किस दिशा में आसादन करना चाहिए इस विषय में मतभेद है। कृष्ण यजुर्वेदियों (तै०सं० १।४।२) के मतानुसार उपांशु ग्रह का आसादन खर के दक्षिण भाग में करना चाहिये क्योंकि यह उस दिशा में है जिसके समीपस्थ सूर्य परिक्रमा करता है। ग्रहण से पूर्व उपांशु ग्रह को आसादनार्थ आग्नीध्र-मण्डप के उत्तर खर की दक्षिण दिशा में ले आया जाता है। अतः उपांशु ग्रह का आसादन खर के दक्षिण भाग में करना उचित होगा।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार उपांशु ग्रह का आसादन दक्षिण दिशा में न कर खर की उत्तर दिशा में करना चाहिए क्योंकि उपांशुसोमाहुति से प्रशस्त अन्य कोई आहुति नहीं है। यह आहुति सवनत्रयात्मिका (तीनों सवनों में प्रयुक्त होने वाली) है। अतः उत्तर भाग में उसके पात्र का स्थापन उपयुक्त ही है। उपांशु ग्रह का असादन 'प्राणायत्वा' (शु०य०सं० ७।३) मन्त्र से करना चाहिये। (शत०ब्रा० ४।१।१।२७)

(चयन याग में प्रयुक्त दो स्रुक् के अग्रभाग की दिशा के विषयक में मतभेद)

चयनयाग में एक हिरण्य पुरुष की रचना की जाती है जिसकी कार्ष्मर्यमयी तथा औदुम्बरी दो स्रुक् बाहु के रूप में होती हैं। उन स्रुकों के अग्रभाग की दिशा के विषय में मतभेद है। पद्धति के अनुसार अध्वर्यु हिरण्य पुरुष के समक्ष दो रेखाएं खींचता है और उन पर दोनों स्रुक्रों का आसादन करता है। यही हिरण्य पुरुष की दो बाहुएं हैं। (शत०ब्रा० ७।४।१।४२)। कुछ आचार्य इस विषय में आपत्ति प्रकट करते हैं। उनके मत से दोनों स्रुकों को सामने की ओर अग्रभाग कर नहीं अपितु दक्षिण तथा उत्तर की ओर (बायें तथा दाएं, अग्रभाग कर रखना

चाहिये क्योंकि हमारी दोनों बाहुएं दो पार्श्वों पर होती हैं। शत०ब्रा० ७।४।१।४४)

उपर्युक्त मत का निषेध कर याज्ञवल्क्य स्वमत प्रस्तुत करते हैं। पूर्व की ओर ही अग्रभाग कर उन स्रुक् पात्रों का आसादन होना चाहिये क्योंकि वेदी का सिर पूर्व की ओर ही होता है। इसके पार्श्व में रखी गयी बाहुएँ शक्तिशाली होंगी। शत०ब्रा० ७।४।१।४४)

३—उपधान-दिशा विषयक मतभेद

(नैर्ऋति इष्टकाओं का उपधान दूर से समीप की ओर या समीप से दूर की ओर करना चाहिये)।

कुछ आचार्यों के मतानुसार नैर्ऋति इष्टकाओं का उपधान दूर से उत्तरोत्तर अपनी ओर समीप में करना चाहिये क्योंकि निर्ऋति पापी है। समीप प्रदेश से आरम्भ करके उत्तरोत्तर उपपधान के कारण पूर्व उपहित इष्टकाओं का अतिक्रमण कर गमन से पाप संसर्ग होगा। अतः निर्ऋति से दूर रहने के लिए इष्टकाओं का उपधान दूर से आरम्भ कर समीप में किया जाता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेष करते हैं। उनके मतानुसार अध्वर्यु को समीप से दूर की ओर नैर्ऋति इष्टकाओं का उपधान करना चाहिये। अध्वर्यु इस प्रकार उपधान सम्पन्न कर पाप तथा निर्ऋति को दूर करता है। (शत०ब्रा० ७।२।१।१३)

(चतुर्थ चिति में उपधान की जाने वाली चतुर्दश इष्टकाओं की उपधान दिशा में मतभेद)

सर्वप्रथम स्तोमवती इष्टकाओं का उपधान होता है। त्रिवृत् स्तोम से युक्त इष्टकाएं अग्रभाग में, एकविंश स्तोमवाली इष्टकाएं पृष्ठभाग में, पंचदश स्तोम वाली इष्टकाएं दक्षिण की ओर तथा सप्तदश स्तोम वाली इष्टकाएं उत्तर की ओर उपहित होती हैं।(शत०ब्रा०८।४।४।३) चतुर्दश इष्टकोपधान के विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि त्रिवृत् स्तोम से युक्त दो इष्टकाओं के अनन्तर ही चतुर्दश इष्टकाओं का उपधान होना चाहिए क्योंकि वे दोनों जिह्वा और हनू (जबड़े) हैं। चतुर्दश इष्टकाएं हनू तथा उनके पृष्ठभाग में उपधान की जाने वाली छः इष्टकाएं जिह्वा हैं।

यह मत याज्ञवल्क्य को स्वीकार्य नहीं है। उनके मतानुसार इस विधि से अतिरिक्त कर्म किया जाता है। यह पूर्व वर्तमान हनू पर अन्य हनू तथा पूर्व वर्तमान जिह्वा पर एक अन्य जिह्वा रखने के सदृश होगा। (शत०ब्रा० ८।४।४।९) अन्य आचार्य इन इष्टकाओं का उपधान अवान्तर अर्थात् मध्य में, वेदी के दक्षिण-पूर्व करते हैं। ये इष्टकाएं सूर्य हैं। इस प्रकार उस दिशा में सूर्य का ही आसादन किया जाता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का भी निरसन करते हुए कहते हैं कि अन्य कर्म उख्य अग्नि के आधान) द्वारा सूर्य को उस दिशा में रखा जाता है। (शत०ब्रा० ८।४।४।१०)

अन्य आचार्य इन इष्टकाओं का उपधान दक्षिण दिशा में करते हैं जिससे भाग्य के अच्छे लक्षणों को दक्षिण की ओर रखा जाता है। जिस व्यक्ति के दक्षिण ओर लक्षण होता है वह पुण्य लक्षणवान् कहा जाता है। स्त्री के बाम भाग में लक्षण होने से वह पुण्य लक्षणवती होती है क्योंकि स्त्री का स्थान मनुष्य के बाम भाग में होता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का भी निषेध कर इष्टकोपधान पूर्वभाग में करने के लिए स्वमत प्रस्तुत करते हैं क्योंकि जहाँ सिर होता है वहीं हनू होते हैं तथा वहीं जिह्वा भी होती है। इस प्रकार अध्वर्यु भाग्य के अच्छें लक्षण को सिर पर रखता है। ऐसा कहा जाता है कि जिस व्यक्ति से मुख पर लक्षण होते हैं वह पुण्य लक्षण वाला होता है। (शत०ब्रा०८।४।४।११)

(मुख्य-दिशा विषयक मतभेद)

पक्षी के आकार की अग्निवेदी का मुख किस दिशा में हो तथा सिर अलग से निकला हो या नहीं ? इस विषय के प्रतिपादनार्थ याज्ञवल्क्य एक आख्यायिका प्रस्तुत कर रहे हैं—वाजश्रवा के पुत्र कुश्रि ने एक बार अग्निवेदी का चयन किया। कौश्य (कुश गोत्रोत्पन्न) सुश्रवा ने कुश्रि (गौतम) से पूछा—हे गौतम, जब तुमने वेदी का चयन किया तब उसका मुख पूर्व की ओर, पश्चिम की ओर अथवा नीचे की ओर या उत्तान कर किया ? शत०ब्रा० १०।५।५।१) कौश्य सुश्रवा ने इन दिशाओं की ओर मुख करके चयन की गयी वेदी के दोषों का निर्देश करते हुए बताया कि यदि आपने पूर्वाभिमुख चयन किया तो यह पश्चिमाभिमुख व्यक्ति को पीछे की ओर मुख करके भोजन देने के समान होगा। इस प्रकार अग्निवेदी तुम्हारा हविष ग्रहण न करेगी। (शत० ब्रा०१०।५।५।२) यदि

उसका चयन पश्चिमाभिमुख किया है तो उसका पुच्छ पश्चिम की ओर क्यों किया ? क्योंकि जिस पक्षी का मुख पूर्व की ओर होगा उसका पुच्छ पश्चिम की ओर होगा तथा जिसका मुख पश्चिम की होगा उसका पुच्छ पूर्व की ओर होगा। इस स्थिति में अग्नि चयन पश्चिमाभिमुख कैसे हुआ ? अवाङ्मुख निर्माण से निम्नाभिमुख व्यक्ति को भोजन देने के समान होगा। इस प्रकार तुम्हारा हविष् अग्निवेदी को प्राप्त नहीं होगा। (शत०ब्रा० १०।५।५।४) यदि उसका मुख उत्तान किया है तो वह पक्षि-रूप वेदी यजमान को स्वर्ग वहन न करेगी क्योंकि कोई भी पक्षी उत्तान मुख होकर स्वर्गगमन नहीं कर सकता। (शत०ब्रा० १०।५।५।४) कुश्रि ने कहा कि मैंने उसका चयन पूर्वाभिमुख, पश्चिमाभिमुख, उत्तानाभिमुख तथा सब दिशाओं में उसका मुख किया है। (शत०ब्रा० १०।५।५।६) अग्निवेदी रूप पक्षी का मुख ऊर्ध्व की ओर होता है फिर भी सब दिशाओं में इसका मुख कैसे हुआ ? इसे स्पष्ट कर रहे हैं—

अध्वर्यु जब हिरण्य पुरुष का उपधान पूर्व की ओर सिर कर करता है और दो स्रुकों (कार्ष्मर्यमयी तथा औदुम्बरी) को दो प्यालों के साथ पूर्व की ओर मुख करके रखता है तो वेदी पूर्वाभिमुख होती है। अध्वर्यु जब कूर्म तथा अन्य पशुओं के सिरों का उपधान पश्चिम की ओर मुख कर करता है वह वेद रूप पक्षी को पश्चिमाभिमुख निर्मित करता है। जब कूर्म तथा अन्य पशुओं एवं इष्ट-काओं के भी मुख नीचे कर उपहित होते हैं। इस प्रकार वेदी पक्षी का उपधान अधोमुख होता है। जब हिरण्य पुरुष का उपधान उत्तान मुख करके किया जाता है तथा दो स्रुचों में रखे हुए प्यालों का मुख ऊपर होता है, उलूखल और उखा उत्तानमुख होती है, वेदी उत्तानमुख वाली होती है। अध्वर्यु इष्टकाओं का उपधान वेदी को सभी दिशाओं में देखती हुई-सी करता है। (शत०ब्रा-१०।५।५।७) वेदी पक्षी का सिर निकला रहे या नहीं इस विषय में भी आख्यान प्रस्तुत किया जा रहा है :—

कोषा ऋषियों ने ऋत्विज कर्म सम्पादनार्थ गमन करते हुए मार्ग में किसी यजमान के यहाँ इस प्रकार की वेदी का निर्माण किया जिसका सिर निकला हुआ था। उन ऋषियों में से एक ने कहा—सिर का अर्थ होता है 'श्री'। इस प्रकार यज्ञ-सिर को पृथक् कर यजमान की श्री पृथक् कर दी गयी। फलतः यजमान सर्वथा श्री रहित हो जायगा। (शत०ब्रा० १०।५।५।८) अन्य ऋषि ने कहा कि सिर के अर्थ होते हैं प्राण। अग्निवेदी के सिर का पृथक् चयन करने से यजमान से प्राणों को

पृथक् कर दिया गया। फलतः यजमान शीघ्रही परलोक को प्राप्त होगा चिरकाल तक जीवित नहीं रहेगा। (शत०ब्रा० १०।५।५।६)

याज्ञवल्क्य का मत है कि अग्निवेदी का चयन ऊर्ध्वाभिमुख होता है। दर्भस्तम्भ, लोगेष्टका, पुष्कर पर्ण, स्वर्णस्थाली, स्वर्णपुरुष, दो स्रुक् स्वयमातृण्णा जिसमें स्वयं ही छिद्रहो, दूर्वेष्टका, द्वियजू: दो रेत: सिच्, विश्वज्योतिष्, दो ऋतव्या इष्टकाएं, अषाढा तथा कूर्म परोक्ष सिर हैं और वह अग्नि जो वेदी के चयन हो जाने पर रखी जाती है, प्रत्यक्ष सिर है। यद्यपि कूर्म अप्रत्यक्ष मूर्धा वाला है और उसके ऊपर इष्टकोपधान होने से उसकी मूर्धा अन्तर्हित हो जाती है जो विद्वान् इस प्रकार मानते हैं उनके लिए चित्याग्नि पर निहित आहवनीय ही प्रत्यक्षतम सिर है। चूंकि कूर्म और आहवनीय अग्नि चित्याग्नि के सिर हैं। अत: इष्टकाओं से भी पृथक् सिर निर्माण की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। (शत०ब्रा० १०।५।५।१०)

४–अभिषेक-दिशा विषयक मतभेद

(अग्नि चयन में वाजप्रसबीय होम के अनन्तर अभिषेक दिशा विषयक मतभेद)

अध्वर्यु वेदी के उत्तर कृष्ण मृग चर्म पर यजमान का अभिषेक करता है। अन्य आचार्य चित्याग्नि की दक्षिण दिशा में यजमान का अभिषेक करते हैं। क्योंकि दक्षिण की ओर से ही अन्नोपचार होता है।

याज्ञवल्क्य दक्षिण दिशा में अभिषेक करने का निषेध करते हैं क्योंकि दक्षिण दिशा पितरों से सम्बन्धित है। दक्षिणदिशा में अभिषेक करने से जिस (यजमान) का अभिषेक सम्पन्न होता है वह उसी दिशा को प्राप्त होता है। (शत०ब्रा० ९।३।४।११)

अन्य आचार्य आहवनीय के समीप यजमान का अभिषेक करते हैं। उनका तर्क यह हैं कि आहवनीय स्वर्ग लोक है। इस प्रकार यजमानाभिषेक स्वर्गलोक में होता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि वह आहवनीय यजमान का दवी शरीर है। उसका सत्य शरीर मानुष है। आहवनीय पर यजमानाभिषेक से उसके दैवी शरीर को मानुष शरीर से युक्त किया जाता है जो उचित नहीं है। शत०ब्रा० ९।३।४।१२) चितयाग्नि की उत्तरदिशा में अभिषेक होना चाहिए क्योंकि उत्तर पूर्व दिशा देव तथा मनुष्यों से सम्बन्धित होती है। इस प्रकार

अपनी दिशा में स्थित हुए व्यक्ति का अभिषेक सम्पन्न होता है । साथ ही साथ अपने आयतन में प्रतिष्ठित व्यक्ति विनष्ट नहीं होता है । शत० ब्रा० ९।३।४।१३)

५. दिशा विषयक अन्य मतभेद

(समाधि स्थानकर्षणार्थ ऋषभ योजन-दिशा विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मत से अध्वर्यु को समाधि स्थान की दक्षिण दिशा ऋषभों को हल से संयुक्त करना चाहिए। अन्य आचार्य इस कार्य के लिए उत्तर दिशा का निर्देश करते हैं।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार अध्वर्यु दक्षिण या उत्तर जिस दिशा में चाहे ऋषभों को हल से संयुक्त करे।

(सावित्री-अनुवचन के समय आचार्य के समीप माणवक के आसीन रहने या स्थित रहने की दिशा के विषय में मतभेद)

कुछ याज्ञिकों के मतानुसार सावित्री का अनुवचन उस समय करना चाहिए जब माणवक आचार्य के दक्षिण आसीन या स्थित हो। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं कि इस स्थिति में कोई अभिज्ञ उस आचार्य से कह सकता है कि आचार्य ने माणवक को बुल्ब (तिरछे मुख वाला) उत्पन्न किया है, उसका मुख तिरछा हो जायगा।

याज्ञवल्क्य स्वमत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि आचार्य के समक्ष पूर्व दिशा में स्थित, पश्चिमाभिमुख आचार्य को देखते हुए शिष्य के लिए सावित्री का अनुवचन करना चाहिए। इस विधि के अनुसरण में उक्त दोष नहीं है। (शत० ब्रा० ११।५।४।१४)

घ—परिमाण एवं आकार विषयक मतभेद

(घ-१) भूमि एवं वेदी के परिमाण एवं आकार विषयक मतभेद

१. भूमि परिमाण विषयक मतभेद

(ज्योतिष्टोम याग में देव यजन के पूर्वाधिक्य या पश्चिमाधिक्य में मतभेद)

कुछ आचार्यों के मत से देवयजन पूर्व की ओर अधिक न बढ़ाना चाहिए क्योंकि इससे यजमान के शत्रुओं की वृद्धि होती है। उसका विस्तार दक्षिण तथा उत्तर की ओर स्वेच्छापूर्वक किया जा सकता है। जिस देवयजन में पश्चिम की ओर

पर्याप्त भूमि रहती है, वह अधिक समृद्ध होता है। ऐसे देवयजन वाला यजमान शीघ्र देवताओं की उच्च पूजा प्राप्त करता है।

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हम देवयजन चयनार्थ वार्ष्ण्य के यहाँ गये थे। उस समय सात्ययज्ञ ने कहा था 'यह सम्पूर्ण देबी पृथ्वी ही देवयजन है। इस पृथ्वी पर स्वेच्छानुसार यजुष् मन्त्रों से परिग्रहण कर याग संपादित कराना चाहिए। (शत०ब्रा० ३।१।१।४) ऋत्विज ही देबयजन का चुनाव करते हैं। वे ही यज्ञ–सम्पादन में मध्यस्थ होते हैं। जहाँ वेद-शास्त्र में पारंगत, सांग प्रवचन अध्येता, विद्वान् ऋत्विज यज्ञ सम्पादन कराते हैं वहां कोई भी दोष उपस्थित नहीं होता। वह देवयजन देवताओं के अधिक समीप होता है। शत०ब्रा० ३।१।१।५)

(पितृमेध यज्ञ में समाधि के लिए भूमि-परिमाण विपयक मतभेद)

कुछ याज्ञिकों के मतानुसार जितने स्थान में मृत व्यक्ति की अस्थियों को रखा जाय उतनी भूमि समाधि के लिए कर्षित होनी चाहिए।

याज्ञवल्क्य के विचार से अधिक भूमि कर्षण की आश्यकता नहीं है। पुरुष परिमाण तक भूमि कर्षण होना चाहिये। समाधि-स्थान की गहराई भी उतना होनी चाहिये जहां तक ओषधि के मूल हों। इस प्रकार अन्य प्रेत के लिए अवकाश नहीं रहता। ओषधियां पितर लोक हैं। पितर ओषधि-मूल में प्रवेश करते हैं। समाधि के लिए खोदे गये भाग में औषधि-मूल नहीं रहने देना चाहिए। अन्यथा पितर भूमि में नहीं रह सकते। (शत०ब्रा० १३।८।१।२०)

(हविर्धान-स्थापन की दूरी के सम्बन्ध में मतभेद)

कुछ याज्ञिकाचार्यो के मत से उत्तरवेदी से तीन प्रक्रम पश्चिम दोनों हविर्धान स्थापित किये जाने चाहिये।

याज्ञवल्क्य का मत है कि कोई निश्चित परिमाण नहीं है। स्वेच्छानुसार किसी भी स्थान में हविर्धान-निमाण कर दिया जाय। एक बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि वह स्थान उत्तरवेदी से न अधिक समीप हो और न अधिक दूर ही। (शत०ब्रा० ३।५।३।१६)

२—वेदी एवं समाधि परिमाण विषयक मतभेद

(वेदि नाम तथा गाम्भीर्य-परिमाण में मतभेद)

आख्यायिका द्वारा 'वेदि' नाम पड़ने का निर्देश किया जा रहा है। —एक

समय असुर तथा देवों में संघर्ष हुआ जिसमें देवता असुरों से तिरस्कृत हुए। देवों ने सर्वत्र असुरों का ही आधिपत्य जानकर युक्ति सोची। उन्होंने असुरों से कहा— 'इस पृथ्वी में हमारा भी अंश हो जाय।' असुर देवों से ईर्ष्या करते ही थे। फिर उन्होंने कहा— 'विष्णु शयन कर जितनी भूमि नाप सकें उतनी भूमि दी जायगी।' (शत० ब्रा० १।२।५।४) विष्णु यद्यपि वामन थे, इतनी भूमि उनसे नप सकती थी तथापि देवों ने इसे अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने आपस में कहा— 'उन असुरों ने यज्ञ के बराबर पृथ्वी दी क्योंकि विष्णु यज्ञ हैं।' (यज्ञो वैविष्णुः) कहा गया है। (शत० ब्रा० १।२।५।५) देवता आज्ञा पाकर भूमि मापन करने लगे। विष्णु को पूर्व की ओर सिर कर दक्षिण दिशा में गायत्री छन्द से, पश्चिम दिशा में त्रिष्टुप् छन्द से, उत्तर दिशा में जगती छन्द से, पूर्व दिशा में अग्नि से परिवेष्टित कर दिया। (शत० ब्रा० १।२।५।६) अग्नि को सामने कर गान तथा परिश्रम करते हुए देव आगे बढ़े। इस प्रकार उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वी में आधिपत्य स्थापित कर लिया। इस यज्ञ से सब कुछ प्राप्त किया। अतः 'वेदि' नाम पड़ा। इसीलिए 'याबतीवेदिस्तावती पृथिवी' कहा गया है। (शत० ब्रा० १।२।५।७) पृथ्वी-मापन करते हुए विष्णु श्रान्त हो गये। चतुर्दिक परिवेष्टन से पलायन में असमर्थ होकर औषधि-मूल में अन्तर्हित हो गये। (शत० ब्रा० १।२।५।८) देवों ने अनुमान किया कि विष्णु नीचे ही छिपे होंगे। उन्होंने भूमि-खनन के अनन्तर बिष्णु को प्राप्त किया। तीन अंगुल गहराई के बाद विष्णु की प्राप्ति होने से वेदी त्र्यंगुला (तीन अंगुल गाम्भीर्य वाली) होनी चाहिए।

कतिपय याज्ञिकों ने वेदी को त्र्यंगुला ही स्वीकार किया है। उदाहरणस्वरूप पाञ्चि आचार्य ने सोमयाग में तीन अंगुल गाम्भीर्य वाली वेदी का निर्माण किया था। (शत० ब्रा० १।२।५।९)

याज्ञवल्क्य इस मत का विरोध करते हैं। उनका कथन है कि वेदी का तीन अंगुल गाम्भीर्य अनिबार्य नहीं है तथा उस विष्णु के अन्वेषणार्थ भूमि-खनन कर उन्हें प्राप्त किया गया अतः वेदि नाम पड़ा।' यह भी उचित नहीं है अपितु इस प्रकार है— वे विष्णु ग्लान होकर औषधि मूल में अन्तर्हित हो गये। अतः औषधिमूल के छिन्नार्थ देवों ने खनन प्रारम्भ किया। जहां तक वनस्पतियों के मूल थे वहाँ तक भूमि खोदी गयी। खननोपरान्त विष्णु प्राप्त हुए। अतः 'वेदि' नाम पड़ा। (शत० ब्रा० १।२।५।१०)

(सौमिकमहावेदि-परिमाण विषयक मतभेद)

वेदि-परिमाण सर्वेक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है—अध्वर्यु सभ्य (कक्ष) से पूर्व की ओर तीन प्रक्रम के पश्चात् एक शंकु प्रतिष्ठापित करता है जो मध्यम शंकु (अन्तः पात) है। इस शंकु से दक्षिण की ओर पन्द्रह प्रक्रमानन्तर एक

शंकु स्थिर करता है। यह दक्षिण श्रोणी है। (शत० ब्रा० ३।५।१-२) उत्तर की ओर पन्द्रह प्रक्रम के बाद शंकु स्थापित कर उत्तर श्रोणी निश्चित की जाती है। (शत० ब्रा० ३।५।१।३) इस प्रकार पन्द्रह-पन्द्रह प्रकम मिलकर तीस हुए। अध्वर्यु उसी अन्तः पात शंकु से पूर्व की ओर छत्तीस प्रक्रम के पश्चात् शंकु स्थापित करता है। यह पूर्वार्द्ध में है, यहाँ पन्द्रह प्रक्रम नहीं अपितु दक्षिण की ओर बारह प्रक्रम के बाद शंकु-स्थापन होता है। यह वेदी का दक्षिणांस है। (शत० ब्रा० ३।५।१।५) इसी प्रकार उत्तर की ओर बारह प्रकम अनन्तर एक शंकु स्थिर की जाती है। यह वेदी का उत्तरांस है। (शत० ब्रा० ३।५।१।६) पश्चिमांस को तीस प्रक्रम करने का कारण यह है कि विराट् छन्द में तीस अक्षर होते हैं। देवों ने विराट् छन्द से ही इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त की। अब भी इस प्रकार का अनुष्ठाता विराट् छन्द से इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। (शत० ब्रा० ३।५।१।७)

अन्य आचार्य पश्चिमांस-परिमाण तैंतीस प्रक्रम करते है। इस मत को भी मान्यता प्रदान करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि विराट् छन्द में तैंतीस अक्षर भी होते हैं। इस प्रकार विराट् छन्द से इस लोक में प्रतिष्ठा प्राप्ति होती है। [शत० ब्रा० ३।५।१।८] पूर्व की ओर छत्तीस प्रक्रमानन्तर शंकु स्थिर करने का कारण यह है कि बृहती छन्द में छत्तीस अक्षर होते हैं। वृहती से ही देवों ने स्वर्ग प्राप्त किया। इस प्रकार के अनुष्ठाता का स्वर्ग लोक दिव्य आह्वनीय होता है। [शत० ब्रा० ३।५।१।९] वेदी का पश्चिमांस तीस प्रक्रम होता है किन्तु पूर्वांस चौबीस प्रक्रम ही होता है। इसका कारण यह है कि गायत्री में चौबीस अक्षर होते हैं। गायत्री यज्ञ का पूर्वार्द्ध है। अतः वेदी का पूर्वांस चौबीस प्रक्रम होता है। यह वेदी का परिमाण है। [शत० ब्रा० ३।५।१।१०]

वेदी का पश्चिमांस पृथु होता है। इसका कारण यह है कि वेदी स्त्री है। जिस प्रकार स्त्री का नितम्ब भाग अधिक होता है, उसी प्रकार वेदी का पश्चिमांस पृथु होता है। (शत० ब्रा० ३।५।१।११)

(महावेदि-परिमाण (ऊंचाई) विषयक मतभेद)

यह वेदी सप्तविध वेदी की माता है। अध्वर्यु को देवयजन क्षेत्र का निर्धारण कर पत्नीशाला के पूर्व द्वार से प्राग्वंश में प्रविष्ट होकर गार्हपत्यागार निर्माणार्थ तृणादि दूर कर भूमि-खनन कर जल से क्षेत्र सेचन करना चाहिए। गार्हपत्य स्थान का विचार कर उस कल्पित प्रदेश से पूर्व की ओर सात प्रक्रम भूमि मापन करना चाहिए। सात प्रक्रम के बाद पूर्व में एक व्याम (चार अरत्नि)

भूमि नाप कर व्याम के मध्य आहवनीय स्थान कल्पित किया जाता है। यह आहवनीय चयन-महावेदी का गार्हपत्य है। गार्हपत्य चिति के लिए कल्पित व्याम के पूर्वार्द्ध प्रदेश से लेकर पूर्व की ओर तीन प्रक्रम अर्थात् दस प्रक्रम और एक व्याम तक महावेदी के पश्चिम भाग का अन्त है। (शत० ब्रा० १०।२।३।१) एक व्याम तथा दस प्रकम मिलकर एकादश होते हैं। वेदी और गार्हपत्य के मध्य एकादश प्रक्रम का अन्तर होता है। त्रिष्टुप् छन्द में एकादश अक्षर होते हैं तथा त्रिष्टुप वज्र और वीर्य से यज्ञानुष्ठान से पूर्व ही राक्षसों का विनाश करता है। (शत० ब्रा० १०।२।३।२) वेदि-मापन-काल दीक्षा-दिनों में अन्तिम दिन होता है।

कुछ याज्ञिकों के मत से वेदी के पश्चिम किनारे से सीधे पूर्व छत्तीस प्रक्रम, पश्चिम में तीस प्रक्रम पृथुता, पूर्व की ओर चौबीस प्रक्रम। इस प्रकार यह वेदी नब्बे प्रक्रमों वाली है तथा उस पर सप्तविध अग्नि (सात पुरुषों के प्रमाण की) वेदी का चयन सम्पन्न होता है। (शत० ब्रा० १०।२।३।४)

ब्रह्मवादियों का कथन है कि यह सप्तविध पुरुष प्रमाण की वेदी नब्बे संख्या के साथ कैसे सम्पादित होगी ? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य का कथन है कि पुरुष में दस प्राण (सात शीर्ष प्राण, दो अवांच प्राण तथा नाभि), चार अंग (दो बाहु, दो पाद) तथा मध्य देह पन्द्रह संख्या के पूरक हैं। इस प्रकार प्रथम, द्वितीय, तृतीय से लेकर षष्ठ तक नब्बे संख्या का सम्पादन होता है। एक पुरुष नब्बे की संख्या के अतिरिक्त होता है। वह सातवां पुरुष पांक्त (लोम, त्वक्, मांस, अस्थि तथा मज्जा से युक्त) होता है। यह वेदी भी पांक्त होती है---वेदी की चार दिशाएं तथा पांचवीं स्वयं वेदी। इस प्रकार नब्बे प्रक्रम वाली महावेदी की संख्या से सप्त पुरुषविध (सात पुरुषों के प्रमाण की) अग्निवेदी सम्पन्न होती है। (शत० ब्रा० १०।२।३।५) अन्य आचार्य प्रक्रम तथा व्याम की संख्या में वृद्धि कर सप्तपुरुष विधवेदि-परिमाण में वृद्धि करते हैं। अष्टविघ से लेकर एक शतविध पर्यन्त अग्नि प्रकार करते हुए इन प्रक्रमों तथा व्याम को बढ़ाते हैं: उनके मत से पुरुष संख्या वृद्धि से योनि भूत वेदी की वृद्धि होती है।

इस मत का निषेध कर याज्ञवल्क्य स्वमत प्रस्तुत करते हैं———लोक में यह देखा जाता है कि योनि उत्पन्न शिशु के अनुसार नहीं अपितु गर्भानुसार बढ़ती है। अष्टविधादि रूप से उसकी वृद्धि है। अग्नि गर्भ की योनिभूता वेदी एकादश (दस प्रक्रम तथा एक व्याम) परिमाण वाली होती है। गर्भ के एक रूप से वेदी में वृद्धि न होने के कारण योनि-वृद्धि नहीं होती। अतः योनि-भूतावेदी की वृद्धि नहीं करनी चाहिए। (शत० ब्रा० १०।२।३।६) जो आचार्य वेदि परिमाण में

वृद्धि करते हैं वे प्रजापति को उसके अंश से रहित करते हैं। वे प्रजापति को याग से च्युत करने के कारण यज्ञ सम्पन्न कर पापी हो जाते हैं अर्थात् सप्तविध अग्निवेदी में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। उस पर निर्मित होने वाली वेदी का भी आकार उतना ही होना चाहिए। (शत० ब्रा० १०।२।३।७)

(अग्निवेदि-परिमाण (ऊंचाई) के विषय में मतभेद)

कुछ आचार्य अग्निवेदी को सर्व प्रथम एकविध एक पुरुष के प्रमाण की) निर्मित करते हैं। एक के बाद दो तथा तीन इस प्रकार एक पुरुष-प्रमाण से लेकर अनन्त पुरुष-प्रमाण एक क्रमशः अग्निवेदी में वृद्धि करते हैं। (शत० ब्रा० १०।२।३।१७)

याज्ञवल्क्य उन आचार्यों से असहमत हैं। उनका मत है कि प्रजापति पहले सप्तविध ही उत्पन्न हुए। वे अपने शरीर की वृद्धि करते गये। एक-एक की वृद्धि कर एक सौ एक पर अवरुद्ध हो गये। सप्तविध पुरुष-प्रमाण में से एक भी पुरुष प्रमाण को भी कम करने पर प्रजापति का विच्छेद होता है। जो व्यक्ति अग्नि का परिमाण सप्तविध पुरुष प्रमाण से कम करता है, वह श्रेष्ठ पिता प्रजापति का विच्छेद कर यजनोंपरान्त पापी होता है। जो एक सौ एक पुरुषबिध के प्रमाण का अतिक्रमण कर अधिक पुरुष-प्रमाण की अग्नि वेदी का चयन करता है, वह सबसे वाहर होता है क्योंकि प्रजापति सर्वस्व है। सर्वप्रथम सप्तविधि पुरुष-प्रमाण वती वेदी का चयन कर एक-एक पुरुष की अभिवृद्धि से एक सौ एक विध पुरुष पर्यन्त वेदी का चयन करना चाहिए। सात पुरुष-प्रमाण के कम होने पर प्रजापति का विच्छेद होता है तथा एक सौ एक से अधिक होने पर अपना ही सबसे बहिर्भाव होता है। अतः दोनों ही बातें समादरणीय नहीं हैं। (शत०ब्रा० १०।२।३।१८]

[अश्वमेधयाग में वेदि-परिमाण विषयक मतभेद]

अश्वमेध यज्ञमें इक्कीस स्तोम तथा इक्कीस यूप होने से इक्कीस पुरुष के परिमाण वाली वेदी होनी चाहिए। शत०ब्रा (१३।३।३।७) अन्य आचार्यों का मत है कि वेदी द्वादश पुरुष-परिमाण वाली होनी चाहिये। उसमें एकादश यूप होने चाहिये। क्योंकि संवत्सर में द्वादश मास होते हैं। इसमें एकादश यूप होते हैं। इस प्रकार यजमान संवत्सर एवं यज्ञ प्राप्त करता है। वे आचार्य एकादश यूपों से बिराट् छन्द की तुलना करते हैं। विराट् छन्द एकादशिनी (ग्यारह यूपों का समूह) है। इतसे तो देश से ही तुलना की जासकती है, ग्यारहवां यूप तो बच ही जायगा। इस शंका का

समाधान यह है कि ग्यारहवां यूप स्तन है। ग्यारह यूपों का समूह गाय है। दस की समानता विराट् छन्द से होती है। ग्यारहवां यूप उस गाय का स्तन है जिससे दुग्ध-दोहन किया जाता है। शत०ब्रा० १३।३।३।८)

इस मत की निन्दा करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि द्वादश पुरुष-परिमाण की वेदी होगी तथा एकादश यूप होंगे तो यह उसी प्रकार होगा जैसे कि यजमान उस यान पर गमन करे जिसमें एक पशु जुता हो और किसी तरह उसे वहन कर रहा हो। (शत०ब्रा० १३।३।३।९] इक्कीस पुरुष परिमाण की वेदी हो, एकविंश स्तोम तथा इक्कीस यूप हों। ऐसी स्थिति में यजमान अश्वों द्वारा वहन किये जाते हुए यान पर स्थित होता है। याज्ञवल्क्य प्रथम पक्ष की प्रशंसा में कहते हैं कि एकविंश यज्ञ का सिर है जिसे अश्वमेध के सिरत्रय [अग्नि, स्तोम, यूप] का ज्ञान है वह राजाओं का ककुत् बनता है। [शत०ब्रा० १३।३।३।१०]

[समाधि-परिमाण [ऊंचाई] विषयक मतभेद]

कुछ आचार्यों के मत से पितृमेध यज्ञ में समाधि निर्माण बृहदाकार नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे आकार से मृत पुरुष की पाप-वृद्धि की जाती है। क्षत्रिय के लिए ऊर्ध्वबाहु तक ऊंची, ब्राह्मण के लिए मुँह तक, स्त्री के लिए कूल्हे के ऊपर तक, वैश्य के लिए ऊरु तक तथा शूद्र के लिए घुटने तक ऊँची समाधि होनी चाहिए। इस प्रकार पराक्रमानुसार समाधि-निर्माण होता है। (शत० ब्रा० १३।८।३।११)

याज्ञवल्क्य के मतानुसार सब वर्णों के लिए समाधि घुटने के नीचे तक ही ऊँची होनी चाहिए। इस प्रकार अन्य प्रेत के लिए अवकाश नहीं रखा जाता है। (शत० ब्रा० १३।८।३।१२)

३—वेदी एवं समाधि सम्बन्धित आकार विषयक मतभेद

अग्निवेदी के आकार के विषय में आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्य अग्निवेदी का निर्माण सुपर्ण के आकार से भिन्न करते हैं। अन्य आचार्य द्रोण के आकार की, रथ-चक्र के आकार की, कंक के आकार की, प्रउग के आकार की, दो ओर प्रउग के आकार की या पुरीष एकत्र कर उससे युक्त निर्मित करते हैं। याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत की निन्दा करते हैं। उनके मत से पक्ष-पुच्छ से युक्त गर्भ-निर्माण करना चाहिए। अग्निवेदी सुपर्णाकार होनी चाहिए। (शत० ब्रा० ६।७।२।८)

(समाधि के आकार से सम्बन्धित मतभेद)

अग्निचित् (जिसने अग्नि-चयन किया है) के लिए अग्नि-चयन-वेदी के

सदृश ही समाधि का निर्माण करना चाहिए क्योंकि यजमान जब अग्नि-चयन करता है, वह यज्ञ द्वारा अपने लिए स्वर्ग लोक के प्राप्त्यर्थ एक शरीर की संरचना करता है किन्तु यह यज्ञीय कर्म समाधि निर्माण के बिना पूर्ण नहीं होता। जब अग्निचित् के लिए समाधि का निर्माण अग्निचयन-वेदी के समान होता है तब अग्निचित्या पूर्ण होती है। (शत० ब्रा० १३।८।१।१७) बहुत बड़ी समाधि का निर्माण नहीं करना चाहिए अन्यथा प्रेत का पाप बड़ा किया जाता है। (शत० ब्रा० १३।८।१।५८) कुछ आचार्यों के मतानुसार समाधि पक्ष-पुच्छ से हीन अग्निचयन वेदी के समान निर्मित होनी चाहिए क्योंकि अग्निचयन-वेदी यजमान का शरीर है। (शत० ब्रा० १३।८।१।१८)

याज्ञवल्क्य स्वमत स्थापित करते हुए कहते हैं कि समाधि मानवाकार होनी चाहिए। पश्चिम की ओर पृथु (चौड़ी) तथा उत्तर की ओर दीर्घ होनी चाहिए। (शत० ब्रा० १३।८।१।१९)

घ २-पात्र एवं उपकरण-परिमाण तथा आकार विषयक मतभेद :

(अभ्रि-परिमाण विषयक मतभेद)

कुछ आचार्य अभ्रि को प्रादेश मात्र बनाते हैं क्योंकि वाणी भी एक प्रादेश की दूरी से वाग्विसर्जन करती है।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध कर स्वमत प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार अभ्रि अरत्नि-परिमाण वाली होनी चाहिए क्योंकि बाहु अरत्नि मात्र है और पराक्रम बाहु द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार अभ्रि वीर्य के बराबर ही हुई। अत: अरत्निमात्र ही अभ्रि का परिमाण होना उपयुक्त है। (शत० ब्रा० ६।३।१।३३)

(रशना-परिमाण विषयक मतभेद)

चयनयाग में आलम्भन किये जाने वाले पाँच पशुओं की रशना विषम या सम और सदृश होनी चाहिए। इस विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि सब पशुओं की रशनाएं समान नहीं होनी चाहिए। पुरुष पशु की रशना सबसे बड़ी होनी चाहिए। शेष चार पशुओं में जो सबसे मोटा हो उसकी रशना अन्य तीन पशु की रशना से बड़ी तथा पुरुष पशु की रशना से छोटी होनी चाहिए। इसी प्रकार मोटे और बड़े के अनुसार रशना परिमाण होगा। अध्वर्यु पशु-रशना निर्माण पशुओं के रूपानुसार करता है।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निरसन करते हैं। उनका मत है कि रशनाएं दीर्घ और लघु नहीं होनी चाहिए अपितु सब की लम्बाई और मोटाई में समानता होनी चाहिए। सब पशु समान तथा सदृश हैं। ये अग्नि एवं अन्न कहे जाने के कारण समान तथा सदृश हैं। अतः रशनाएं भी परिमाण तथा आकार में समान तथा सदृश होनी चाहिए। (शत० ब्रा० ६।२।१।१९)

(अश्वमेध यज्ञ में अश्वार्थ प्रयुक्त दर्भमयी रशना-परिमाण में मतभेद)

कुछ याज्ञिकों के मतानुसार रशना द्वादश अरत्नि के परिमाण वाली होती है क्योंकि संवत्सर में द्वादश मास होते हैं। इस प्रकार यजमान संवत्सर रूप यज्ञ को प्राप्त करता है। (शत० ब्रा० १३।१।२।१) अन्य आचार्य त्रयोदश अरत्नि के परिमाण की अश्व-रशना का विधान करते हैं। (शत० ब्रा० १३।१।२।२) इस मत की प्रशंसा करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि वह वर्ष (त्रयोदश मास वाला) ऋतुओं में ऋषभ है। उस संवत्सर का तेहरवां मास अधिक मास या मलमास है जो उसका ककुत् है। अश्वमेध यज्ञ सब यज्ञों में ऋषभ है। अध्वर्यु इच्छानुसार रशना में एक अरत्नि रज्जु और जोड़ सकता है। इस प्रकार अश्वमेध रूपी ऋषभ के पृष्ठभाग पर ककुत्-वृद्धि होती है। (शत० ब्रा० १३।१।२।२)

(अभ्रि-आकार के विषय में मतभेद)

अभ्रि एक ही ओर तीक्ष्ण हो या दोनों ओर ? इस विषय में आचार्यों में मतभेद है। कुछ आचार्यों के मतानुसार अभ्रि एक ही ओर तीक्ष्ण होनी चाहिए क्योंकि वाणी (जिह्वा) भी एक ही ओर तीक्ष्ण होती है।

याज्ञवल्क्य का मत है कि अभ्रि दोनों ओर तीक्ष्ण होनी चाहिए क्योंकि वागिन्द्रिय दोनों ओर तीक्ष्ण होती है। वह देवों और मनुष्यों की भाषा बोलती है। सत्य और असत्य भाषण करती है।

ङ—संख्या विषयक मतभेद

१—द्रव्य-संख्या विषयक मतभेद।

(आज्य की ग्रहण-विधि एवं संख्या के विषय में मतभेद)

अध्वर्यु हवनार्थ एक पात्र से दूसरे पात्र में आज्य ग्रहण करता है। आज्य-ग्रहण के समय मन्त्र विहित हैं। इसी प्रकार ग्रहण-संख्या भी निर्धारित है। कितनी बार मन्त्र सहित तथा कितनी बार बिना मन्त्र के आज्य ग्रहण किया जाय इस विषय में मतभेद है। याज्ञवल्क्यीय सम्प्रदाय के अनुसार अध्वर्यु स्रुव द्वारा जुहू में आज्य ग्रहण करते समय 'धामनामासि प्रियं देवानाम्', 'अनाधृष्टं देवयजनमसि'

(शु० य० सं० १।३१, शत० ब्रा० १।३।२।१७) एक बार इस मन्त्र को पढ़कर तथा तीन बार बिना मन्त्र के ही आज्य जुहू में ग्रहण करता है। इसी प्रकार एक बार उक्त मन्त्र को पढ़कर तथा सात बार बिना मन्त्र के ही जुहू से उपभृत् में आज्य-ग्रहण सम्पन्न होता है। एक बार उक्त मन्त्र के साथ एवं तीन बार अमंत्रक ध्रुवा में आज्य-ग्रहण होता है।

इसके विरुद्ध ब्रह्मवादी द्वितीय मत का प्रतिष्ठापन करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक पात्र में आज्य ग्रहण करते समय तीन बार मन्त्र-पाठ होना चाहिए तथा एक बार बिना मन्त्र के ही आज्य ग्रहण करना चाहिए क्योंकि यज्ञ तीन बार (प्रातःकाल, मध्याह्न काल तथा सायंकाल) निष्पादित होता है। इस प्रकार त्रिवृत्करण की सिद्धि होती है।

ब्रह्मवादियों के उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि त्रिवृत्व तो प्रथम पक्ष में भी है। अध्वर्यु जब जुहू, उपभृत् तथा ध्रुवा इन तीनों पात्रों में एक-एक बार समन्त्रक आज्य ग्रहण करता है तो इस प्रकार तीन बार आज्य ग्रहण होने से त्रिवृत्व सम्पादित होता है। (शत० ब्रा० १।३।२।१८)

(पितृयज्ञ में आज्य होम के समय आज्य-ग्रहण-संख्या विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मत से स्रुक् द्वारा उपभृत् में दो बार आज्य ग्रहण करना चाहिये क्योंकि यहां दो ही अनुयाज (प्रधानयाग के अनन्तर होता द्वारा पढ़े जाने वाले याज्या मन्त्र) हैं।

याज्ञवल्क्य इस मत का निराकरण करते हैं। उनके मतानुसार उपभृत् में आज्यग्रहण दो बार नहीं अपितु आठ बार करना चाहिए। आठ बार आज्यग्रहण का विधान है। (शत० ब्रा० १।३।२।१८) अतः दो बार आज्य ग्रहण करने से यज्ञविधि से अलग कार्य किया जाता है। (शत० ब्रा० २।६।१।१३)

(औद्ग्रभण होम में आहुति संख्या विषयक मतभेद)

याज्ञवल्क्य के मतानुसार इस होम में वैश्वदेवाहुति (विश्वेदेव के लिए), सावित्राहुति (सविता के लिए), मैत्राहुति (मित्र के लिए), बार्हस्पत्याहुति (वृहस्पति के लिए) तथा पौष्णाहुति (पूषा के लिए) ये पाँच आहुतियाँ होनी चाहिए।

अन्य आचार्यों का मत है कि इसी पांचवीं आहुति का होम करना चाहिए। अन्य आहुतियों से जिस कामना की पूर्ति होती है वह एक आहुति से ही पूर्ण हो जायगी। इस पाँचवी आहुति का हवन पूर्णाहुति का हवन है तथा पूर्ण ही सब

कुछ है जिसकी प्राप्ति इसी से होती है। पूर्णाहुति के समय स्रुव को आज्य से पूर्ण करना चाहिए। उस समय स्रुव से ही होम न कर स्रुक् में आज्य ग्रहण कर पूर्णाहुति बनाकर हवन करना चाहिए।

इस विषय में याज्ञवल्क्य का कथन है कि ऐसी मीमांसा की जाती है हवन तो सब आहुतियों का होता है। (शत० ब्रा० ३।१।४।२२)

(अश्वमेध याग में मृत्यु को प्रदान की जाने वाली आहुति-संख्या के विषय में मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार सब लोकों से सम्बन्धित होने के कारण मृत्यु को अनेक आहुतियां प्रदान की जानी चाहिए। उन मृत्युओं के लिए आहुतियों का हवन न करने पर यजमान को प्रत्येक लोक में मृत्यु ग्रहण कर लेगी। इन आहुतियों के प्रदान से वह प्रत्येक लोक में मृत्यु से अपनी रक्षा कर लेगा। (शत० ब्रा० १३।३।५।१) अन्य आचार्य इस मत की निन्दा करते हैं कि अनेक मृत्यु-प्रकार मान कर, 'मृत्यवे स्वाहा' कहकर हवन करते हुए अनेक मृत्युओं का परिगणन होता है। अनेक मृत्युओं को अभिन्न बनाया जाता है। यजमान उस अभिन्नभूत मृत्यु के लिए अपने को भी अर्पित करता है जो उचित नहीं है। दूसरे याज्ञिकों के मतानुसार 'मृत्यवे स्वाहा' (शु० य० सं० ३६।१३) आहुति का ही हवन करना चाहिए क्योंकि उस लोक मे अशनाया ही एक मृत्यु है। यजमान उसे दूर करता है। (शत० ब्रा० १३।३।५।२) 'ब्रह्महत्यायै स्वाहा' (शु० य० सं० ३६।१३) कहकर द्वितीय आहुति ब्रह्महत्या को दी जाती है क्योंकि ब्रह्महत्या के अतिरिक्त अन्य हत्याएं हत्या नहीं हैं। ब्रह्म हत्या साक्षात् मृत्यु है उसे आहुति देकर साक्षात् मृत्यु का ही अपनयन होता है। (शत० ब्रा० १३।३।५।३)

मुण्डिभ (औदन्य) ऋषि ने इस आहुति को अश्वमेधान्तर्गत सम्पादित होने वाली ब्रह्महत्या की प्रायश्चित्ति के रूप में विधान किया। ब्रह्महत्यार्थ आहुति प्रदानानन्तर मृत्यु के लिए परिशिष्ट पान कर, ब्रह्महन्ता की चिकित्सा होती है। (शत० ब्रा० १६।३।५।४) जिस यजमान के अश्वमेध में इस आहुति का हवन होता है उसकी आगामिनी सन्तानों में ब्रह्महन्ता की चिकित्सा की जाती है।

(अग्न्याधान में सम्भार-संख्या विषयक मतभेद)

कृष्णयजुर्वेदीय आचार्य (तै० ब्रा० १।१।३) त्रयोदश (जल को मिलाने पर चतुर्दश) सम्भारों का सम्भरण करते हैं जिनमें सिकता, ऊषाः, आखुकरीष,

वल्मीक, सूद:, शर्करा (कंकड़), हिरण्य ये सात सम्भार पृथ्वी से तथा छः सम्भार अश्वत्थ, उदुम्बर (गूलर), पलाश, शमी, विकंकत, अशनिहूत वृक्ष काष्ठखंडों से प्राप्त करते हैं।

याज्ञवल्क्य के मत से अध्वर्यु पाँच सम्भारों को आहवनीय, गार्हपत्य आदि कुण्डों में प्रक्षेपणार्थ एकत्र करता है जो अधोनिर्दिष्ट हैं--उदक, हिरण्य, ऊषा: (ऊसर भूमि की मिट्टी), आखुकरीष (मूषकों द्वारा खोदी गयी मिट्टी) तथा शर्करा (कंकड़) (शत० ब्रा० २।१।१।३-८) सम्भार संख्या की उपयुक्तता का निर्देश करते हुए उनका कथन है कि यज्ञ पांक्त है, पशु भी पांक्त है तथा वर्ष में पाँच ही ऋतुएं होती हैं। अतः अध्वर्यु इन पाँच सम्भारों का सम्भरण करता है। (शत० ब्रा० २।१।१।१२) अन्य आचार्यों के द्वारा संवत्सर में छः ऋतुएं मानने पर तीन युग्म बनते हैं और पंचक में एक की न्यूनता आती है। यह न्यूनता श्रेयस्कर है क्योंकि स्त्री-पुरुष के वीर्य के न्यूनाधिक्य से ही प्रजनन होता है। यदि छः ही ऋतुएं मानी जायं तो अग्नि संभारों की छठी संख्या का पूरक है। (शत० ब्रा० २।१।१।१३)

(वाजपेय यज्ञ में यजमान के अभिषेकार्थ सम्भरण किये जाने वाले अन्न प्रकार के सम्बन्ध में मतभेद)

प्रधान नैवार आहुति के अनन्तर वाजप्रसवनीय होम का विधान है। इसका उद्देश्य यह है कि अन्न-होम से यजमान के लिए अन्न प्राप्त किया जाता है। अध्वर्यु उदुम्बर पात्र में अन्न-सम्भरण करता है। वह अन्न-सम्भरण करने के पूर्व सर्वप्रथम पात्र में जल तदनन्तर दूध ग्रहण करता है। इसके पश्चात् बुद्धिस्थ अन्नों का सम्भरण करता है। (शत० ब्रा० ५।२।२।२) अध्वर्यु द्वारा उस पात्र में कितने प्रकार के अन्नों का सम्भरण होना चाहिए इस विषय में मतभेद है। कुछ आचार्यों के मत से सत्रह प्रकार के अन्नों का सम्भरण होना चाहिए क्योंकि प्रजापति सप्तदश हैं। (शत० ब्रा० ५।२।२।३)

इस मत के विरोध में याज्ञवल्क्य का कथन है कि पहले सम्पूर्ण अन्न प्रजापति के आधिपत्य में न रहे। अतः मानव सब अन्नों की प्राप्ति कैसे कर सकता है ? यदि यजमान सप्तदश विध अन्नों का सम्भरण करना चाहे तो किसी एक अन्न को छोड़कर अथवा जितने अन्न उसे विदित हों उनमें एक प्रकार के अन्न को छोड़कर उतने ही अन्नों का सम्भरण करना चाहिए। (शत० ब्रा० ५।२।२।३) अध्वर्यु यजमान के लिए जिस अन्न का सम्भरण न करे उस अन्न का नाम उच्च स्वर से ग्रहण कर कहे कि 'मैंने अमुक अन्न का सम्भरण नहीं किया

है।, साथ ही यजमान जब तक जीवित रहे उस अन्न का भक्षण न करे। इसका फल यह होता है कि यजमान विनाश को न प्राप्त होकर चिरकाल तक जीवित रहता है। अध्वर्यु इन सब अन्नों को एकत्र कर स्रुव से हवन करता है। वह वाजप्रसवनीय सात होम आहुतियों से देवों को सन्तुष्ट करता है। (शत० ब्रा० ५।२।२।४) होमार्थ सात मन्त्र विहित हैं जो अधोलिखित हैं—

१—'वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोम राजानमोषधीष्वप्सु।

ताऽअस्मभ्यं मधुमतीभवंतु वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः स्वाहा।

(शु० य० सं ९।२३, शत० ब्रा० ५।२।२।५)

२—'वाजस्येमाम्प्रसवः शिश्रिये दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सम्राट्।

अदित्सन्तं दापयति प्रजानन्त्स नो रयिं सर्व्ववीरं नियच्छतु स्वाहा।

(शु० य० सं० ९।२४, शत० ब्रा० ५।२।२।६)

३—'वाजस्य नु प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि सर्व्वतः।

सनेमि राजा परियाति विद्वान्प्रजांपुष्टिं वर्द्धयमानोऽस्मे स्वाहा॥

(शु० य० सं० ९।२५ शत० ब्रा० ५।२।२।७)

४—सोमं राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे।

आदित्याविष्णु सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिं स्वाहा॥

(शु० य० सं० ९।२६, शत० ब्रा० ५।२।२।८)

५—'अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।

वाचं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनं स्वाहा॥'

(शु० य० सं० ९।२७, शत० ब्रा० ५।२।२।९)

६—'अग्नेऽअच्छा वदेह नः प्रतिनः सुमना भव।

प्र नो यच्छ सहस्रजित्त्वं धनदा असि स्वाहा॥'

(शु० य० सं० ९।२८) (शत० ब्रा० ५।२।२।१०)

७—'प्र नो यच्छत्वर्यमा प्र पूषा प्रबृहस्पतिः।

प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहा॥'

(शु० य० सं० ९।२९, शत० ब्रा० ५।२।२।११)

अद्रव्य-संख्या विषयक मतभेद

(अग्नि-चयन में उखा-संख्या विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार अग्नि चयन में तीन उखाओं का प्रयोग होना चाहिए क्योंकि ये लोक भी तीन हैं। तीन उखाएँ एक-दूसरे की प्रायश्चित्ति के

लिए अर्थात् परस्पर प्रतीकारार्थ हैं। उन आचार्यों का यह विचार है कि एक उखापात्री के टूट जाने से दूसरी उखा में अभ्याहरण सम्पन्न होगा। इसी प्रकार दूसरी उखा के टूट जाने पर तीसरी उखा से अभ्याहरण सम्पादित होगा।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उनके मत से एक ही उखा प्रयुक्त होनी चाहिए क्योंकि उखा के प्रथमतल का भाग पृथ्वी लोक, अन्दर का भाग अन्तरिक्ष लोक तथा ऊपरी भाग आकाश है; चौथा यजुष् दिशाएं हैं। सब लोक और दिशाएँ ही सब कुछ हैं।

उखा-संख्या-वृद्धिकर अतिरिक्त कार्य किया जाता है। अतिरिक्त किया जाने वाला भाग यजमान के शत्रु को प्राप्त होता है। (शत०ब्रा० ६।५।२।२२) उखापात्री टूट जाने पर उसका प्रायश्चित्त होता है जिसका वर्णन शत० ब्रा० ६।६।४।८ में किया गया है। वहां यह भी निर्देश किया गया है कि यदि उखापात्री टूट जाती है तो उसे कपाल सहित उरुविली में डाल दिया जाता है। इस प्रकार उसे योनि से बाहर नहीं किया जाता है। उखापात्री टूट जाने पर उसमें स्थित अग्नि को चौड़े मुख वाली नयी स्थाली में रख देना चाहिए क्योंकि जो पात्र फूट जाता है वह दुःख का अनुभव करता है। किन्तु अग्नि दुःख रहित हैं। अनार्त (दुःख रहित) पात्र में अनार्त धारण करना चाहिए। फूटी हुई उखा के कपालों को स्थाली के पूर्व भाग को रख देना चाहिए। इस प्रकार यह अग्नि अपने उत्पत्ति स्थान से च्युत नहीं होता है। शत० ब्रा० ६।५।२।२२)

(स्तन-संख्या विषयक मतभेद)

याज्ञिक सम्प्रदाय के अनुसार उखा में ऊपर की ओर रज्जु लगायी जाती है। रज्जु के ऊपरी भाग में बिना मन्त्र के चार स्तन निर्मित किये जाते हैं क्योंकि उखा गाय है। उखा में सम्बद्ध की जाने वाली चार रज्जु दिशाएं हैं। देवों ने इन लोकों को उखा बना कर दिशाओं द्वारा सब ओर से दृढ़ कर दिया। उसी प्रकार यजमान भी करता है। (शत० ब्रा० ६।५।२।१४) रज्जुओं में स्तन-निर्माण का कारण यह है कि देवों ने इन लोकों को गोरूप उखा बनाकर इन स्तनों से सब कामों का दोहन किया। उसी प्रकार यजमान भी करता है। (शत० ब्रा० ६।५।२।१४) चार स्तन बनाने का कारण यह है कि गाय के भी चार ही स्तन होते हैं। (शत० ब्रा० ६।५।२।१८) अन्य आचार्यों के मतानुसार उखा में दो स्तन होने चाहिए। दूसरे याज्ञिकाचार्य आठ स्तनों से युक्त उखा का निर्माण करते हैं। (शत० ब्रा० ६।५।२।१९)

याज्ञवल्क्य इन दोनों मतों का विरोध करते हैं। उनके विचार से गाय के स्तनों से कम या अधिक स्तनधारी पशु अनुपजीवनीय (अभोग्य) होते हैं। दो या आठ स्तनों से युक्त निर्मित की जाने वाली उखा अभोग्य ही होगी। उखा को

आठ स्तनों से युक्त करने पर उसका रूप कुक्कुरी का तथा दो स्तनों से युक्त करने पर भेड़ या घोटिका का रूप दिया जाता है। वे तीनों (कुक्कुरी, भेड़ तथा घोटिका) भोग्य नहीं हैं। अतः यह अनुचित है। (शत० ब्रा० ६।५।२।१९)

च—पात्र विषयक मतभेद

च १—हविर्यज्ञ-पात्र विषयक मतभेद

१—स्रुक्पात्र सम्बन्धी मतभेद

(हवन करने के लिए जुहू या उपभृत् पात्र विषयक मतभेद)

आज्य स्थाली से पहले आज्य उपभृत् में ग्रहण कर उससे स्रुव द्वारा जुहू में लेकर हवन होता है। तैत्तिरीय आचार्य उपभृत् से ही हवन करने के लिए स्वमत प्रस्तुत करते हैं। उनका तर्क यह है कि यदि जुहू से ही हवन करना है तो उपभृत् से आज्य-ग्रहण क्यों किया जाता है? तात्पर्य यह कि उपभृत् से आज्य ग्रहण कर उसी से हवन करना चाहिए। यह उचित नहीं प्रतीत होता कि पहले उपभृत् से आज्य का ग्रहण कर उस आज्य को जुहू में लेकर उससे हवन किया जाय।

याज्ञवल्क्य का मत है कि सर्वप्रथम आज्यस्थाली से उपभृत् में आज्य ग्रहण कर तत्पश्चात् जुहू में लेकर हवन करना चाहिए क्योंकि उपभृत् राजा तथा अन्य स्रुक्पात्र (जुहू, स्रुव तथा होमहवणी) प्रजा हैं। जुहू के स्थान पर उपभृत् से हवन होने पर राजा और प्रजा में कोई सम्बन्ध ही न रहेगा। राजा की प्रजा स्वतन्त्र हो जायगी। उस स्वातन्त्र्य का परिणाम यह होगा कि राज्य में अशान्ति होगी।

अतः अध्वर्यु को पहले उपभृत् से आज्य निकाल कर उपभृत् का आज्य जुहू में ग्रहण कर उससे हवन करना चाहिए। इस प्रकार के अनुष्ठान से राजा-प्रजा का सम्बन्ध बना रहने के कारण कोई दोष उत्पन्न नहीं होगा। जुहू से ही आज्य ग्रहण कर उसी से हवन भी क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य का कथन है कि उपभृत् राजा है, क्षत्रिय है तथा उसके वश में वैश्य हैं। राजा उनकी रक्षा कर उनके गवादि धन की वृद्धि करता है। अतः पहले उपभृत् से आज्य ग्रहण किया जाता है तदनन्तर जुहू में लेकर हवन सम्पन्न होता है। वृद्धिद्योतक होने के कारण उपभृत् और जुहू का उपयोग होता है।

२—संयुक्त पात्र विषयक मतभेद

(अभ्रि के विषय में मतभेद)

अध्वर्यु 'हस्तआधाय सविता बिभ्रदभ्रिं हिरण्ययीम्।

अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्' (शु० य० सं० ११।११)

इस अनुष्टप् छन्द से अग्नि ग्रहण कर इसमें अनुष्टप् छन्द रखता है। इस प्रकार वह वंश (वांस) निर्मित अग्नि उन छन्दों के लिए निर्मित होती है। (शत० ब्रा० ६। ३। १।४१) कुछ आचार्यों के मतानुसार अध्वर्यु द्वारा अभिमन्त्रण में 'हिरण्ययीम्, पढ़ने के कारण अग्नि स्वर्णमयी होनी चाहिए।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं क्योंकि 'हिरण्ययी' 'छन्द के लिए कहा गया। अग्नि भी स्वर्णमयी बतायी गयी। हिरण्य तथा छन्द अमृत हैं इससे छन्दोमयत्व निर्दिष्ट किया गया। अग्नि वस्तुतः स्वर्णनिर्मित नहीं अपितु वंश निर्मित होनी चाहिए। (शत० ब्रा० ६।३।१।४२)

च २—सौमिक पात्र बिषयक मतभेद

१—आज्यधारक पात्र के विषय में मतभेद

(घर्महोमार्थ मृण्मय पात्र महावीर का ही प्रयोग क्यों ?)

घर्महोम के लिए मृत्तिका निर्मित महावीर पात्र प्रयुक्त होता है। 'देवताओं को प्रदान की जाने वाली आहुतियों का हवन काष्ठनिर्मित पात्रों द्वारा होता है, यह घर्माहुति मृत्तिका निर्मित पात्र से क्यों दी जाती है ?' ब्रह्मवादियों द्वारा किये गये इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य एक आख्यायिका प्रस्तुत करते हैं—यज्ञ-सिर छिन्न हो जाने पर उससे रस स्रवित होकर द्युलोक तथा पृथ्वी लोक में प्रविष्ट हो गया। यह मृत्तिका पृथ्वी तथा जल द्युलोक हैं। महावीर पात्र मिट्टी और जल से निर्मित होते हैं। इस प्रकार प्रवर्ग्य (घर्म) रस से समृद्ध किया जाता है। (शत० ब्रा० १४। २। २। ५३)

तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार (तै० सं० २। ५।४) मृत्तिका-निर्मित पात्र से आहुति नहीं दी जानी चाहिए।

याज्ञवल्क्य अन्य पदार्थों से निर्मित पात्रों में दोष निर्देश कर घर्म हविष हवनार्थ महावीर पात्र का निर्देश करते हैं। काष्ठनिर्मित महाबीर पात्र तप्त होने पर जल जायगा, स्वर्ण—निर्मित महाबीर पात्र तप्त होने से विलीन हो जायगा, कांसे आदि से निर्मित महाबीर पात्र तपाने से गल जायगा, पाषाण निर्मित महाबीर पात्र तप्त होने पर दोनों संदंशों (जिनसे महाबीर को पकड़ते हैं) को जला देगा किन्तु मृत्तिकानिर्मित महाबीरपात्र पर तापादि का कोई प्रभाव न पड़ने के कारण अध्वर्यु घर्म हविष् का हवन मृत्तिका निर्मित महाबीर पात्र से ही सम्पन्न करता है। (शत० ब्रा० १४।२।२।५४)

छ—यज्ञ सम्पादक पुरुष विषयक मतभेद

१—प्रधान पुरुष विषयक मतभेद

(दर्शेष्टि में सान्नाय्य प्रदानार्थ यजमान सम्बन्धी मतभेद)

तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार असोमयाजी (जिस यजमान ने सोमयाग नहीं किया है) इन्द्र को सान्नाय्य नहीं दे सकता क्योंकि सोम और सान्नाय्य समान हैं।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध कर स्वमत प्रस्तुत करते हैं कि असोमयाजी भी इन्द्र के लिए सान्नाय्य प्रदान कर सकता हैं। स्वयं इन्द्र का कथन है कि 'सोम से मेरा यजन करो तदनन्तर मुझे यह आप्यायन (सान्नाय्य) प्रदान करना।, ये इन्द्र के द्वारा ही कहे गये वचन हैं। अतः इन्द्र को सान्नाय्य प्रदान करना ही चाहिए। (शत० ब्रा० १।६।४।११)

२—ऋत्विज पुरुष विषयक मतभेद

(आहवनीयागार में आज्य निरीक्षणार्थ व्यक्ति विषयक मतभेद)

गार्हपत्यागार में आज्य गर्म करते समय यजमान-पत्नी आज्य निरीक्षण करती है। आहवनीयागार में किस व्यक्ति को निरीक्षण करना चाहिए इस विषय में मतभेद है। कुछ आचार्यों के मतानुसार यजमान को आहवनीयागार में आज्य निरीक्षण करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य के मत से यह कार्य भी अध्वर्यु का ही होना चाहिए। प्रथम मत के विरोध में उनका कथन है कि यदि यजमान आज्यावेक्षण करता है तो उसे अपने कार्य के साथ स्वयं अध्वर्यु का भी कार्य करना चाहिए। इसे आज्यानुवाक्या का पाठ कर होता का भी कार्य सम्पन्न कर लेना चाहिए। अध्वर्यु के स्थान में फल प्रतिपादक मन्त्रों का पाठ भी उसी को करना चाहिए। उन शाखा वालों को यजमान के प्रति इतनी श्रद्धा क्यों हो गई ? ऋत्विजों को दक्षिणा रूप में उनका पारिश्रमिक प्रदान कर दिया जाता है। उनकी फल प्रार्थना यजमान के लिए ही होगी। अतः अध्वर्यु को ही आहवनीयागार में आज्यावेक्षण करना चाहिए। (क्योंकि वह कार्य अध्वर्यु का ही है) (शत० ब्रा० १।३।१।२६)

(धृति होम के समय वीणा पर गाथा गान करने वाले व्यक्तियों के विषय में मतभेद)

एक मत के अनुसार अश्वमेधयाजी (अश्वमेधयाग सम्पादक) समृद्धि तथा जनपदहीन हो जाता है। उसे समृद्ध करने के लिए वीणावादन किया जाता है। वीणावादन में निपुण दो ब्राह्मण नित्य-गान करते हैं। वीणा श्री रूप है। इस प्रकार वे (गायक) यजमान में श्री (समृद्धि) स्थापित करते है। (शत० ब्रा० १३। १। ५। १)

इस मत की निन्दा करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि दोनों गायकों के ब्राह्मण होने पर यजमान के समीप क्षत्र नहीं रहेगा क्योंकि ब्राह्मण ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म में क्षत्र स्थित नहीं रहता। (शत० ब्रा० १३। १। ५।२) द्वितीय मत के अनुसार बीणा पर गाथा-गान के लिए दो राजन्य (क्षत्रिय) होने चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस मत की भी निन्दा करते हैं। इनके विचार से दोनों गायकों के राजन्य होने पर अश्वमेधयाजी के समीप ब्रह्मवर्चस् (आध्यात्मिक तेज) नहीं रहेगा क्योंकि राजन्य क्षत्र स्वरूप क्षत्र में ब्रह्म वर्चस् स्थित नहीं रह सकता याज्ञवल्क्य के मतानुसार दोनों गायकों में से एक ब्राह्मण तथा दूसरा राजन्य होना चाहिए। ब्राह्मण ब्रह्म तथा राजन्य क्षत्र है। इस प्रकार ब्रह्म तथा क्षत्र द्वारा दोनों ओर से यजमान की श्री सुरक्षित होती है। (शत० ब्रा० १३।१।५।२)

गाथा-गान समय के निर्धारण में याज्ञवल्क्य दोनों गायकों के द्वारा दिन में गान से यजमान की श्री-हीन होने तथा रात्रि में गान से ब्रह्मन्वर्चस् सहित होने के भय से ब्राह्मण को दिन में तथा राजन्य को रात में गान करने का विधान करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म तथा क्षत्र द्वारा दोनों ओर से श्री सुरक्षित होती है। (शत० ब्रा० १३। १। ५।५)

बीणा वादन के समय ब्राह्मण तथा राजन्य के द्वारा गाथा-गान का निर्देश करते हैं। ब्राह्मण को अयजत (इस यजमान ने अधिकाधिक यजन किया) 'अददात्' (अधिकाधिक दान किया) आदि का गान करना चाहिए क्योंकि इष्ट और पूर्त का सम्बन्ध ब्राह्मण से ही होने के कारण यह उचित है। इष्ट तथा पूर्त से यजमान समृद्ध किया जाता है। क्षत्रिय को 'अमुमयुध्यत' अमुं 'संग्राममजयत्' आदि का गान करना चाहिए। युद्ध राजन्य का वीर्य है। इस प्रकार वीर्य से यजमान को समृद्ध किया जाता है। तीन गाथाओं का गान ब्राह्मण और तीन का गान क्षत्रिय करता है। इस प्रकार छः गाथाएं हुईं। वर्ष में छः ऋतुएं होती हैं। अतः यजमान ऋतुओं तथा संवत्सर में प्रतिष्ठित होता है। (शत० ब्रा० २३।१।५।६)

ज—नियम विषयक मतभेद

(दीक्षा—नियम सम्बन्धी मतभेद)

याज्ञवल्क्य-सम्प्रदाय के अनुसार प्राचीन बंश (शाला) के उत्तर स्थित

नापित द्वारा यजमान के केश तथा श्मश्रु का वपन तथा नख कर्तन किया जाता है। केश, श्मश्रु तथा नखों में जल-प्रवेश न होने के कारण वह भाग अशुद्ध रहता है। केश-श्मश्रु-वपन तथा नखकर्तन के अनन्तर यजमान शुद्ध होकर दीक्षा ले सकता है। (शत० ब्रा० ३।१।२।२) अन्य आचार्यों के मतानुसार यजमान के सम्पूर्ण शरीर के बालों का वपन तथा नख-कर्तन होना चाहिए। इस प्रकार यजमान शुद्ध होकर दीक्षा योग्य होता है। याज्ञवल्क्य इस मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि केश-श्मश्रु के वपन तथा नख-कर्तन से ही यजमान शुद्ध हो जाता है। अतः सम्पूर्ण शरीर के बाल बनवाने की कोई आवश्यकता नहीं है। (शत० ब्रा० ३। १। २। ३)

(पशु इष्टि सम्पादनानन्तर यजमानार्थ नियम सम्बन्धी मतभेद)

कुछ आचार्यों का मत है कि पशु कर्म के अनन्तर यजमान को पर्यङ्क पर शयन, मांस-भक्षण तथा मैथुन कर्म न करना चाहिए क्योंकि पशुयाग पूर्व दीक्षा है।

याज्ञवल्क्य का मत है कि यह दीक्षा नहीं है क्योंकि यहाँ न तो मेखला का प्रयोग और न तो कृष्णाजिन (कृष्ण मृग-चर्म) का ही प्रयोग है। वह केवल इष्टका याग करता है। अतः यजमान चाहे तो पर्यङ्क पर शयन कर सकता है। जो कुछ प्राप्त तथा अधिकृत (अधिकार में है) मधु के अतिरिक्त सब प्रकार के भोजन कर सकता है। आमिक्षा याग पर्यन्त मैथुन कर्म नहीं करना चाहिए। (शत० ब्रा० ६। २। २। ३९)

(प्रवर्ग्य यज्ञ में यजमाननियम सम्बन्धी मतभेद)

कुछ याज्ञिकाचार्यों के मतानुसार प्रवर्ग्य मधु होने के कारण आयु है तथा व्रत के आचरण से उसकी रक्षा करनी चाहिए। जो मनुष्य इस प्रवर्ग्य काल में अनुवचन अथवा हुत शेष-भक्षण करता है, वह दृष्टिगत सूर्य के तेज में प्रवेश करता है क्योंकि वह (जो प्रकाशित है) प्रवर्ग्य है। इस अवसर पर यजमान के लिए अधोलिखित नियम विहित हैं— प्रथम नियम के अनुसार प्रवर्ग्य कर्म में वर्तमान शरीर का आच्छादन न करना चाहिए। (सूर्य जब तक प्रकाशित रहे शरीर को वस्त्र या आभूषण आच्छादित न करना चाहिए)। द्वितीय नियम यह है कि सूर्य के प्रकाशित रहने पर निष्ठीवन नहीं करना चाहिए। इस प्रकार सूर्यात्मक प्रवर्ग्य पर निष्ठीवन (थूकना) नहीं किया जाता। तृतीय नियम के अनुसार सूर्य के तपते रहने पर मूत्र विसर्जनादि कर्म नहीं करना चाहिए। इस नियम के पालन से सूर्य पर मूत्र विसर्जन नहीं किया जाता।

इन नियमों के पालन का कारण यह है कि जब तक सूर्य चमकता है अथवा उदयाचल और अस्ताचल के बीच में जहां तक इसका प्रकाश रहता है उन स्थान में तथा उस काल में प्रवर्ग्य का अनुष्ठान होता है। उस प्रदेश में यदि आच्छादनादि कार्य सम्पादित होते हैं तो इस यज्ञ की हिंसा की जाती है। इस अभिप्राय से आच्छादन निष्ठीवनादि का कर्म न किये जाने चाहिए। चतुर्थ नियम के अनुसार काष्ठादि से अग्नि प्रज्ज्वलित कर रात्रि में भोजन करना चाहिए।

आचार्य आसुरि (जिनके मत से याज्ञवल्क्य भी सहमत प्रतीत होते हैं) के मतानुसार देवों ने पहले सत्रयाग के समय सत्य भाषण रूप एक ही व्रत का अनुष्ठान किया था। अतः सत्य भाषण नियम का पालन अवश्य होना चाहिए। (शत० ब्रा० १४। १। १। ३८) उपर्युक्त कठिन नियमों का अनुष्ठान यथाशक्य करना चाहिए।

(सावित्री अनुवचन के पूर्व आचार्य के नियम सम्बन्धी मतभेद)

अभिज्ञों के मत से आचार्य को उपनयन संस्कार सम्पन्न कर मैथुन कर्म न करना चाहिए क्योंकि यह उपनीत (जिसका उपनयन संस्कार हो चुका है) ब्राह्मण गर्भ होता है। इस गर्भीभूत ब्राह्मण को विगलित रेत से नहीं उत्पन्न करना चाहिए। (शत० ब्रा० ११। ५। ४। १६)

अन्य आचार्यों के मतानुसार (जिनसे याज्ञवल्क्य भी सहमत हैं) आचार्य स्वेच्छानुसार मैथुन कर्म कर सकता है। इसमें उपर्युक्त दोष नहीं है। दैवी और मानुषी दो प्रजाएं हैं। मानुषी प्रजाएं मिथुन द्वारा प्रजनन से उत्पन्न होती हैं। गायत्री, अनुष्टुप् आदि छन्द दैवी प्रजा हैं। आचार्य उन्हें मुख, तालु, ओष्ठ व्यापार विशेष से उत्पन्न करता है। मुख से उत्पन्न होने के कारण गायत्री छन्द के समीप से ही इस ब्रह्मचारी को वह पिता (आचार्य) उत्पन्न करता है। अतः ब्रह्मचारी की उत्पत्ति प्रजनन से न होने के कारण आचार्य का मिथुन विरोध नहीं करता फलतः आचार्य उच्चलितरेता होने पर मैथुन कर्म कर सकता है, सर्वथा निषेध नहीं है। [शत० ब्रा० ११। ५। ४। १७]

ङ—अशनानशन विषयक मतभेद

१—व्रत एवं संस्कार सम्बन्धी अशनानशन विषयक मतभेद

(दर्श पौर्णमास याग में उपवसथ (यज्ञ के पूर्व दिन) सम्बन्धी अशनानशन विषयक मतभेद)

यज्ञ के पूर्व सायंकाल व्रतग्रहण तथा अग्निहोत्र होम के अनन्तर यजमान

द्वारा अशन या अनशन के विषय में मतभेद है। आषाढ सावयस के मत से यजमान को उपवसथ के दिन किसी भी वस्तु का अशन न करना चाहिए क्योंकि देवता मानव-मन को जानते हैं। यजमान को यज्ञानुष्ठान के लिए इच्छुक जानकर देवता व्रत के दिन यजमान के घर आगमन करते हैं। (शत० ब्रा० १। १। १। ७)

याज्ञवल्क्य इस मत का खण्डन करते हैं—यजमान के भोजन न करने पर पितृ देवत्य कर्म (श्राद्ध) होता है। फलतः यज्ञ का कोई फल नहीं होगा। भोजन न करने पर देवों का तिरस्कार होता है। अतः यजमान ऐसी वस्तु को भोज्य बनावे जो अनशन के समान हो तथा जिसका प्रयोग हविर्निर्माण में भी न हो। इस प्रकार यजमान भोजन करने पर पितृदेवत्य कर्म से निवृत्त हो जायगा तथा देवतार्थ प्रयुक्त हविर्भक्षण न करने से देवों का तिरस्कार भी न होगा। अतः किसी आरण्य (अरण्य सम्बन्धी) वस्तु को भोज्य बनाना चाहिए। (शत० ब्रा० १।१।१।६)

आचार्य वर्कु वार्ष्ण के मतानुसार हविष् में प्रयोग न होने के कारण माष का अशन करना चाहिए।

इस मत के विरोध में याज्ञवल्क्य का कथन है कि माष (उड़द) उपचय करता है अर्थात् व्रीहि, यवादि की न्यूनता होने पर हविष् में माषपिष्ट का मिश्रण किया जाता है जो हविर्भाग ही हुआ। अतः माषाशन न करना चाहिए। (शत० ब्रा० १। १। १। १०)

शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में दर्शपौर्णमास सम्बन्धी अशनानशन के विषय में मतभेद प्रस्तुत कर ग्यारहवें काण्ड में पुनः मीमांसा की जा रही है—कुछ आचार्यों के मत से यजमान द्वारा पर्व की रात्रि में अनशन करने से पितृदेवत्य कर्म होता है। इस दोष के परिहारार्थ अशन करने पर आये हुए देवताओं का अतिक्रमण कर अशन किया जाता है। इस दोष के निवारणार्थ आरण्य ओषधि (फल, श्यामाक आदि) को भोज्य बनाना चाहिए। (शत० ब्रा० ११। १। ७। १)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत को अनौचित्यपूर्ण बताते हैं क्योंकि ग्राम्य ओषधियों को भोज्य बनाने पर पुरोडाश के मेध का, आरण्य औषधियों को भोज्य बनाने पर बर्हिमेध (कुशमेध) का, वानस्पत्य वस्तु को भोज्य बनाने पर इध्मादि के मेध का, दुग्धपान करने पर सान्नाय्य और आज्य के मेध का, जलपान करने पर प्रणीताओं के मेध का भक्षण होता है। अनशन करने पर पितृदेवत्य होता है। [शत० ब्रा० ११। १। ७। २] इस विषय में याज्ञवल्क्य का मत

है कि यजमान को पौर्णमास तथा दर्श की रात्रियों में अग्निहोत्र-होम करना चाहिए। हवनोपरान्त अशन करने पर पितृदेवत्य कर्म नहीं होता क्योंकि वह एक आहुति है। भोजन कर यजमान आहुति ही प्रदान करता है। वह अपने से ही आहुति हवन करता है। आत्मरूप वैश्वानर [अग्नि] में अशन रूप आहुति का हवन होता है। इस प्रकार यजमान पूर्व कथित पुरोडाशादि के यज्ञीय सार [मेध] का भक्षण नहीं करता है। [शत० ब्रा० ११।१।७।३]

(मध्वशन विषयक मतभेद)

कुछ याज्ञिकाचार्यों के मतानुसार ब्रह्मचारी को मधु का अशन न करना चाहिए क्योंकि मधु ओषधियों का परमोत्कृष्ट रस है। इसके भक्षण से सब ओषधियों के रस का उपयोग हो जाता है। खाद्य वस्तुओं के अवसान की अप्राप्ति के लिए मध्वशन-वर्जन करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य श्वेतकेतु आरुणेय (आरुणि के पुत्र) का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब वे ब्रह्मचर्याश्रम में थे मध्वशन करते थे। उनके मत से यह मधु वेदत्रय रूप वाली विद्या का शिष्ट है। इससे अवगत होकर जो मधु का अशन करता है वह ऋचाओं, यजुषों, सामवेद के मन्त्रों का अभिव्याहार करता है। अतः ब्रह्मचारी को स्वेच्छानुसार मध्वशन करना चाहिए। (शत० ब्रा० ११।५।४।१८)

२—अन्यप्रकार के अशनानशन

(पिण्डपितृयज्ञ में इडा और प्राशित्र-प्राशन विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार मंथ से भी इडा और प्राशित्र का अवदान किया जाता है और इडा के लिए ऋत्विज तथा यजमान का आह्वान होता है। वह इसका घ्राण करते हैं।

आचार्य आसुरि के मत को प्रस्तुत करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि प्राशन अवश्य करना चाहिए क्योंकि जिस किसी यज्ञीय वस्तु का अग्नि में हवन होता है उसका अल्पांश भक्षण अवश्य करना चाहिए। (शत० ब्रा० २।६।१।३३)

(दुग्ध-प्राशन विषयक मतभेद)

पितृयज्ञ में बर्हिहोम तथा परिधि-होम के समय शेष हविष् दूध का हवन कर दिया जाय या जल में प्रक्षेप कर दिया जाय अथवा उसका प्राशन किया जाय? इस विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि बर्हिहोम और परिधि-होम के समय होमशिष्ट दूध का भी हवन कर देना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस मत का विरोध करते हैं। उनके मतानुसार शेष दूध का अग्नि में प्रक्षेपण नहीं करना चाहिए। ऋत्विज उसका जल में प्रक्षेपण करें या प्राशन क्योंकि हवन की जाने वाली यज्ञिय वस्तु के अल्पांश का प्राशन तो करना ही चाहिए। (शत० ब्रा० २।६।१।४८)

ञ—गमनागमन विषयक मतभेद

(अध्वर्यु द्वारा वेदी के समीप गमन में मतभेद)

बेदी के समीप गमन के विषय में दो मत हैं—प्रथम मत के अनुसार अध्वर्यु 'श्रौषट्' के लिए वेदी के समीप जाता है। उस समय वह अपने स्थान से सर्वप्रथम दाहिना पैर उठाकर आगे रखता है। पुन: वाम पाद रखकर 'श्रौषट्' के लिए अग्नीध्र का आह्वान करता है। द्वितीय मत के अनुसार अध्वर्यु सर्वप्रथम वाम पाद उठाकर आगे रखता है। पुन: दक्षिण पाद प्रतिष्ठित कर श्रौषट् के लिए अग्नीध्र का आह्वान करता है।

याज्ञवल्क्य यजमान के लिए प्रथम मत को अनुपयुक्त बताते हैं। उनके विचार से प्रथम मत के अनुसार अनुष्ठान करने वाला अध्वर्यु निश्चय ही वज्र द्वारा यजमान के लिए पशु एकत्र करता है। (शत० ब्रा० ११।४ २।३)

(पत्नीसंयाजार्थं गार्हपत्य को आते समय अध्वर्यु के आगमन प्रकार विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार अध्वर्यु को आहवनीय के पूर्व से होकर गार्हपत्य में आगमन करना चाहिए। इस मत का खण्डन करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यदि अध्वर्यु आहवनीय के पूर्व से आगमन करता है तो आहवनीय के पूर्व अन्य साधन न होने के कारण वह शरीर यज्ञ से यज्ञांग (अध्वर्यु) को यज्ञ-विमुख करता है। (शत० ब्रा० १।९।२।२)

अन्य आचार्यों के मतानुसार अध्वर्यु को यजमान पत्नी के पश्चिम की ओर से होकर आगमन करना चाहिए। याज्ञबल्क्य इस मत का भी निषेध करते हैं। उनका तर्क यह है कि अध्वर्यु यज्ञ का पूर्वार्द्ध तथा यजमान पत्नी जघनार्द्ध है। अत: अध्वर्यु का उपर्युक्त मार्ग से होकर गमन करना अपने सिर को भसत्त पर रखने की भांति होगा जिसका फल यह होगा कि वह यज्ञ से बाहर होगा। (शत० ब्रा० १।९।२।३)

अन्य आचार्यों के मत से अध्वर्यु को गार्हपत्य और पत्नी के बीच से होकर आगमन करना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस मत का भी निरसन करते हैं कि यदि वह इस मार्ग से संचरण करता है तो यजमान-पत्नी को यज्ञ-बिमुख कर देगा।

याज्ञवल्क्य स्वमत प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार अध्वर्यु गार्हपत्य के पूर्व तथा आहवनीय के पश्चिम अर्थात् आहवनीय और गार्हपत्य के बीच (सीधे मार्ग से संचरण करे। इस प्रकार वह (अध्वर्यु) यज्ञ से बाहर नहीं होता। (शत० ब्रा० १।६।२।४) आहवनीय को गमन करते समय भी उसने इसी (आहवनीय और गार्हपत्य के अन्तराल) मार्ग का अनुसरण किया था। अतः अब भी उसे निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना चाहिए।

ट–होम विषयक मतभेद

(उखा में औद्ग्रभण होम-सम्पादन सम्बन्धी मतभेद)

कतिपय याज्ञिकाचार्य औद्ग्रभण आहुतियों को तप्त उखा में ही हवन करते हैं। उनके मत से ये आहुतियां काम्य वस्तुओं के लिए की जाती हैं। उखा यजमान की आत्मा है। इस प्रकार यजमान के लिए उसकी सब वस्तुएं प्रतिष्ठित होती हैं।

याज्ञबल्क्य इस मत का विरोध करते हैं, उनके विचार से उखा में प्रदीप्त अग्नि सम्पूर्ण हुए यज्ञ का तथा उन आहुतियों का सार है। यज्ञ-सम्पादन तथा औद्ग्रभण आहुति–होम सम्पन्न होने पर यज्ञ उखा पर आरोहण करता है। अध्वर्यु अग्नि पर उखासादन करता है। उखा यज्ञ को धारण करती है। अतः दीक्षणीय यज्ञ के पूर्ण हो जाने पर तथा औद्ग्रभण आहुति हवन होने पर उखा अग्नि पर आसादित की जानी चाहिए। तात्पर्य यह कि औद्ग्रभण आहुतियों का हवन-कर्म उखा में न सम्पन्न किया जाना चाहिए। (शत० ब्रा० ६।६।१।२२)

(संतति होम में अतिरिक्त आहुति-हवन विषयक मतभेद)

संतति होम में पांच आहुतियों का विधान है जो अधोलिखित हैं :—

> 'स्वर्णघर्मः स्वाहा', स्वर्णार्कः स्वाहा', 'स्वर्ण शुक्रः स्वाहा',
> 'स्वर्णज्योतिः स्वाहा', स्वर्णसूर्य स्वाहा' (शु०य०सं० १८।५०)

इन पांच आहुतियों के अतिरिक्त अन्य शाखा में अग्निचयन सम्बन्धी किसी ब्राह्मण में यदि किसी आहुति का विधान है तो जिस आहुति को शेष समझा जाय उसे इस समय हवन कर देना चाहिए। काम प्राप्ति के लिए ही रथ (अग्नि) योजन होता है। इस अवसर पर जिस आहुति का हवन होता है वह प्राप्त होती है। इसके पूर्व अग्नि संस्कार न होने के कारण हवन किये जाने पर आहुति अनाप्त ही थी। [शत०ब्रा०६।४।२।२७]

अन्य आचार्य अतिरिक्त आहुति—हवन के पक्ष में नहीं हैं। उनका मत है कि अतिरिक्त कार्य नहीं करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इन आचार्यों के मत का निषेध करते हुए कहते हैं कि उन अतिरिक्त शाखान्तर ब्राह्मणोक्त आहुतियों का हवन करना चाहिए क्योंकि विशेष कामप्राप्ति के लिए ही इन आहुतियों का हवन होता है। कामों के सम्बन्ध में कुछ भी अधिक नहीं होता। (शत०ब्रा० ९।४।२।२८)

(दीर्घसत्री के प्रवासकाल में मृत्यु प्राप्त होने पर उसके अग्निहोत्र होम सम्पादन के विषय में मतभेद)

कतिपय याज्ञिकों के मत से मृत व्यक्ति के परिवार द्वारा मृत शरीर को गृहानयन करने के समय तक अग्निहोत्र होम का सम्पादन होना चाहिए।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध कर कहते हैं कि आहवनीय अग्नि मृत व्यक्ति के लिए अग्निहोत्र होमार्थ नहीं है। इस प्रसंग में जो द्रव्य हवन रूप में आहुत होगा वह अग्नि में शव दाह-कर्म के समान होगा। आहवनीय का उपयोग आहुति-होम के लिए है, शवदाह के लिए नहीं। इस अनुष्ठान से आहवनीयाग्नि प्रेत को पीड़ित करेगी। (शत० ब्रा० १२।५।१।१)

अन्य आचार्यों के विचार से अग्नि को उसी दशा में रहने देना चाहिए अन्य आहुतियों को प्रदान न कर केवल प्रज्ज्वलित किये रहना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस मत का भी निषेध करते हैं कि इस समय अग्नि में ईंधन प्रक्षेपण शव-दाह कर्म के सदृश ही होगा। आहवनीयाग्नि शवदाहार्थ नहीं अपितु हवनार्थ है। इस अनुष्ठान से अक्षमाशील आहवनीयाग्नि यजमान के लिए दुःख उत्पन्न करेगी। शत० ब्रा० १२।५।१।२)

कुछ आचार्यों के मतानुसार मृतक को उसके गृह ले जाने पर आहवनीय तथा गार्हपत्य दोनों अग्नियों का अरणियों पर आधान कर नवाग्नि-मन्थन करना चाहिए। याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का खण्डन करते हैं। आहवनीय इस कार्य के लिए नहीं है। अग्निमन्थन शवदाह के सदृश ही होगा। आहवनीय आहुति-हवनार्थ है। इस प्रकार अक्षमाशील अग्नि प्रेत के लिए दुःख का कारण बनेगी। (शत० ब्रा० १२।५।१।३)

याज्ञवल्क्य स्वमत प्रस्तुत करते हैं कि वत्स (बछड़ा) रहित गाय जिसका दोहन अन्य वत्स द्वारा सम्पादित होता है, के दूध से हवन करना चाहिए। उस

गाय का दूध तथा मृताग्निहोत्र दोनों दूषित हैं इस प्रकार दूषित से दूषित का निराकरण कर श्री प्राप्त होती है। इसी से सम्बन्धित एक उपमा है—यदि दो टूटे हुए रथों को एक कर दिया जाय तो वह वहनार्थ समर्थ होगा। वह उचित कार्य कर सकता है। तथा यजमान का वहन कार्य भी। (शत० ब्रा० १२।५।१।५)

(प्रथम चिति में इष्टकोपधान विषयक मतभेद)

प्रथम चिति की प्रत्येक दिशा में दस प्राणभृत् इष्टकाओं का उपधान किया जाता है। पांच बार पचास इष्टकाएं उपहित होती हैं। पांच यज्ञीय पशु होते हैं और प्रत्येक पशु में दस प्राण होते हैं। इस प्रकार पचास संख्या पूर्ण होती है।

शुक्लयजुर्वेदीय आचार्य पचास प्राणभृत इष्टकाओं का उपधान करते हैं। पूर्व भाग में उपहित होने वाली इष्टकाएं प्राणभृत् हैं। पश्चिम में उपधान की जाने वाली इष्टकाएं चक्षुभृत् हैं। इन्हें ही अपानभृत् कहते हैं। दक्षिण की ओर उपहित होने वाली इष्टकाएं मनोभृत् तथा वे ही व्यानभृत् हैं। उत्तर की ओर उपहित होने वाली इष्टकाएं श्रोत्रभृत् तथा वे ही उदानभृत् हैं। मध्य में उपहित की जाने वाली इष्टकाएं वाग्भृत् और वे ही समानभृत् हैं। (शत० ब्रा० ८।१।३।६)

चरकाचार्यों के मत से अपानभृत्, व्यानभृत्, उदानभृत्, समानभृत्, चक्षुर्भृत् श्रोत्रभृत् तथा वाग्भृत् इस प्रकार क्रमशः इष्टकोपधान करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य चरकाचार्यों के मत का निरसन करते हैं कि इस कार्य से आधिक्य प्रतीत होता है। वे अपने पूर्व मत के अनुसार ही उपधान के लिए आदेश देते हैं। कारण यह प्रस्तुत करते हैं कि उस प्रकार अग्निवेदी में सब रूपों का उपधान हो जाता है। (शत० ब्रा० ८।१।३।७)

ब—क्रम विषयक मतभेद

(प्रवर्ग्य कर्म में आप्यायन, अवान्तरदीक्षा, तानूनप्त्र का अथवा तानूनप्त्र अवान्तरदीक्षा, आप्यायन का क्रम होना चाहिए ?)

ऋत्विज और यजमान मदन्ती जल का स्पर्श कर आज्य संलग्न हस्त का प्रक्षालन कर सोम को तीव्र करते है (जिसे आप्यायन कहते हैं) मदन्ती जल स्पर्श कर सोम को तीव्र करने का कारण यह है कि आज्य वज्र है। सोम वीर्य है। मदन्ती जल का स्पर्श करने के पश्चात् सोम का आप्यायन करने से वीर्य नष्ट नहीं किया जाता है। (शत० ब्रा० ३।४।३।११) ब्रह्मवादियों

के मत से जिस सोम के लिए यह आतिथ्य किया जाता है उसका सर्वप्रथम आप्यायन तत्पश्चात् अवान्तरदीक्षा एवं तानूनप्त्र से सत्कार करना चाहिए ।

याज्ञवल्क्य ब्रह्मवादियों के मत का निराकरण करते हैं कि यह याज्ञिक कर्म है । उनमें पहले कलह हुआ था । अत: उन्होंने सर्वप्रथम उस कलह का शमन किया, यज्ञ की समाप्ति तक कलह न करने की प्रतिज्ञा की । अत: तानूनप्त्र, अवान्तरदीक्षा, आप्यायन क्रमश: सम्पन्न होते हैं । (शत० ब्रा० ३।४।३।१२) आप्यायन करने का कारण यह है कि सोम देव हैं । द्युलोक उनका निवासस्थान है । सोम वृत्र थे । त्वष्टा जब इन्द्र को अलग कर (विश्वरूप का वध करने के कारण) सोम हवन करने जा रहा था, इन्द्र ने सोमपान कर लिया । अवशिष्ट सोम को ही उसने आहुतिद्रव्य बनाया जिससे एक विशालकाय वृत्र उत्पन्न हुआ । इसीलिए सोम का वृत्रत्व बताया गया । पर्वत और चट्टानें उसके शरीर हैं । उन पर एक वनस्पति उगती है जिसे (उशाना, कहीं-कहीं जिसे दुघाना भी) कहते हैं । यह कथन श्वेतकेतु और औद्दालकि का है । ऋत्विज यहां से इस वनस्पति का आहरण करते हैं और उसका अभिषवण करते हैं । पुन: दीक्षा और उपसद् तथा तानूनप्त्र एवं आप्यायन से वे सोम निर्मित करते हैं । (शत० ब्रा० ३।४।३,१३)

(ग्रह-ग्रहण-क्रम विषयक मतभेद)

याज्ञवल्क्य के मतानुसार सर्वप्रथम शुक्र और मन्थी ग्रहों को ग्रहण किया जाता है क्योंकि यह माध्यन्दिन सवन शुक्रवान् है । इसके पश्चात् आग्रयणग्रह-ग्रहण होता है क्योंकि यह सब सवनों में ग्रहण किया जाता है । आग्रयण के पश्चात् मरुत्वतीय का और उसके बाद उक्थ्य ग्रह ग्रहण किया जाता है क्योंकि इस माध्यन्दिन सवन में भी उक्थ्य स्तोत्र होते हैं । (शत० ब्रा० ४।३।३।२) अन्य आचार्य ग्रह-ग्रहण के इस क्रम को अस्वीकार करते हैं । उनके मतानुसार शुक्र, मन्थी, आग्रयण ग्रहों के ग्रहणानन्तर उक्थ्य का तत्पश्चात् मरुत्वतीय का ग्रहण होना चाहिए । उनका तात्पर्य यह है कि प्रात:सवन में आग्रयण के बाद उक्थ्य का ग्रहण हुआ था । उसी प्रकार यहां भी होगा ।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निराकरण करते हैं कि प्रात: सवन के ग्रह-ग्रहण काल में उस प्रकार के क्रम को स्वीकार कर लेने पर भी माध्यन्दिन सवन में पहले मरुत्वतीय ग्रह का तत्पश्चात् उक्थ्य ग्रह का होम होता है । इसीलिए होमानुसार मरुत्वतीय का पूर्व ग्रहण भी होना चाहिए । [शत० ब्रा० ४।३।३।३)

(धिष्ण्य-क्रम विषयक मतभेद)

शलाकाओं से क्रमशः धिष्ण्यों पर आज्य गिराते समय अन्त में किस धिष्ण्य पर आज्य गिराना चाहिए ? इस विषय में मतभेद है । याज्ञिक परम्परा के अनुसार अध्वर्यु प्रचरणी में स्रुक् से चार बार आज्य ग्रहण कर शलाकाओं द्वारा धिष्ण्यों पर गिराता है । शलाकाओं से धिष्ण्यों पर घृत प्रक्षेपण का कारण यह है कि पहले देवताओं ने गन्धर्वो से यह कहा था कि तृतीय सवन में तुम्हें एक आज्याहुति दी जायगी किन्तु सोम की नहीं इसका कारण यह है कि तुम लोगों के समीप से सोमाहरण किया गया था । इस प्रकार घृताहुति उनके अंश में पड़ी । अतः अध्वर्यु शलाकाओं द्वारा धिष्ण्यों पर घृत छोड़ता है । आसादन क्रम के अनुसार उन्हीं मन्त्रों (शु०य० सं० ५।३१,३२) से एक के बाद दूसरे पर घृत स्रवण करता है । अन्त में मार्जालीय धिष्ण्य का स्थान होता है । (शत० ब्रा० ४।४।२।७)

कुछ आचार्य मार्जालीय धिष्ण्य पर घृत प्रस्रवणानन्तर पुनः एक बार आग्नीध्रीय धिष्ण्य पर घृत स्रवण के लिए मत प्रस्तुत करते हैं । याज्ञवल्क्य इस मत का निरसन कर मार्जालीय को ही अन्तिम धिष्ण्य बताते हैं । [शत० ब्रा० ४।४।२।८]

ढ—उपस्थान विषयक मतभेद

(सायंकालिक अग्न्युपस्थान (अग्नियों के समीप गमन) विषयक मतभेद)

याज्ञवल्क्य के मतानुसार अग्न्युपस्थान सायंकाल भी करना चाहिए । दोनों अग्नियां दाता हैं, उन्हीं से यजमान याचना करता है । अतः सायंकाल अग्नि के समीप गमन कर सम्मान देना चाहिए क्योंकि सायंकाल ही देवता अग्नि के समीप गये थे । उपस्थान से पशु प्राप्त होते हैं । [शत० ब्रा० २।३।४।३]

कुछ याज्ञिकों के विचार से सायंकालिक अग्नि-उपस्थान नहीं करना चाहिए क्योंकि पहले देवता और मनुष्य एक साथ निवास करते थे । किसी वस्तु के अभाव में वे देवताओं से याचना करते थे । फलतः याचना के कारण देवता तिरोहित हो गए । अतः अग्नि भी अपने प्रति यजमान के अपराध तथा उसके प्रति घृणा से बचने के लिए उपस्थान द्वारा याचित होने पर तिरोहित हो जाते हैं ।

याज्ञवल्क्य के मत से उपस्थान करना चाहिए क्योंकि यज्ञ यजमान के प्रति देवताओं का आशीः [फल प्रार्थना रूप] है और अग्निहोत्राहुति निःसंदेह यज्ञ सदृश है । अध्वर्युकृत् उपस्थान यजमान के प्रति आशीः ही है । [शत० ब्रा० २।३।४।४]

पूर्वपक्षी आचार्यों के विचार से ब्राह्मण तथा क्षत्रिय स्तुति एवं परिचर्या करने वाले व्यक्ति का अभीष्ट पूर्ण करते हैं। निष्ठुर वचन बोलने वाला व्यक्ति विद्वेष करता है। समन्त्रक होम से अग्नि का आराधन ही करना चाहिए। उपस्थान निष्ठुर भाषण के समान अपराध का कारण है। फलत: उपस्थान करना अनुचित है। [शत० ब्रा० २।३।४।६]

याज्ञवल्क्य उपस्थान के पक्ष में कहते हैं कि जो व्यक्ति याचना से दाता के समीप गमन करता है वह एकाकी है। उसका स्वामी अपने भृत्य के विषय में अनभिज्ञ है। भृत्य द्वारा 'मैं तुम्हारा भार्य (तुम्हारे द्वारा भरण किया जाने वाला) हूं, मेरा भरण करो।' कहने पर स्वामी उसके भरण पोषण के लिए स्वयं चिन्तित होता है। अत: अग्नि-उपस्थान करना सर्वथा उचित है। (शत० ब्रा० २।३।४।७)

त—प्रायश्चित्ति-विधान विषयक मतभेद

(अन्य व्यक्ति के लिए यज्ञानुष्ठान सम्पादनोपरान्त प्रायश्चित्ति-विधान विषयक मतभेद)

वस्तुत: तीन समुद्र हैं—एक है अग्नि यजुषों का, दूसरा है महाव्रत साम का और तीसरा है महदुक्थ ऋचाओं का। जो व्यक्ति इन तीन कर्मों को दूसरे व्यक्ति के लिए सम्पन्न करता है वह अपने लिए इन समुद्रों को शुष्क कर देता है। उनके शुष्क होने पर छन्द शुष्क हो जाते हैं। छन्दों के पश्चात् लोक लोकान्तर आत्मा और आत्मा के पश्चात् उसकी सन्तान तथा उसके पशु शुष्क हो जाते हैं। जो इन कर्मों को अन्य व्यक्ति से लिए करता है वह दिनोदिन पापी [निर्धन] होता है। शत० ब्रा० ९।५।२।१२] जो इन यज्ञों और क्रतुओं में सहायक ऋत्विज का कार्य करता है उसके लिए इन समुद्रों से छन्द पुन: उसी रूप में हो जाते हैं। वे पूर्ण हो जाते हैं, छन्दों के पश्चात् उसकी सन्तान और पशु प्राप्त होते हैं। ऐसा व्यक्ति दिनोदिन श्रेय प्राप्त करता है क्योंकि ये कर्म वस्तुत: उसकी दैवी तथा अमृत आत्मा है जो उन्हें अन्य व्यक्ति के लिए करता है, उस दैवी आत्मा को अन्य के लिए ही करता है और वह एक शुष्क स्थाणु रूप में अवशिष्ट रहता है। [शत० ब्रा० ९।५।२।१३]

कुछ आचार्यों का मत है कि अन्य व्यक्ति के लिए उनका सम्पादन करके अनुष्ठाता या तो अपने लिए या पुन: उस यजमान के लिए यज्ञ करें। इस कर्म की यही प्रायश्चित्ति है। (शत० ब्रा० ९।५।२।१४) याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं कि यह शुष्क और निर्जीव काष्ठ को सींचने के समान होगा। उस अनुष्ठाता को इससे अवगत होना चाहिए कि इस कर्म में कोई प्रायश्चित्ति

नहीं है। (शत० ब्रा० ६।५।२।१४) स्वमत पुष्टि के लिए वे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—शाण्डिल्य ने एक बार कहा था कि तुरकावषेय ने एक बार कारोती में देवताओं के लिए अग्निचयन किया। देवताओं ने उनसे पूछा—"ऋषि यह जानते हुए कि अग्निचयन स्वर्ग सम्पादन नहीं करता, आपने इसका चयन क्यों किया?" (शत० ब्रा० ६।५।२।१५) उन्होंने उत्तर दिया—'स्वर्ग का सम्पादक तथा असम्पादक क्या है? यजमान यज्ञ का शरीर और ऋत्विज अंग हैं। जहाँ शरीर रहता है वहीं अंग भी रहते हैं अथवा जहाँ अंग रहते हैं वहीं शरीर भी रहता है। यदि ऋत्विजों को स्वर्ग में स्थान नहीं है तो यजमान के लिए भी स्थान नहीं है क्योंकि दोनों ही समान लोक के हैं। इतना अवश्य करना चाहिए कि यज्ञ की दक्षिणा में संवाद न होना चाहिए क्योंकि संवाद से ऋत्विज स्वर्ग में अपने स्थान को न प्राप्त कर सकेंगे। (शत० ब्रा० ६।५।२।१६)

(दुग्धदोहन के समय अग्निहोत्री (गाय) के बैठ जाने पर करणीय कर्म तथा प्रायश्चित्त विषयक मतभेद)

कुछ आचार्य "उदस्थाद्देव्यदितिरायुर्यज्ञपतावधादिन्द्रायकृण्वती भागं मित्राय वरुणाय च' (तै० सं० १२।८।१) मन्त्र से गाय का उत्थापन करते हैं। उनके विचार से पृथ्वी अदिति है, 'आयुर्यज्ञपतावधात्' कहकर यजमान में आयु का आसादन किया जाता है। 'इन्द्राय कृण्वती भागम्, कहकर यजमान में इन्द्रिय तथा 'मित्राय वरुणाय च' कह कर मित्रावरुण प्राण और उदान होने के कारण यजमान में प्राण और उदान की प्रतिष्ठा होती है। वह अग्निहोत्री (गाय) यजमान के गृह पुनरागमन न करने वाले ब्राह्मण को दे दी जानी चाहिए। उनका यह भी कथन है कि अग्निहोत्री यजमान के दुःख तथा पाप देखकर लेट गयी थी। इस प्रकार ब्राह्मणार्थ उस गाय को देकर यजमान के दुख तथा पाप ब्राह्मण पर छोड़ देते हैं। (शत० ब्रा० १२।४।१।८)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत को दोषपूर्ण सिद्ध करते हैं—इस प्रकार वह गाय उन अश्रद्धालु व्यक्तियों के समीप से वापस आती है। वे इस आहुति को क्षति पहुँचाते हैं। उचित मार्ग का निर्देश करते हुए याज्ञवल्क्य का कथन है कि 'दण्डप्रहार कर उस गाय का उत्थापन करना चाहिये जैसे कि रथ में जुते हुए अश्व, खच्चर या वृषभ के श्रान्त हो जाने पर उसे दण्ड या अंकुश से आगे बढ़ा कर अभीष्ट मार्ग की यात्रा पूरी की जाती है। उसी प्रकार दण्ड द्वारा उत्थापित गाय से यजमान स्वर्ग प्राप्त करता है।' (शत० ब्रा० १२।४।१।१०) स्वमत पुष्टि के लिए आचार्य आरुणि का मत प्रस्तुत करते हैं— 'उस यजमान की

अग्निहोत्री द्यौ, वत्स वायु तथा अग्निहोत्रस्थाली पृथ्वी है। इनके ज्ञाता की अग्निहोत्री (गाय) कभी विनष्ट नही होती क्योंकि द्यौ: कभी नष्ट नहीं होता और न तो अग्निहोत्री का वत्स रूप वायु और न अग्निहोत्र स्थाली रूप पृथ्वी ही नष्ट होते हैं। पर्यन्य श्रीवृष्टि करते हैं। यजमान को यह जानना चाहिए कि 'अग्निहोत्री (गाय) ने मेरी श्री तथा महिमा को धारण करने में असमर्थ होकर शयन किया था। मैं अधिकाधिक श्रीवान् बनूंगा।" [शत० ब्रा० १२।४।१।११] अत: याज्ञवल्क्य का मत ही स्वीकार्य है।

[दुग्धदोहन-काल में दूध के अशुद्ध हो जाने पर करणीय कर्म तथा प्रायश्चित्ति विषयक मतभेद]

कुछ आचार्यों के मतानुसार उस दूध का होम करना चाहिए। होम न करना अनुचित होगा। वस्तुत: देवताओं को किसी वस्तु से विरक्ति नहीं है। इस मत के विरोध में याज्ञवल्क्य का कथन है कि देवता भी घृणित वस्तु से विरक्ति रखते हैं। उनके मतानुसार गार्हपत्य से कुछ उष्ण अंगारों को निकालकर उन पर अमंत्रक दूध छोड़कर जल डालना चाहिए। इसके अतिरिक्त दूध प्राप्त होने पर आहुति हवन करना चाहिए। [शत० ब्रा० १२।४।२।२]

[स्रुक् पात्र ग्रहणानन्तर अग्निहोत्र [दूध] के गिर जाने पर करणीय कर्म तथा प्रायश्चित्ति विषयक मतभेद]

कुछ आचार्य गिरे हुए दूध को प्रायश्चित्त-मन्त्र से स्पर्शानन्तर डालकर स्रुक् पात्र में अवशिष्ट दूध से हवन करने का विधान करते हैं। स्रुक् पात्र के अधोमुख हो जाने पर, दुग्ध-पतन होने पर उसे प्रायश्चित्त मन्त्र से स्पर्श कर स्थाली में अवशिष्ट दूध से हवन करना चाहिए। [शत० ब्रा० १२।४।२।६] अन्य आचार्य पुन: गार्हपत्य के समीप जाकर स्थाली में अवशिष्ट दूध का हवन करते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का निराकरण करते हैं क्योंकि अग्निहोत्र स्वर्ग-सम्पादक है। उस स्थिति मे अध्वर्यु के प्रति किसी अभिज्ञ के इस कथन पर कि 'इसने स्वर्गलोक से यजमान को नीचे उतारा है।' यह आहुति स्वर्ग सम्पादक न बन सकेगी। फलत यजमान स्वर्ग न प्राप्त कर सकेगा। [शत० ब्रा० १२।४।२।७]

याज्ञवल्क्य के मतानुसार अध्वर्यु को वहीं स्थित हो जाना चाहिए। स्थाली में अवशिष्ट दूध स्रुक् पात्रादि द्वारा उसके पास तक पहुँचाया जाना चाहिए। कुछ मनुष्य उसे 'यह दूध आहुति-शेष है, यह शक्ति रहित है, इसका हवन न करना चाहिए। आदि कथन पर उसे संदिग्ध बना सकते हैं किन्तु इन बातों की ओर उसे ध्यान ही न देना चाहिये क्योंकि शक्तिहीन [अयातयाम]

होने पर दूध से आतंचन कर्म होता है। अतः स्थाली में अवशिष्ट दूध को अध्वर्यु के समीप पहुँचाना चाहिए। दूध न रहने पर दूसरे दूध के आनयनोपरान्त अग्नि पर अधिश्रयण करने के पश्चात् अध्वर्यु के समीप होमार्थ ले जाना चाहिए। [शत० ब्रा० १२।४।२।८]

[स्रुक् स्थित अग्निहोत्र [दूध] में अमेध्य पड़ जाने पर करणीय कर्म तथा प्रायश्चित्त विषयक मतभेद]

कुछ आचार्य अमेध्य पड़ जाने पर भी अग्निहोत्र हवन का विधान करते हैं। अन्य आचार्यों के मतानुसार अमेध्य निकालने के लिए स्रुक् पात्र को दूध से पूर्ण कर देना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं कि उस स्थिति में किसी अभिज्ञ द्वारा यह कथन करने पर कि 'निःसन्देह इस ब्राह्मण [ऋत्विज] ने अग्निहोत्र का अधःपात कर दिया।' यजमान का भी स्वर्ग से अधःपतन होगा। याज्ञवल्क्य के मतानुसार आहवनीय में समिदाधानानन्तर उससे उष्ण अंगारों को निकाल कर अंगारों पर दूध डालने के अनन्तर जल छोडना चाहिए। अन्य दूध की प्राप्ति होने पर उससे हवन करना चाहिए। [शत० ब्रा० १२।४।२।६]

(गार्हपत्याग्नि के बुझ जाने पर करणीय कर्म तथा प्रायश्चित्ति विषयक मतभेद)

इस स्थिति में कुछ आचार्य उल्मुक (अगारों) से अग्नि निर्मित करते हैं। याज्ञवल्क्य उपर्युक्त रीति का निषेध कर अधोलिखित मत का प्रतिपादन करते हैं—

उल्मुक से एक कोयला लेकर दो अरणियों पर मन्थन करना चाहिए। इस प्रकार वह उल्मुक की अग्नि तथा अरणियों से मथी गयी अग्नि के कामों को प्राप्त करता है। (शत० ब्रा० १२।४।३।३)

(आहवनीय के शेष रहने पर तथा गार्हपत्य से बुझ जाने पर करणीय कर्म तथा प्रायश्चित्ति विषयक मतभेद)

इस स्थिति में कुछ आचार्य आहवनीयाग्नि से नवाग्नि ग्रहण कर उसे पूर्व की ओर ले जाते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं कि किसी अभिज्ञ के इस कथन पर 'इस अध्वर्यु ने यजमान के सामने के प्राणों को अवरुद्ध कर दिया।' यजमान की मृत्यु हो जायगी। (शत० ब्रा० १२।४।३।६)

कुछ आचार्य गार्हपत्य में आहवनीयाग्नि का आहरण करते हैं। इस विचार से कि ये दोनों प्राण और उदान हैं। याज्ञवल्क्य इसका भी निषेध करते हैं क्योंकि अग्निहोत्र स्वर्ग सम्पादक है। इस स्थिति में किसी अभिज्ञ द्वारा अधोलिखित कथन पर 'ऋत्विज ने यजमान को स्वर्ग लोक से नीचे उतार दिया, उसकी आहुति यजमान को स्वर्ग नहीं प्राप्त करा सकती।' यह उसी प्रकार होगा। (शत० ब्रा० १२।४।३।७)

अन्य आचार्य द्वितीय गार्हपत्याग्नि का निर्माण करते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का भी निरसन करते हैं कि उस स्थिति में किसी अभिज्ञ के अधोलिखित कथन पर 'अध्वर्यु ने अग्नि से द्वेष करने वाले शत्रु को उत्पन्न किया।' यजमान से द्वेष करने वाला शत्रु उद्यत कर दिया जाएगा। (शत० ब्रा० १२।४।३।८) अपनी प्रियवस्तु के लिए वह रुदन करेगा।

कुछ याज्ञिकाचार्य आहवनीयाग्नि को शान्त कर बुझा कर द्वितीयाग्नि मन्थन करते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का भी निषेध करते हैं कि किसी अभिज्ञ के 'उसने शेष का भी शमन कर दिया' इस कथन पर यजमान का कोई भी उत्तराधिकारी शेष न रहेगा। (शत० ब्रा० १२।४।३।९)

याज्ञवल्क्य के मतानुसार अध्वर्यु दोनों अग्नियों को अरणियों पर स्थापित करने के अनन्तर उत्तर की ओर गमन कर अग्निमन्थनोपरान्त स्थित रहता है। इस प्रकार वह किसी की निन्दा नहीं करता और उसके नव विश्राम स्थान में रात्रिकालिक आहुति का हवन होता है। (शत० ब्रा० १२।४।३।१०)

घ—विविध मतभेद

(होतृ-वरण विषयक मतभेद)

याज्ञवल्कीय सम्प्रदाय के अनुसार अध्वर्यु को आश्रावण के समय इध्म-बन्धन ग्रहण करना चाहिए। इसके विपरीत अनुष्ठान करने पर वह कम्पनयुक्त या रुग्ण होगा। (शत० ब्रा० १।५।१।२) अन्य आचार्यों के मत से जिस बर्हि (कुश) से वेदी आच्छादित थी उन्हीं कुशों में से कुश अथवा इध्मखण्ड ग्रहण कर आश्रावण करना चाहिए क्योंकि इध्म, कुशादि यज्ञ सम्पादन में सहायक होने के कारण यज्ञांश हैं।

याज्ञवल्क्य द्वितीय मत का निषेध करते हैं। उनके मत से इध्मबन्धनार्थ रज्जु द्वारा इध्मबन्धन तथा अग्निसम्मार्जन दो कार्य सम्पन्न होने के कारण यह यज्ञ का प्रशस्त अंग है। अतः इध्मबन्धन ग्रहण कर ही आश्रावण करना उचित है। (शत० ब्रा० १।५।१।३)

(आतिथ्येष्टि में हविर्ग्रहण-विधि विषयक मतभेद)

सोमक्रयणानन्तर आतिथ्येष्टि का विधान है। इस समय विष्णु को नवकपालपुरोडाश प्रदान किया जाता है। पुरोडाशार्थ हविर्ग्रहण में मतभेद है। तैत्तिरीय आचार्यों के मतानुसार अध्वर्यु को सोम के समक्ष स्थित होकर हविर्ग्रहण करना चाहिए क्योंकि पूज्य व्यक्ति के आगमन पर उसकी पूजा होती है अन्यथा वह क्रुद्ध हो जाता है। (शत० ब्रा० ३।४।१।३) तदनन्तर जिस शकट पर सोम है, उसमें जुते हुए वृषभों में से एक को युग से अलग कर देना चाहिए क्योंकि एक वृषभ मुक्त करने से सोम राजा का आगमन तथा दूसरे के जुते रहने से सोम का सम्मान हुआ। (शत० ब्रा० ३।४।१।४) लोक में भी बिना यान से उतरे किसी का आगमन अनिश्चित ही होता है।

इस मत के विपरीत याज्ञवल्क्य का मत है कि दोनों वृषभों के युग से विमोचन तथा सोम को शालान्तर्गत करने पर ही हविर्ग्रहण होना चाहिए क्योंकि मनुष्यों के आचरण देवाचरण सदृश ही होते हैं। व्यवहार में भी जब तक कोई अतिथि अपना यान छोड़ कर नहीं आता तब तक न तो उसके स्वागतार्थ जल प्रदान और न उसका सम्मान ही होता है। यान में अवरोहण करने पर जलनयन कर संस्कार किया जाता है। (शत० ब्रा० ३।४।१।५) अध्वर्यु को हविर्ग्रहण शीघ्रतापूर्वक करना चाहिए। इससे सोम की पूजा होती है। हविर्ग्रहण के समय यजमान पत्नी को अध्वर्यु का स्पर्श करना चाहिए तथा सोम द्वारा परिक्रमा के समय वहां यजमान को भी स्थित रहना चाहिए। इस प्रकार पति-पत्नी सोम की सेवा में रहते हैं। लोक में भी जब कोई अर्हन्त व्यक्ति आता है तो सम्पूर्ण परिवार उसकी सेवा-सुश्रूषा में रहता है। (शत० ब्रा० ३।४।१।६)

(अग्न्याधानान्तर्गत सम्भरण विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मत से पृथ्वी पर ही सब सम्भारों की प्राप्ति के कारण पृथ्वी पर ही आधान करना उचित होगा। इस प्रकार सम्भरण की आवश्यकता ही न रहेगी।

याज्ञवल्क्य के मत से सम्भार-सम्भरण करना ही चाहिए क्योंकि सम्भारों से जो निष्पन्न होता है वह आधान है। सम्भार-रहित होने पर आधान ही न होगा तो पृथ्वी सम्बन्ध से सम्भरण प्राप्ति कैसे होगी ? (शत० ब्रा० २।१।१।१४)

(आधान विषयक मतभेद)

यजमान ऋत्विजों द्वारा व्रत (उपवसथ दिन का दूध) ग्रहण कर उसमें

समिधा डुबो कर आधान करता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार समिधा को उस व्रत (दूध) में नहीं डुबोना चाहिए। व्रत में डुबोने से यजमान आहुति हवन करता है जो एक दीक्षित के लिए उचित नहीं है। (शत० ब्रा० ६।६।४।४)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध कर समिधा को व्रत में डुबोने का मत प्रस्तुत करते हैं क्योंकि आहवनीयाग्नि यजमान का दैवी शरीर तथा भौतिक शरीर मानुष है। व्रत में समिधा न डुबोने पर वह अपने दैवी शरीर को तुष्ट नहीं करता। समित् होने के कारण यह आहुति नहीं है तथा व्रत में डुबोने से व्रत के अन्न होने के कारण यह भी अन्न है। (शत० ब्रा० ६।६।४।५)

(जल के साक्षात्-संसर्जन के विषय में मतभेद)

अध्वर्यु चात्वाल पर वसतीवरी जल और मैत्रावरुणचमस का स्पर्श करता है।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार अध्वर्यु को 'समापोऽद्भिरगमत् समोषधीभिरोषधीः'। (शु० य० सं० ६।२८) मन्त्र से स्पर्श करना चाहिए। इस प्रकार अध्वर्यु स्पर्श मात्र से ही कल तथा आज आहरण किये गये यज्ञ-रस का मिश्रण करता है। अन्य आचार्य वसतीवरी जल को मैत्रावरुण चमस में और मैत्रावरुण चमस से कुछ ग्रहण कर वसतीवरी में मिश्रित करने का विधान करते हैं। उनका तर्क है कि पूर्व दिन तथा यज्ञ के दिन आहरण किये गये रस मिश्रित होते हैं।
याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार अध्वर्यु जब जल को आधवनीय में डालता है तब दोनों प्रकार के रस मिश्रित होते हैं। (शत० ब्रा० ३।६।३।३०)

(सोम पर जल-निनयन विषयक मतभेद)

प्राचीन वंश के समक्ष आसन्दी पर स्थापित सोम का आसन्दी के साथ ही प्राचीन वंश में प्रवेश होता है। दीक्षित-संचर (गमनागमन मार्ग) से चलकर आहवनीय के दक्षिण सोमस्थापन दिया जाता है। कुछ आचार्यों के मतानुसार इस अवसर पर जल से पूर्ण पात्र का निनयन करना चाहिए क्योंकि सोम क्षत्र हैं। तथा क्षत्र ही राजा होता है। जैसे जब किसी व्यक्ति के गृह राजा का आगमन होता है वह उसे आसन देने के पश्चात् जल देता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं कि इस अवसर पर जल-निनयन यज्ञ में मानुष कार्य करने के सदृश है जो यज्ञ की अपूर्णता का परिचायक है। अतः अपूर्णतासूचक कार्यानुष्ठान की आवश्यकता ही क्या है? (शत० ब्रा० ३।३।४।३१)

(अन्याधान में ब्रह्मौदन-श्रपण विषयक मतभेद)

कुछ याज्ञिकाचार्य चारों ब्राह्मणों (होता, अध्वर्यु, अग्नीत् एवं ब्रह्मा) के लिए ओदन-पकाने का मत प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार से ब्राह्मणों द्वारा ओदनाशन छन्द तुष्टि के लिए है। भोजन के रहने पर ऋत्विज उचित रूप से मन्त्रोच्चारण कर सकेंगे। यह कार्य यात्रा से पूर्व वाहन-तृप्ति के सदृश होगा।

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं। उनके विचार से ब्रह्मौदन-पकाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यजमान के गृह में यज्ञ-सम्पादक तथा असम्पादक दोनों प्रकार के ब्राह्मण हैं। उनके निवासमात्र से ही ओदनाशन कराने से प्राप्त होने वाली कामना पूर्ण हो जाती है। (शत० ब्रा० २।१।४।४)

(व्यूढ द्वादशाहयाग में ग्रहों के व्यूहन (स्थान विपर्यय में मतभेद)

यजमान व्यूढ छन्दों के साथ द्वादशाह करता है। उस समय अध्वर्यु ग्रह-व्यूहन तथा उद्गाता और होता छन्द-व्यूहन करते हैं। व्यूहन तृतीय दिन (शत० ब्रा० ४।५।९।१), चतुर्थ दिन (शत० ब्रा० ४।५।९।२), षष्ठ दिन (शत० ब्रा० ४।५।९।४), सप्तम दिन (शत० ब्रा०४।५।९।६), तथा नवम दिन (शत० ब्रा०४।५।९।८) होता है। तृतीय दिन ऐन्द्रवायव ग्रह-ग्रहण से, चतुर्थ दिन आग्रयण ग्रह से, षष्ठ दिन शुक्र ग्रह-ग्रहण से, सप्तम दिन भी शुक्र ग्रह-ग्रहण से और नवम दिन आग्रयण ग्रह-ग्रहण से प्रारम्भ करता है।

कुछ आचार्यों के मतानुसार ग्रह-व्यूहन (स्थान व्यत्यय) न होना चाहिए क्योंकि ग्रह प्राण सदृश हैं। अध्वर्यु को प्राण-विमोहन न करना चाहिए। ग्रह-व्यूहन से वह प्राण-विमोहन ही करता है। अतः उन ग्रहों का स्थानान्तरण सर्वथा अनुचित है। (शत० ब्रा० ४।५।९।१०)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार ग्रह-व्यूहन करना ही चाहिए क्योंकि ग्रह द्वादशाह शरीर के अंग हैं। जैसे सोता हुआ व्यक्ति अपने अंगों को इच्छानुसार एक ओर से दूसरी ओर घुमाता है उसी प्रकार द्वादशाह के अंग रूप ग्रहों का व्यूहन भी अंगों को घुमाना ही है। अतः अध्वर्यु को ग्रह-व्यूहन अवश्य करना चाहिए। (शत० ब्रा० ४।५।९।११)

पूर्वाचार्यों का पुनः कथन है कि ग्रह-व्यूहन नहीं करना चाहिए क्योंकि ग्रह प्राण हैं। व्यूहन करने पर अध्वर्यु प्राणों को भी स्थानान्तरित कर देगा। (शत० ब्रा० ४।५।९।१२) याज्ञवल्क्य का कथन है कि उद्गाता और होता द्वारा छन्द व्यूहन होने पर अध्वर्यु क्या करे? अतः (यज्ञ सौष्ठव रक्षार्थ) उसे

ग्रह-व्यूहन करना चाहिए। प्रातः सवन में ऐन्द्रवायव ग्रह का, माध्यन्दिन सवन में शुक्र ग्रह का तथा सायं सवन या तृतीय सवन में आग्रयण ग्रह-ग्रहण सम्पन्न किया जाता है। (शत० ब्रा० ४।५।९।१३)

(राजसूय यज्ञ में यजमानाभिषेक कालिक उष्णीषावगूहन विषयक मतभेद)

अध्वर्यु यजमान को वस्त्र धारण कराता है। उष्णीष को निवीत रूप से कण्ठ में डाल कर नाभि प्रदेश पर उसके समक्ष उष्णीष के अन्त में नीवी के स्थान पर 'क्षत्रस्य नाभिरसि' मन्त्र से ग्रन्थि दी जाती है। इस प्रकार अध्वर्यु यजमान को क्षत्र की नाभि में स्थापित करता है। (शत० ब्रा० ५।३।५।२३) अन्य याज्ञिकाचार्य उष्णीष को सब ओर से नाभि देश में परिवेष्टनार्थ मत प्रस्तुत करते हैं। उनका तर्क है कि क्षत्रिय की उष्णीष रूपा नाभि भी परिवेष्टित होती है। अतः 'क्षत्रस्य नाभिरसि' इस मन्त्र से उष्णीष के नाभित्व वाचन से उसके साम्य के लिए चारों ओर से वेष्टन उचित ही है।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार नाभि प्रदेश के पूर्व भाग में ग्रन्थि दे देनी चाहिए क्योंकि नाभि सदृश यह ग्रन्थि भी सामने ही होती है। अध्वर्यु द्वारा यजमान को वस्त्र धारण कराने के कारण वह यजमान पुनः उत्पन्न होता है क्योंकि वे वस्त्र उल्व, जरायु और योनिरूप हैं। अध्वर्यु 'मैं उत्पन्न यजमान का अभिषेक करूँगा' यह विचार करते हुए यजमान को वस्त्र धारण कराता है। (शत० ब्रा० ५।३।५।२४)

(अग्निचयन में आहवनीय तथा गार्हपत्य-मार्जन विषयक मतभेद)

अध्वर्यु पूर्व स्थितों के अपनयनार्थ तथा अपने को स्थित करने के लिए (शु०य०सं० १२।१५) मन्त्र से गार्हपत्य स्थान का मार्जन करता है। अन्य याज्ञिकों के मत से अध्वर्यु को पलाश-शाखा से गार्हपत्य के समान आहवनीयागार का भी मार्जन करना चाहिए क्योंकि दोनों अवसरों पर वह एक-एक वेदी का चयन करता है।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार यजमान गार्हपत्य चयन कर अवस्थित होता है तथा आहवनीय वेदी से वह ऊर्ध्व गमन करता है। यह उचित ही है कि जिस स्थान पर निवास किया जाय उसकी शुद्धि के लिए मार्जन कर लिया जाय। आहवनीय से आरोहण किया जाता है। अतः उसके मार्जन की आवश्यकता नहीं है। (शत० ब्रा० ७।३।१।७)

(हिरण्यपुरुष के बाहुकरण विषयक मतभेद)

कुछ आचार्य स्वर्ण पुरुष की दो स्रुक् रूप बाहुओं के वर्तमान रहने पर अन्य

दो बाहुओं के निर्माण का विरोध करते हैं। उनके विचार से स्रुक के अतिरिक्त बाहुनिर्माण से अंगाधिक्य होगा जो अनुचित है। इस मत के विरोध में याज्ञवल्क्य का कथन है कि हिरण्यपुरुष की दोनों बाहुओं का निर्माण होना चाहिए क्योंकि स्वर्ण-पुरुष सम्बन्धिनो दोनों बाहुओं को लक्ष्य कर दोनों स्रुक् पात्र आसादित होते हैं। ये दोनों बाहुएं चित्याग्नि के दो पक्षस्थानीय हैं। (शत० ब्रा० ७।४।१।४७)

(अभिमर्षण और उच्छ्वास के विषय में मतभेद)

कुछ आचार्य चयन की गयी वेदी में समचन (पक्षसंकोच) तथा प्रसारण शक्ति उत्पन्न करने के लिए अधोलिखित अभिमर्षण मन्त्र से चतुर्दिक् स्पर्श करने का विधान करते हैं—

'संवत्सरोऽसि परिवत्सरोऽसि। इदावत्सरोऽसीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि। उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्धमासास्ते॥ कल्पन्तां मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्तां संवत्सरस्ते कल्पताम्। प्रेत्या एत्यै सं चाञ्च प्र च सारय। सुपर्णचिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद्ध्रुवः सीद।' (शु०य०सं० २७।४५, शत० ब्रा० ८।१।४।८)

उनका मत है कि अग्नि एक पशु है। जब पशु अपने अंगों का संकोच एवं प्रसारण करता है तब वह पराक्रम तथा शक्ति का विकास करता है। पशुरूप अग्नि का भी समंचन तथा प्रसारण उचित ही है। इस मत की पुष्टि के लिए वे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

शाट्यायन आचार्य ने एक बार कहा था कि एक व्यक्ति द्वारा अभिमर्षण मन्त्र से चित्याग्नि का स्पर्श किये जाने पर पक्षी रूप चित्याग्नि के पक्षों का स्फुत्कार सुना गया। अतः अभिमर्षण मन्त्र से स्पर्श उचित ही है। (शत० ब्रा० ८।१।४।९)

अन्य आचार्य उदाहरण प्रस्तुत कर उच्छ्वास चाहते हैं। नग्नजित् के पुत्र स्वजित अथवा गान्धार नग्नजित, गान्धार राजा ने कहा कि समंचन और प्रसारण प्राण हैं। जिस अंग में प्राण होता है, उसका संकोच तथा प्रसारण होता है। पूर्णरूप से वेदी के चयन हो जाने पर बाह्य देश से आकर इस पर उच्छ्वसन करना चाहिए। इससे समंचनात्मक तथा प्रसारणात्मक प्राण स्थापित होता है। वह वेदी समंचन तथा प्रसारण करने में समर्थ होती है। अतः उपर्युक्त अभिमर्षण मंत्र से स्पर्श अनुचित है। (शत० ब्रा० ८।१।४।९)

याज्ञवल्क्य द्वितीय मत प्रतिपादक आचार्यों से असहमत हैं। उनके विचार से 'संवत्सरोऽसि' आदि अभिमर्षण मन्त्र से ही स्पर्श करना चाहिए। वे नग्नजित् स्वर्जित के कथन का उपहास करते हुए कहते हैं कि—'स्वर्जित ने अधम राजन्य सदृश मत का प्रतिपादन किया क्योंकि बाह्य देश से आगमन कर किसी वस्तु पर शत या सहस्र बार चारों ओर से उच्छ्वसन करने पर क्या उसमें प्राण-प्रतिष्ठा हो सकेगी ? अतः उच्छ्वसन से प्राणस्थापन करना असंगत है। चित्याग्नि के मध्य देहान्तर्गत स्थित प्राण पक्षपुच्छादि में भी होता है। (शत० ब्रा० ८।१।४।१०)

(दशपेययाग में चमसपानार्थ दसपितामहों के नामग्रहण में मतभेद)

विषय को स्पष्ट करने के लिए आख्यायिका प्रस्तुत की जा रही है—वरुण का अभिषेक हो जाने पर उनसे तेज अलग हो गया, विष्णु (यज्ञ) अलग हो गये, सम्भवतः यजमानाभिषेकार्थ एकत्र रस ने उनके तेज का हनन कर दिया। (शत० ब्रा० ५।४।५।१) वरुण ने उन (संसृप) देवताओं के साथ उस तेज का अनुसरण किया। उन देवताओं में सविताप्रसविता, सरस्वतीवाक्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, अग्नि, सोमराजा तथा विष्णु थे। विष्णु (दसवें) देवता की सहायता से वरुण उस तेज (भर्ग) को प्राप्त कर सके। वरुण द्वारा उन देवताओं के साथ तेज का अनुसरण करने के कारण उन देवताओं का नाम 'संसृप' और दसवें दिन यजमानाभिषेक होने के कारण इस कर्म का नाम 'दशपेय' पड़ा। प्रत्येक दस मनुष्यों द्वारा (जिनमें ऋत्विज एवं अन्य ब्राह्मण सम्मिलित होते हैं) साथ-साथ प्रत्येक चमसपानार्थ अनुसरण करने के कारण भी इस कर्म की 'दशपेय' संज्ञा है। इस विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि चमसपान करने वाले दसों व्यक्तियों को यजमान के दस सोमपान करने वाले पितामहों का नाम (उसके पितामह के पितामह इस प्रकार क्रमशः दस पितामह-गणों की संख्या कर) ग्रहण कर अनुसर्पण करना चाहिए। इस प्रकार यजमान अपने लिए इस दशपेय सोमपीथ को प्राप्त करता है। (शत० ब्रा० ५।४।५।४)

याज्ञवल्क्य उपर्युक्त आचार्यों के मत से असहमत हैं। उनके विचार से यह भारस्वरूप होगा क्योंकि यदि किसी मनुष्य से उसके पितामहों को पूछा जाय तो वह बड़ी कठिनाई से सोमपान करने वाले दो या तीन पितामहों का नाम ही बता सकता है। अतः उनमें से प्रत्येक को संसृप देवताओं की संख्या का परिगणन कर प्रसर्पण करना चाहिए। इसका कारण यह है कि इन्हीं देवताओं के साथ वरुण ने अभिषेक के समय दशपेय सोमपीथ प्राप्त किया। अतः उन्हीं देवताओं की गणना कर प्रसर्पण करना उचित होगा। (शत० ब्रा० ५।४।५।५)

(अग्निचयन में अश्ववर्ण-निर्धारण विषयक मतभेद)

अग्निचयन के पूर्व इष्टकाओं का आनयन होता है। उसका नियम यह है कि श्वेताश्व सामने से ले जाया जाय। श्वेत अश्व प्रजापति का रूप है। इसी रूप में प्रजापति ने अग्नि का अन्वेषण किया। इसी प्रकार यजमान भी करता है। इस प्रकार अग्नि प्राप्ति के अनन्तर अग्निचयन प्रारम्भ होता है। नियमानुसार अश्व श्वेत वर्ण का होना चाहिए क्योंकि यह सूर्य के रूप का है। याज्ञवल्क्य नियम को शिथिल बनाकर मत प्रस्तुत करते हैं कि श्वेताश्व की प्राप्ति न होने पर एक वृषभ से ही कार्य सम्पन्न करना चाहिए क्योंकि वृषभ अग्नि के स्वभाव का है और अग्नि सब पापों के नाशक हैं। (शत० ब्रा० ७।३।२।१६)

(चयनयाग में शतरुद्रियहोमानन्तर इष्टकाधेनुकरणार्थ दशा विषयक मतभेद)

चयनयाग में शतरुद्रिय होम के प्रसंग में घट प्रक्षेपणानन्तर ऋत्विज और यजमान वापस आते हैं। यजमान इष्टकाओं को अपनी धेनु बनाता है क्योंकि देवताओं ने भी अग्निरुद्र को शतरुद्रिय एवं जल से शान्त कर उनके दुःख और पाप के अपनयनान्तर वेदी के समीप आगमन कर इष्टकाओं को दूध देने वाली गायें बनाया। इसी प्रकार यजमान भी मन्त्रजप पूर्वक इष्टकाओं का धेनु रूप में अनुसन्धान करता है (शत० ब्रा० ९।१।२।१३) इष्टकाधेनुकरणार्थ अधोलिखित मन्त्र विहित है—

'इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रंचायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्य चान्तश्च परार्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिंल्लोके। (शु० य० सं० ब्रा० १७।२)

इष्टकाधेनुकरण सम्पन्न करने की दशा में मतभेद है। कुछ आचार्यों के मतानुसार यजमान आसीन होकर इष्टकाओं को अपनी धेनु बनाता है क्योंकि कोई भी व्यक्ति आसीन होकर ही गोदोहन करता है।

याज्ञवल्क्य इस मत का निरादर करते हैं। उनके विचार से स्थित रहकर धेनुकरण करना चाहिए क्योंकि अग्निवेदी लोक है, लोक स्थित हैं जो स्थित है वह बलवत्तर होता है। (शत० ब्रा० ९।१।२।१४) अध्वर्यु को वेदी की दक्षिण श्रोणी के समीप उत्तरपूर्वाभिमुख होकर धेनुकरण सम्पन्न करना चाहिए। यजमान के समक्ष वह गाय पश्चिमाभिमुख स्थित होती है क्योंकि दक्षिण ओर से ही गाय के समीप गमन किया जाता है। (शत० ब्रा० ९।१।२।१५)

(हिरण्यशकल को प्रजापति के रूप होने में मतभेद)

इस विषय में शाण्डिल्य तथा उनके शिष्य में मतभेद है। प्रथम, द्वितीय तृतीय–इस प्रकार छः इष्टका चिति तथा छः पुरीषचिति निर्माण से बारह चितियां हुईं। (जो संवत्सर के बराबर हुई क्योंकि) संवत्सर में द्वादश मास होते हैं। (शत० ब्रा० १०।१।४।८) त्रिकर्णी नाम वाली इष्टका तथा स्वयमातृण्णा (जिसमें स्वयं छिद्र हो) का उपधान तथा हिरण्यशकलों से चित्याग्नि प्रोक्षण कर आहवनीयाग्नि का स्थापन किया जाता है। स्वर्ण शकल विकीर्ण कर उनपर अग्न्यासादन होता है। उस समय प्रजापति ने इष्टकाग्नि-निधान द्वारा अन्त में अपना रूप स्वर्णमय किया था। इसीलिए ब्रह्मवादी कहते है कि स्वर्णमय रूप के कारण ही प्रजापति हिरण्मय है। उसी प्रकार यह यजमान सब चितियों के अन्त में हिरण्यशकल प्रोक्षणानन्तर आहवनीय-निधान द्वारा अपना भी हिरण्यमय रूप करता है। अतएव विद्वान् तथा अनभिज्ञ दोनों प्रकार के लोग अविवाद रूप से कहते हैं कि अग्निचित् उस (स्वर्ग) लोक में स्वर्णमय रूप वाला होता है। (शत० ब्रा० १०।१।४।६) तात्पर्य यह कि हिरण्यशकल पर आहवनीय-निधान प्रजापति का स्वर्णमय रूप है। इस विषय में गुरु और शिष्य मतैक्य नहीं हैं। शाण्डिल्य ने कहा कि इस प्रजापति का यह स्वर्णमय रूप है। शाण्डिल्य ने शिष्य साप्तरथवाहनि के मत से रूप नहीं यह उनके लोम हैं। (शत० ब्रा० १०।१।४।१०) इस विवाद में शाण्डिल्य ने रूप ही सिद्ध किया। उनके विचार से रूप लोमयुक्त तथा अयुक्त भी होता है। अतः यह हिरण्यमयत्व प्रजापति का रूप है।

याज्ञवल्क्य भी शाण्डिल्य के ही पक्ष का अनुमोदन करते हैं–

'जैसा शाण्डिल्य ने कहा वैसा ही होगा।' (शत० ब्रा० १०।१।४।११)

(माहेन्द्र होम के समय यजमान को धारण कराये जाने वाले वस्त्र के विषय में मतभेद)

कुछ आचार्यों के मत से यजमान (अभिषेक के समय जिन वस्त्रों को धारण किये हो) उन वस्त्रों को रखकर दीक्षा के समय परिधापित वस्त्रों को ही धारण करना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार वस्त्र यजमान के साथ उत्पन्न होने से उसके अंग हैं जिस प्रकार जरायु, उल्बादि का गर्भावस्था में साथ निवास होने से अंगत्व का उपचार कर दिया जाता है उसी प्रकार जब यजमान उत्पन्न हुआ तार्प्यादि वस्त्र उसके जरायु, उल्बादि थे। अतः यजमान को तार्प्यादि से रहित कर चर्म रहित किया जाता है। दीक्षा में धारण किए गए वस्त्र वरुण देवता से सम्बन्ध रखते हैं। अध्वर्यु उन अभिषेक

कालिक तात्पर्य में से तार्प्य (प्रथम धारण किया जाने वाला) वस्त्र को ही धारण करता है। इस प्रकार ऋत्विज यजमान को चर्म सहित कर उसे शारीरिक रूप में रखता है। दीक्षाकालिक वस्त्र वरुण सम्बन्धित होने के कारण यजमान को दीक्षाकालिक वरुण-परिधान से मुक्त करता है। (शत० ब्रा० ५।३।५।२५)

(वाजपेययाग-सम्पादन विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों के मतानुसार वाजपेयाग का सम्पादन न करना चाहिए क्योंकि वाजपेययाजी सब कुछ जीत लेता है। वह प्रजापति को भी जीत लेता है। यहां कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। अतः उस यजमान की प्रजा अतिशय दारिद्र्यवती होती है। अतः वाजपेयसम्पादन अनुचित है। (शत० ब्रा० ५।१।१।६)

इसके विपरीत याज्ञवल्क्य का मत है कि वाजपेययाग-सम्पादन होना चाहिए किन्तु इतना अवश्य है कि यह सब के द्वारा सम्पाद्य नहीं है। यजमान और ऋत्विज दोनों का ऋचा, यजुष्, तथा साम सम्बन्धी ज्ञान पूर्णरूपेण होना चाहिए। इससे यज्ञ पूर्ण होता है। क्रियाकुशल ऋत्विजों द्वारा याग-सम्पादन ही यज्ञ की समृद्धि है क्योंकि अंगवैकल्य तो होगा नहीं। (शत ०ब्रा०५।१।१।१०) बृहस्पति द्वारा सम्पादित होने के कारण यह यज्ञ ब्राह्मण का है। बृहस्पति भी ब्रह्म तथा ब्राह्मण भी ब्रह्म है। इन्द्र द्वारा सम्पादित होने से इसके सम्पादन में राजन्य का भी अधिकार है। इन्द्र क्षत्र हैं, राजन्य भी क्षत्र है। इस प्रकार मनुष्यों में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय को वाजपेययाग-सम्पादन का अधिकार प्राप्त है। (शत० ब्रा० ५।१।१।११)

(प्रायणीयेष्टि और उदयनीयेष्टि में साम्य विषयक मतभेद)

आतिथ्येष्टि यज्ञ का सिर, प्रायणीयेष्टि तथा उदयनीयेष्टि इसकी दो बाहुएं हैं। सिर के दोनों ओर बाहुएं होती हैं। अतः आतिथ्येष्टि के पूर्व और पश्चात् क्रमशः प्रायणीय हविष् एव उदयनीय हविष् का विधान है। (शत० ब्रा० ३।२।३।२०)

कुछ आचार्यों (जो प्रायणीयेष्टि और उदयनीयेष्टि में साम्य मानते हैं) के मतानुसार दोनों के कर्म समान हैं। जो कार्य प्रायणीयेष्टि में किया जाता है वही उदयनीयेष्टि में भी। दोनों का बर्हि एक है। बर्हि वेदी पर से ग्रहण कर पार्श्व में रखे जाते हैं। प्रायणीयेष्टि के चरुस्थाली चरुलेप के साथ तथा मेक्षण का प्रोक्षण कर चरुलेपानन्तर स्थाली के साथ रखी जाती है प्रायणीयेष्टि तथा

उदयनीयेष्टि में ऋत्विज भी समान होते हैं। इस प्रकार साम्य होने के कारण दोनों को बाहु कहा गया है।

याज्ञवल्क्य इस प्रकार के साम्य पर आपत्ति प्रकट करते हैं क्योंकि प्रायणीयेष्टि का सम्पादन कर वह स्वेच्छानुसार प्रस्तर के बाद अग्नि में बर्हि और मेक्षण का प्रक्षेपण कर सकता है। अध्वर्यु पात्र को प्रोक्षणानन्तर पार्श्व में रख सकता है इतना अवश्य है कि यदि प्रायणीयेष्टि के ऋत्विज उदयनीयेष्टि में ही प्राप्त हो जायं तो सर्वोत्तम है किन्तु यदि वे अन्यत्र चले गए हैं तो उनके स्थान पर अन्य ऋत्विज कार्य सम्पादन कर सकते हैं। अतः समानता कहां रही? समानता दो बातों में है पहली बात तो यह कि जिन देवताओं का यजन प्रायणीयेष्टि में किया जाता है उन्ही का यजन उदयनीयेष्टि में भी होता है। दूसरी बात यह है कि जो हविष् देवताओं को प्रायणीयेष्टि में दिये जाते हैं वही उदयनीयेष्टि में भी प्रदान किये जाते हैं। इस प्रकार उन दोनों बाहुओं में सादृश्य एवं एकरूपता है। (शत० ब्रा० ३।२।३।२१)

(आग्रयणेष्टि-प्रयोजन विषयक मतभेद)

कौषीतकि (कुषीतक पुत्र) कहोड का मत है। कि व्रीहि यवादि औषधि रूप रस हैं। यह रस द्युलोक और पृथ्वी से सम्बन्धित है क्योंकि आकाश से वृष्टि होती है (जिससे व्रीहि और यव की उत्पति एवं वृद्धि सम्भव होती है।) तथा ये भूमि पर उत्पन्न होते हैं। इस रस को देवतार्थ हवन के पश्चात् हविष्शेष का भक्षण होता है। नवान्न हविष् के अतिरिक्त परिशिष्टान्न की सिद्धि के लिए आग्रयणेष्टि करना आवश्यक है। (शत० ब्रा० २।४।३।१)

याज्ञवल्क्य आख्यायिका द्वारा आग्रयणेष्टि का प्रयोजन बताते हैं—

एक बार प्रजापति की सन्तान देवों और असुरों में संघर्ष हुआ। असुरों ने देवों पर विजय प्राप्त करने की आशा से मनुष्यों के साथ व्रीहि और यव पर तथा पशुओं के साथ घास पर एक ओर जादू करते हुए दूसरी ओर विषलिप्त कर दिया। फलतः न तो मनुष्य भोजन करते थे और न पशु तृण चरते थे। अतः सम्पूर्ण प्रजा असमर्थ हो गयी। देवताओं को जब यह ज्ञात हुआ, उन्होंने आपस में उन्हें मुक्त करने के लिए विचार-विमर्श किया। मनुष्य जो कुछ चाहते थे, यज्ञ-असाधन से देवताओं ने पूर्ण कर दिया। इसी प्रकार ऋषियों ने भी किया। (शत० ब्रा० २।४।३।३) तदनन्तर देवताओं ने आपस में विचार किया कि प्रजा के अनशन को पूर्ण करने वाला हविष् किसका हो? सब ने एक स्वर में कहा— 'हमारा है! हमारा है!!' इस प्रकार की विप्रतिपत्ति उपस्थित होने पर उन्होंने

कहा—इस प्रकार से यह हविष् किसी का नहीं होगा, चलिये एक दौड़ लगायें, हममें से जो दूसरों को पराजित कर देगा उसी का यह हविष् होगा।' उन्होंने एक दौड़ लगायी। इस दौड़ का परिणाम यह हुआ कि अग्नि और इन्द्र विजयी रहे। अतएव इन्द्र और अग्नि के लिए द्वादशकपालपुरोडाश प्रदान किया जाता है क्योंकि इन्द्र और अग्नि ने इस भाग को जीता था। सर्वप्रथम इन्द्र तत्पश्चात् अग्नि तदनन्तर विश्वेदेव पहुंचे। अतः ऐन्द्राग्नयाग पहले होता है। (शत० ब्रा० २।४।३।५)

(प्रजापति द्वारा सृष्टि-उत्पादन विषयक मतभेद)

कुछ याज्ञिकाचार्यों के विचार से प्रजापति ने वीर्यसेचनानन्तर सब की सृष्टि की। प्रजापति ने अग्नि को उत्पन्न कर वसुओं को उत्पन्न किया तथा उन्हें इस पृथ्वी पर धारण किया। वायु के पश्चात् रुद्रों को उत्पन्न कर उन्हें अन्तरिक्ष में स्थापित कर दिया। सूर्य के अनन्तर आदित्यों की उत्पति कर प्रजापति ने उन्हें आकाश (दिवि) में स्थापित कर दिया। चन्द्रमा के पश्चात् विश्वेदेवों की सृष्टि कर उन्हें दिशाओं में स्थापित कर दिया। (शत० ब्रा० ६।१।२।१०)

ब्रह्मवादियों के मतानुसार प्रजापति ही इन लोकों की सृष्टि कर पृथ्वी पर स्थित रहे। उनके लिये ओषधियां अन्न रूप में पक गयीं। उनके भक्षणानन्तर प्रजापति ने गर्भ धारण किया। ऊर्ध्व प्राणों से देवताओं का तथा अधः प्राणों से मर्त्य प्रजा का सृजन किया।

याज्ञवल्क्य का मत है चाहे जिस तरह से सृष्टि की सृष्टि तो की ही किन्तु यथार्थतः यह प्रजापति ही हैं जिन्होंने समस्त वस्तुओं की रचना की। (शत० ब्रा० ६।१।२।११)

(फल-प्रकार विषयक मतभेद)

कुछ आचार्यों का मत है कि यजमान विचार करता है—'यह अग्नि (वेदी) पक्षी का रूप धारण कर मुझ अग्निचित् को स्वर्गलोक ले जायगी। अतः अग्निचयन सम्पन्न किया जाता है। (शत० ब्रा० ६।१।२।३६)

याज्ञवल्क्य के मतानुसार यजमान को ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए क्योंकि पक्षी का ही रूप धारण कर सप्तप्राण प्रजापति बने थे। इसी रूप में प्रजापति ने देवों को उत्पन्न किया तथा इसी रूप में देवता अमर हो गये। जिस पक्षी का रूप धारण कर प्राण प्रजापति बने एवं जिस रूप से प्रजापति ने देवों की सृष्टि की, उसी रूप की प्राप्ति के लिए यजमान प्रजापति ही बनता है। (शत० ब्रा० ६।१।२।३६) □

चतुर्थ अध्याय

याज्ञवल्क्य की वैज्ञानिक दृष्टि

इस अध्याय में याज्ञिकाचार्यों द्वारा प्रस्तुत मतभेदों का पर्यालोचन कर, स्वमत पुष्टि के लिए याज्ञवल्क्य द्वारा प्रस्तुत कारणों की मीमांसा की गयी है।

(१) यज्ञ की सर्वांगीण समृद्धि पर बल

याज्ञवल्क्य एक कुशल याज्ञिकाचार्य हैं। वे यज्ञ को पूर्ण रूप में देखना चाहते हैं। उसकी सर्वांगीण समृद्धि का उन्हें सदैव ध्यान रहता है। वे समृद्धि के रक्षार्थ अनेक स्थलों पर आचार्यों से मतवैषम्य प्रकट करते हैं। इस प्रसंग में विविध कारण हो सकते हैं—

(क) सर्वव्यापी चेतनता की भावना

याज्ञवल्क्य एक पुरुष के रूप में यज्ञ का दर्शन करते हैं। प्राकृत पुरुषों की भाँति उसके लिए भी शरीर के आच्छादनार्थ वस्त्र एवं तृष्णाशमनार्थ भोजन चाहिए। वे कण-कण में जीवन-प्रदायिनी शक्ति देखते हैं। यज्ञ सम्बन्धी प्रत्येक वस्तु सजीव है। ग्रहों को द्वादशाह यज्ञ के अंग मानकर उनके व्यूहन (स्थानान्तरण) का विधान करते हैं। (शत० ब्रा० ४।५।६।११,) ग्रह-व्यूहन शरीर के अवयवों को स्वेच्छापूर्वक एक ओर से दूसरी ओर घुमाने के समान है। (शत० ब्रा० ४।५।९।१५) अभ्रि को यज्ञ की बाहु मानकर बाहु के बराबर परिमाण का विधान किया गया है। (शत० ब्रा० ६।३।१।३३) प्रवर्ग्य को उत्तरवेदी का सिर कल्पित कर प्रवर्ग्योत्सादनार्थ उत्तर वेदी निर्दिष्ट है। (शत० ब्रा० १४।३।१।१५) यज्ञ-सिर को यज्ञ से अलग न रखने से यज्ञ की समृद्धि ही होगी।

(ख) अंगवैकल्य की अनभीप्सितता

यज्ञ हो या यज्ञांग हों उनमें वैकल्य उत्पन्न करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि अंगवैकल्य से यज्ञ में समृद्धि नहीं आ सकती। याज्ञवल्क्य उखापात्री को गाय मानते हैं। वे उसमें बांधी जाने वाली रज्जु में चार स्तन बनाने का विधान करते हैं। कुछ आचार्य दो स्तन तथा कुछ आचार्य आठ स्तन बनाने के लिए भी मत प्रस्तुत करते हैं किन्तु याज्ञवल्क्य दोनों मतों को दोषपूर्ण बताते हैं क्योंकि उखा का आठ स्तनों से युक्त होकर कुक्कुरी का एवं दो स्तनों से युक्त होकर भेड़ या घोड़ी का रूप हो जायगा। अतः अंगवैकल्य के निवारणार्थ उखा में चार स्तनों का ही निर्माण किया जाना चाहिए। यह उचित भी है क्योंकि गाय के चार ही स्तन होते हैं। (शत० ब्रा० ६।५।२।१९,) अग्निवेदी में इष्टकाओं द्वारा अलग से सिर निर्माण का निषेध करते हैं। इस प्रकार के अनुष्ठान से अतिरिक्त सिर का निर्माण होगा जो सर्वथा अनावश्यक है। (शत० ब्रा० १०।५।५।१०)

(ग) अपौरुषेय कर्म में पौरुषेय कर्म-सम्पादन का निषेध

याज्ञवल्क्य यज्ञ-विधि को अपौरुषेय मानते हैं। सम्प्रदाय के विरुद्ध कर्म करना ही मानुष कर्म है। यज्ञ समृद्धि के लिए पौरुषेय कर्मों का वर्जन अत्यावश्यक है। पुरोडाश का बृहदाकार सम्पादन यज्ञ में अपूर्णता न ले आने के लिए पुरोडाश का आकार बड़ा नहीं करना चाहिए। (शत० ब्रा० १।२।२।३,) सामिधेनी ऋचाओं में पढ़ी जाने वाली आठवीं ऋचा—

'अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम्।
अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम्।। (ऋग्वेद १।१२।१)

में 'होतारं विश्ववेदसम्' के स्थान पर कुछ आचार्य होता यो विश्ववेदसः' पाठ का निर्देश करते हैं। याज्ञवल्क्य उपर्युक्त आचार्यों से असहमत हैं। उनके विचार से 'होता यो विश्ववेदसः' पाठ मानुषिक होगा, जो मानुषिक है वह अपूर्ण है। इस कारण यज्ञ में अपूर्णता न लाने के लिए 'होतारं विश्ववेदसम्' पद का ही अनुवचन करना उचित है। सोमक्रयणोपरान्त प्राचीन वंश शाला में स्थापित करने पर कुछ आचार्य उसके समीप जल से पूर्ण पात्र लाकर रखते हैं। उनके विचार से राजा के आगमनोपरान्त जल देकर आसन दिया जाता है। याज्ञवल्क्य इस कार्य को मानुष बताते हैं। मानुष होने से कार्य समृद्ध नहीं होगा। अतः यज्ञ में व्यृद्धि के निवारणार्थ जल पात्र का आनयन अनावश्यक है। (शत० ब्रा० ३।३।४।३१)

(घ) सभी ऋत्विजों की कार्य-संलग्नता

यज्ञ समृद्धि के लिए प्रत्येक यज्ञ-सम्पादक पुरुष को सदैव कार्यरत रहना चाहिए। व्यूढ द्वादशाह याग के प्रसग में अन्य आचार्य ग्रह व्यूहन का निषेध करते हैं। याज्ञवल्क्य ग्रह-व्यूहन कर्म पर जोर देते हैं। ब्रह्मवादियों द्वारा पुनः ग्रह-व्यूहन का निषेध करने पर उनका कथन है कि जब उद्‌गाता और होता छन्दों का व्यूहन करते हैं, उस समय अध्वर्यु क्या करे ? अर्थात् उस समय अध्वर्यु के पास कोई कार्य नहीं रहता, वह उतने समय तक निष्कर्ष रहेगा। फलतः यह यज्ञ-समृद्धि में कमी पड़ जायगी। अतः उस रिक्त समय में अध्वर्यु ग्रह-व्यूहन ही करे। (शत० ब्रा० ४।५।८।६३)

(ङ) कठिन नियमों से अ-पलायन

याज्ञवल्क्य यज्ञ समृद्धि के लिए अनावश्यक बन्धन की उपेक्षा करते हैं किन्तु कहीं-कहीं कठिन से कठिन नियमों का विधान भी करते हैं। उदाहरण स्वरूप अश्वमेघ यज्ञ में बहिष्पवमानान्तर्गत उद्‌गीथगान का विधान है। उदगीथ-गायक के विषय में मतभेद होने पर कुछ आचार्य उद्‌गीथगान के लिए उद्‌गाता का निर्देश करते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध कर उद्‌गीथगानार्थ स्वर्ग को जानने वाले अश्व का विधान करते हैं। अश्व उद्‌गाता का कार्य कैसे कर सकता है ? इस शंका के समाधानार्थ उनका कथन है कि अश्व द्वारा किया गया 'हिं' साम में प्रयुक्त हिंकार है। उस हिंकार में सम्पूर्ण स्तोत्र हैं। वहाँ बंधी हुई (घोड़ियों) का शब्द करना उद्‌गाता के सहायकों द्वारा शब्द करना है। (शत० ब्रा० १३।२।३।२.) अश्वमेध यज्ञ है उसमें अश्व से कुछ कार्य लेने में यज्ञ समृद्ध होगा और इसी में औचित्य की रक्षा है।

(च) यज्ञ के प्रत्येक कर्म का महत्व

प्रत्येक यज्ञिय कर्म को महत्त्व देकर ही यज्ञ में समृद्धि की प्रतिष्ठा सम्भव है। अग्न्याधान के अन्तर्गत कुछ आचार्यों के मतानुसार पृथ्वी पर सब सम्भारों की उपलब्धि होने के कारण उनका सम्भरण अनावश्यक है। याज्ञवल्क्य इन आचार्यों से सहमत नहीं हैं। उनके मतानुसार सम्भारों से जो प्राप्त होता है, उसे 'आधान कहते हैं। सम्भारों से रहित होने पर आधान ही न होगा तो पृथ्वी के सम्बन्ध से सम्भरण की प्राप्ति कैसे होगी ? अतः कर्म की पूर्णता के लिए, यज्ञ-समृद्धि के लिए अन्य कर्मों की भाँति सम्भरण भी आवश्यक है। (शत० ब्रा० २।१।१।१४)

कुछ आचार्य अग्न्याधेय में पूर्णाहुति का सम्पादन कर उत्तराहुतियों का सम्पादन नहीं करते। उनके विचार से पूर्णाहुति से ही सब कार्यों की प्राप्ति हो

जाती है। अन्य आचार्य उत्तराहुतियों के असम्पादन से अग्न्याधेय को अपूर्ण मानते हैं। याज्ञवल्क्य भी इसी से सहमत हैं क्योंकि उत्तराहुतियों के सम्पादन से यजमान की परोक्ष कामना प्रत्यक्ष होती है। (शत० ब्रा० २।२।१।९)

(२) औचित्य का ध्यान

मतभेदों के पर्यालोचन के पश्चात् यह ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य ने औचित्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। कालगत, देशगत, पात्रगत, वस्तुगत तथा क्रमगत आदि औचित्यों पर भी उनकी दृष्टि थी।

(क) कालगत औचित्य

याज्ञवल्क्य पूर्णमासी के पहले (शुक्ल चतुर्दशी) को ही उपवास का विधान करते हैं। कुछ आचार्य पूर्णमासी के दिन ही उपवास तिथि का निर्धारण करते हैं। उन आचार्यों के विचार से इस प्रकार शत्रु को पीछे से आहत किया जाता है और वह उसका प्रतिकार भी नहीं कर पाता। याज्ञवल्क्य इसका विरोध करते हैं क्योंकि इस प्रकार अन्य व्यक्ति द्वारा मृत किये गये व्यक्ति का हनन किया जाता है। अपने मत की पुष्टि में वे एक आख्यायिका प्रस्तुत करते हैं–

'संवत्सरात्मक प्रजापति की सब सन्धियां खुल गयीं थीं। देवों ने पौर्णमास हविष् द्वारा उनका इलाज किया। (शत० ब्रा० १।६।३।३६) प्रजापति स्वस्थ हो गये ओर वे भोजनार्थ स्वयं उठ खड़े हुए। यह जानते हुए जो पूर्व पूर्णमासी को उपवास करता है वह प्रजापति की गात्र-सन्धियों को यथा समय जोड़ता है और प्रजापति उस पर अनुग्रह करते हैं। पूर्व पूणमासो को उपवास करने वाला यजमान प्रजापति के सदृश अन्नोपभोक्ता होता है। अत: पूर्णमासी के पूर्व उपवास करने में औचित्य है। (शत० ब्रा० १।६।३।३७) दर्शयाग की उपवास-तिथि के विषय में मतभेद उपस्थित होने पर कुछ आचार्य चतुर्दशी युक्त अमावस्या को उपवास करने का विधान करते हैं। उनका विचार है कि चन्द्र-दर्शन रहित दिन में उपवास नहीं करना चाहिए क्योंकि चन्द्रमा देवों का अक्षीण अन्न है, उसके क्षीण होने से पूर्व ही देवों को अन्न भेजा जाता है। याज्ञवल्क्य इन आचार्यों से असहमत हैं। वे अमावस्या तिथि को ही उपवास के लिए विधान करते हैं। (शत० ब्रा० १।६।४।१४) उनके मत से सोम राजा अमावस्या को पृथ्वी पर आगमन करते हैं इसीलिए वे दृष्टिगत नहीं होते। पशु-प्राप्त दूध ही सोम राजा हैं। एक आख्यायिका से यह स्पष्ट करते हैं कि सोम अमावस्या की रात्रि मे पृथ्वी लोक पर आकर ओषधियों में प्रविष्ट हो जाते हैं और बाद में दृष्टिगत होते हैं। (शत० ब्रा० १।६।४।१५) उनके मत से देवों का अन्न क्षीण

नहीं होता। इस प्रकार जो यजमान आगामिनी इष्टि के लिए अमावस्या को उपवास करता है अथवा जो इस बात को जानता है, उन दोनों का कल्याण होता है। (शत० ब्रा० १।६।४।१६)

कुछ आचार्य अग्न्याधानार्थ सूर्योदय से पूर्व अग्निमन्थन करते हैं। याज्ञवल्क्य सूर्योदय के पश्चात् उसका विधान करते हैं। उपर्युक्त मत को दोषपूर्ण बताते हुए उनका कथन है कि सूर्योदय से पूर्व अग्निमंथन करने से दोनों अग्नियों का आधान सूर्योदय से ही हो जाता है, सूर्योदय के पश्चात् किया जाने वाला अग्नि-मन्थन अधिक फल प्रदान करता है। (शत० ब्रा० २।१।४।१८) सोमयागीय दीक्षा सम्बन्धित वाग्विसर्जन के लिए अन्य आचार्यों द्वारा प्रथम नक्षत्र के दृष्टिगत होने पर वाग्विसर्जन का विधान करने वाले मत के विरोध में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मेघाच्छन्न होने पर, नक्षत्र दर्शन न होने से वाग्विसर्जन भी न हो सकेगा। अत: सूर्यास्त के समय ही वाग्विसर्जन करना उचित है। (शत० ब्रा० ३।२।२।५,) सोमयाग में एकादश यूपों के प्रतिष्ठापनार्थ कुछ याज्ञिक सब यूपों को सुत्या के पूर्व दिन ही प्रतिष्ठापित करने का निर्देश करते हैं। पहले दिन अन्य सब यूपों के प्रतिष्ठापित होने पर एक (जिसे अध्वर्यु स्पर्श किये रहता है) के अतिरिक्त अन्य यूप रात्रि भर नग्नावस्था में ही रहते हैं जो सर्वथा अनुचित है। (शत० ब्रा० ३।७।२।४,) इस प्रकार अनेक स्थलों पर औचित्य के परिपालनार्थ विधान प्रस्तुत किये गये हैं। वाजपेययाग में अग्निस्विष्टकृद्याग, इडोपाह्वान, माहेन्द्र ग्रह-ग्रहण सम्पन्न होने पर स्तोत्र-शस्त्र का पाठ होना चाहिए। यजमान को सोमाभिषवण करते हुए आसन्दी से अवरोहण कर स्तोत्र-शस्त्र के लिए अनुगमन करना चाहिए। (शत० ब्रा० ५।२।३।१९) अन्य आचार्यों के मतानुसार स्तोत्र-शस्त्र पाठ के अनन्तर यजमान को आसन्दी पर से अवरोहण करना चाहिए। याज्ञवल्क्य के विचार से यह दोषपूर्ण है। इस प्रकार के अनुष्ठान से अध्वर्यु यजमान का विनाश करता है, यजमान वक्र गति से गमन करता है और यज्ञ-मार्ग से स्खलित होता है। अत: यजमान के अवरोहणानन्तर ही स्तोत्र-शस्त्र का पाठ होना चाहिए। (शत० ब्रा० ५।२।३।२०)

याज्ञवल्क्य अमावस्या को अग्न्याधान का विधान करते हैं। अमावस्या रूप द्वार अनावृत रहता है उससे यज्ञ में प्रवेश पाकर स्वर्ग लोक पहुंचा जाता है। (शत० ब्रा० ११।१।१।२) तैत्तिरीय शाखा के आचार्य कृत्तिकादि नक्षत्रों में अग्न्याधान करते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत को अनौचित्यपूर्ण समझते हैं क्योंकि इसके अनुसार अनुष्ठान करने पर द्वारवर्जित प्रवेश से वक्रपुर में प्रवेश करने की

असफल चेष्टा की जाती है। (शत० ब्रा० ११।१।१।३) याज्ञवल्क्य वैशाख मास की अमावस्या को अग्न्याधान का विधान करते हैं। वह वैशाखी अमावस्या रोहिणी नक्षत्र से युक्त होती है। रोहिणी का अर्थ आत्मा, प्रजा एव पशु होता है अतः रोहिणी में आधान करने से यजमान आत्मा, प्रजा तथा पशु में प्रतिष्ठित होता है। (शत० ब्रा० ११।१।१।४)

(ख) देशगत औचित्य

याज्ञवल्क्य विशिष्ट कार्य के सम्पादनार्थ देशगत औचित्य का भी ध्यान रखते हैं। वे वेदी के अन्तर्गत आज्यासादन का विधान करते हैं। कृष्णयजुर्वेदीय आचार्य वेदी के अन्तर्गत आज्यासादन का निषेध करते हैं। उन आचार्यों के विचार से वेदी के समीप देवता रहते हैं। पत्नी-संयाज के समय आज्य में देवपत्नियों का भी अंश होने के कारण देवों के समीप देवपत्नियों का आगमन होने पर यजमान-पत्नी पुंश्चली हो जायगी। याज्ञवल्क्य इस मत के विरोध में कहते हैं कि यजमान पत्नी पुंश्चली हो जाय या जो कुछ भी हो इससे क्या प्रयोजन? इस बात को कौन महत्त्व देगा? वेदी यज्ञ है, आज्य यज्ञ है, वेदी के अन्तर्गत आज्यासादन से वेदी रूप यज्ञ से आज्य रूपी यज्ञ का निर्माण होता है। अतः वेदी के अन्तर्गत ही आज्यासादन करना उचित है। (शत० ब्रा० १।३।१।२१) याज्ञवल्क्य देशगत औचित्य को देखते हैं। वे यजमाग-पत्नी के परःपुंसा होने के बहाने को महत्त्व नहीं देते क्योंकि यह कौन जानता है कि बाद में यजमान पत्नी परःपुंसा होगी या नहीं, हो सकता है कि वेदी के अन्तर्गत आज्यासादन न करने पर भी वह परःपुंसा (पुंश्चली) हो जाय। हविःश्रपण (पाक) स्थान के विषय में विरोध होने पर आहवनीय में हविष्प्रदान से देवों द्वारा स्वर्ग प्राप्ति के कारण कुछ आचार्य आहवनीयागार में ही हविष्-श्रपण और हवन कर्म सम्पन्न करने के लिए मत प्रस्तुत करते हैं। (शत० ब्रा० १।७।३।२६) अन्य आचार्य गार्हपत्यागार में हविःश्रपण का विधान करते हैं। उनके विचार से आहवनीयाग्नि में पक्व हविष् का हवन होना चाहिए अपक्व हविष् का पाक कर्म नहीं। याज्ञवल्क्य दोनों आगारों में से किसी भी एक आगार में हविष् पकाने का विधान करते हैं। (शत० ब्रा० १।७ ३।२७) यद्यपि याज्ञवल्क्य ने दोनों अग्न्यागारों में विकल्प प्रस्तुत किया है तथापि द्वितीय मत अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि लोक-व्यवहार में भी अन्न का पाक कर्म अन्यत्र होता है और अशन कर्म अन्यत्र। किसी व्यक्ति को रसोईं में ही भोजन नहीं कराया जाता। गार्हपत्यागार हविःश्रपणार्थ है तथा आहवनीयागार हविष् हवनार्थ अर्थात् गार्हपत्यागार तथा आहवनीयागार क्रमशः रसोईंघर एवं भोजन करने के स्थान कहे जा सकते हैं।

अतः रसोई घर में भोजन करना अनौचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। कुछ आचार्य स्रुक् सम्मार्जनानन्तर आहवनीयागार में वेदाग्रों, कुशाग्रों का प्रक्षेपण करने के लिए मत प्रस्तुत करते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं कि हविष्-प्रदान से पूर्व अग्नि में कुशाग्र-प्रक्षेपण भोजन के लिए बैठे हुए व्यक्ति को भोजन देने से पूर्व पात्र-प्रक्षालनार्थ प्रयुक्त जल को पिलाने के समान होगा। याज्ञवल्क्य के मत से कुशाग्रों का प्रक्षेपण उत्कर में ही करना चाहिए। (शत० ब्रा० १।३।१।१२)

चयनयाग में अध्वर्यु हिरण्य पुरुष के सामने दो रेखाएँ खींचकर बाहुकरण के लिए दो स्रुक्पात्र रखता है। (शत० ब्रा० ७।४।१।४३) कुछ आचार्य दोनों स्रुक् पात्रों को दक्षिण तथा उत्तर अग्र भाग कर रखने का निर्देश करते हैं। इस प्रकार दक्षिण तथा उत्तर बाहुओं को रखते हैं। (शत० ब्रा० ७।४।१।४४) याज्ञवल्क्य दोनों स्रुक् पात्रों को पूर्व की ओर अग्रभाग कर आसादित करने का मत प्रस्तुत करते हैं क्योंकि अग्निवेदी का सिर पूर्व की ओर होता है और उसके पार्श्व में रखी गयी बाहुएँ शक्तिशालिनी होती हैं। (शत० ब्रा० ७।४।१।४४) अग्निचयन में ही वाजप्रसवीय होम के अनन्तर वेदी की उत्तर दिशा में यजमानाभिषेक सम्पन्न होना चाहिए। (शत० ब्रा० ९।३।४।१०) अभिषेक के लिए दक्षिण दिशा का विधान करने वाले मत के विरोध में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि दक्षिण दिशा पितरों से सम्बन्धित होने के कारण यजमान भी उसी दिशा को प्राप्त होता है। (शत० ब्रा० ९।३।४।११) अन्य आचार्यों द्वारा आहवनीय के समीप अभिषेक के लिए प्रस्तुत किये गये मत के खण्डन में याज्ञवल्क्य का कथन है कि आहवनीय यजमान का दैवी शरीर है तथा उसका सत्य शरीर मानुष है। आहवनीय के समीपअभिषेक होने से यजमान के दैवी शरीर को मानुष शरीर से संयुक्त किया जाता है जो उचित नहीं है। (शत० ब्रा० ९।१।४।१२) उनके मतानुसार मनुष्यों से सम्बन्धित होने के कारण उत्तर-पूर्व दिशा में ही यजमाना-भिषेक-सम्पादन उचित है। उत्तर दिशा में अभिषेक होने से अपनी ही दिशा में स्थित हुए व्यक्ति का अभिषेक होता है साथ ही अपने आयतन (स्थान) में प्रतिष्ठित हुआ व्यक्ति विनष्ट नहीं होता है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने देशगत औचित्य की रक्षा के लिए सफल एवं स्तुत्य प्रयास किया है।

(ग) वस्तुगत औचित्य

याज्ञवल्क्य किसी भी कर्म में प्रयुक्त वस्तु के प्रयोग का औचित्य देखते हैं। प्रवर्ग्य याग में घर्म (प्रवर्ग्य) होमार्थ मृत्तिका-निर्मित महावीर पात्र का प्रयोग होता है जब कि प्रायः देवताओं की आहुति के लिए काष्ठनिर्मित पात्र ही प्रयुक्त

होते हैं। तैत्तिरीय शाखा के आचार्य आक्षेप करते हैं। याज्ञवल्क्य इस कर्म के लिए मृत्तिका निर्मित महावीर पात्र का औचित्य बताकर उसका समाधान करते हैं क्योंकि तप्त करने पर काष्ठ निर्मित महावीर पात्र जल जायगा, स्वर्ण निर्मित महावीर पात्र विलीन हो जायगा, कांसे आदि से बना हुआ महावीर पात्र गल जायगा, पाषाण निर्मित महावीर पात्र दोनों संदन्शों (जिनसे महावीर को पकड़ते हैं) को जला देगा किन्तु मृत्तिकानिर्मित महावीर पात्र पर ताप का कोई भी प्रभाव नही पड़ता। अत: धर्म हविष् हवनार्थ मृत्तिका निर्मित महावीर ही प्रयुक्त होता है। (शत० ब्रा०१४।२।२।५४) दर्श पूर्णमास के प्रसंग में कुछ आचार्य इध्मकाष्ठों से ही परिधि के लिए तीन काष्ठ ग्रहण करते हैं। उनके विचार से परिधि के लिए अलग से काष्ठाहरण की आवश्यकता नहीं हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं कि अग्निसमिन्धनार्थ (जलाने के लिए) लाये गये इध्मकाष्ठ परिधि द्वारा सम्पादित होने वाले कार्य में अपूर्णता उत्पन्न करेंगे क्योंकि जो वस्तु जिस कार्य के लिए उपयुक्त है वह उसी को पूर्ण बना सकती है। इध्माकाष्ठ अग्नि-प्रज्वलनार्थ हैं, उनमें से लिये गये काष्ठ प्रदीपनार्थ ही होंगे, परिधानार्थ नहीं। (शत० ब्रा० १।३।३।१८) समिन्धनार्थ आहरण किये गये काष्ठों से परिधियों के लिए काष्ठ ग्रहण करना सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य को इन सब बातों का गहन अनुभव था। एक-एक कर्म तद्गत कर्म में विशिष्ट वस्तु का प्रयोग अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

(घ) क्रमगत औचित्य

याज्ञवल्क्य कुशल याज्ञिकाचार्य होने के कारण यज्ञ-विधियों के क्रमगत औचित्य का भी ध्यान रखते हैं जिसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः यज्ञ-विधि में क्रमोल्लंघन करना अनौचित्य प्रदर्शन मात्र है। इसीलिए निर्दिष्ट कर्म के पश्चात् ही विशिष्ट कर्म के सम्पादनार्थ मत प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण स्वरूप प्रवर्ग्य कर्म में जहाँ अन्य आचार्य आप्यायन, अवान्तरदीक्षा तथा तानूनप्त्र का क्रम रखते हैं (शत० ब्रा० ३।४।१।११) याज्ञवल्क्य औचित्य का ध्यान रखते हुए तानूनप्त्र को प्राथमिकता देकर तानूनप्त्र, अवान्तरदीक्षा और आप्यायन का क्रम प्रस्तुत करते हैं। (शत० ब्रा० ३।४।३।१२) तानूनप्त्र को प्राथमिकता देने का कारण यह है कि पहले देवताओं में कलह हुआ था। सर्वप्रथम उन्होंने कलह का शमन किया। यज्ञ सम्पादन तक कलह न करने की प्रतिज्ञा की। अत: तानूनप्त्र कर्म पहले किया जाता है। इस प्रकार पद्धति ही चल पड़ी है कि सब ऋत्विज कलह-निवारण के लिए सर्वप्रथम तानूनप्त्र कर्म सम्पन्न करते

हैं। निर्बाध कर्म समाप्ति के लिए कलह बाधक है अतः उसके प्रतिज्ञा रूप इस कर्म को प्राथमिकता देने में औचित्य है। माध्यंदिन सवन में ग्रहों का ग्रहण-क्रम इस भांति होना चाहिए :—स्रुक्, मन्थी, मरुत्वतीय एवं उक्थ्य। (शत० ब्रा० ४।३।३।२) अन्य आचार्य स्रुक्, मन्थी, उक्थ्य एवं मरुत्वतीय इस क्रम से ग्रह-ग्रहण करते हैं। (शत० ब्रा० ४।३।३।३) याज्ञवल्क्य सदैव पौर्वापर्य का ध्यान रखते हैं अतः उनके मत से माध्यन्दिन सवन में मरुत्वतीय ग्रह-होम के पश्चात् उक्थ्य-होम होने के कारण होमानुसार ग्रहण भी करना उचित होगा। अर्थात् जिस क्रम से ग्रहों का हवन सम्पन्न होता है उसी क्रम से उनका ग्रहण भी उचित है। (शत० ब्रा० ४।३।३।३)

(३) अनौचित्य का ध्यान

याज्ञवल्क्य ने औचित्य के साथ ही साथ अनौचित्य का भी ध्यान रखा है। यज्ञ-विधि में विविध अनौचित्यों पर प्रकाश डाला है जो इस प्रकार हैं :—

(क) नियमोल्लंघन का अनौचित्य

एक बार जिसका विधान हो गया उसका उल्लंघन अनुचित है। अतः याज्ञवल्क्य ने अनौचित्य को दूर करने के लिए सतत प्रयास किया है। पितृ-यज्ञ के प्रकरण में कुछ आचार्य इस यज्ञ में दो ही अनुयाज होने से उपभृत् में दो ही बार आज्य ग्रहण करते हैं। याज्ञवल्क्य का कथन है कि आठ बार आज्य ग्रहण का विधान दर्शपूर्णमास प्रकरण (शत० ब्रा० १।३।२।१८) में हो जाने पर दो बार आज्य ग्रहण से नियमोल्लंघन कर यज्ञ-विधि से अलग कार्य किया जाता है। (शत० ब्रा० २।६।१।१३)

(ख) यज्ञ मार्ग से च्युत करने वाले कर्मों का निरादर

यजमान जिन कर्मों के सम्पादन से च्युत हो सकता है, याज्ञवल्क्य उन कर्मों का विरोध करते हैं। पत्नी-संयाजार्थ अध्वर्यु को आहवनीय से गार्हपत्य को आगमन करते समय किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिए इस विषय में मतभेद है। याज्ञवल्क्य सब मतों को अनौचित्यपूर्ण सिद्ध करते हैं। आहवनीय के पूर्व से होकर आगमन करने से अध्वर्यु अपने को यज्ञ-रहित करता है। (शत० ब्रा० १।६।२।२) यजमान-पत्नी के पीछे (पश्चिम) से आगमन करने पर अध्वर्यु यज्ञ का पूर्वार्द्ध तथा यजमान पत्नी जघनार्द्ध होने से अध्वर्यु अपने सिर को भसत्त (नितम्ब भाग) पर रखता है। (शत० ब्रा० १।६।२।३) गार्हपत्य और पत्नी के बीच से आगमन करने पर यजमान-पत्नी को यज्ञ-विमुख किया जाता

है। इस प्रकार सभी मतों को दोषपूर्ण देखकर याज्ञवल्क्य अध्वर्यु को आहवनीय और गार्हपत्य के मध्य संचरण करने का विधान करते हैं। (शत० ब्रा० १।६।२।४)

(ग) विपरीत कर्मों का निरादर

याज्ञवल्क्य यज्ञ के विपरीत किसी भी कार्य को महत्त्व नहीं देते। कुछ याज्ञिकाचार्य स्विष्टकृन्निगद मन्त्र (शु० य० सं० १९।२४) में आये हुए 'अयाट्' शब्द के 'अयाडग्निरग्ने: प्रियाधामानि, अयाट् सोमस्य प्रियाधामानि' क्रम का उल्लंघन करते हैं और 'अयाट्' शब्द से पूर्व देवता नाम रख कर यह क्रम बनाते हैं —

'अग्नेरयाट्, सोमस्यायाट्'। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं क्योंकि इस प्रकार के अनुष्ठाता यज्ञ के विपरीत कार्य करते हैं। (शत०ब्रा० १।७।३।१२) यज्ञ के विपरीत कार्य करना सर्वथा अनुचित है। अतः याज्ञवल्क्य औचित्य के परिपालनार्थ पाठक्रम में उलट-फेर न कर देवता नाम से पूर्व 'अयाट्' शब्द रखने का निर्देश करते हैं। (पिंड-पितृयज्ञ में जहां अन्य आचार्य 'श्रौषट्' के स्थान पर अध्वर्यु द्वारा 'ओं स्वधा' एवं अग्नीत् द्वारा 'अस्तु स्वधा' तथा वषट् के स्थान पर "स्वधा नमः' कहने का निर्देश करते हैं। (शत० ब्रा० २।६।१।२४), याज्ञवल्क्य आचार्य आसुरि का मत प्रस्तुत करते हुए यज्ञ-विधि के अनुसार कार्य सम्पादनार्थ मत प्रस्तुत करते हैं। (शत० ब्रा० २।६।१।२५) अर्थात् श्रौषट् अस्तु स्वधा एवं स्विष्टकृत् यज्ञ के लिए हवन करते समय पुरोनुवाक्या और याज्या ऋचा सम्बन्धी छन्दों के विषय में मतभेद प्रस्तुत किये जाने पर कुछ आचार्यों द्वारा दोनों ऋचाओं को अनुष्टुप् छन्द में (शत० ब्रा० १।७।३।१८) करने का विधान होने पर याज्ञवल्क्य इन दोनों मतों में से एक को स्वीकार करने का निर्देश करते हैं। उनके विचार से विलोम करना अनौचित्यपूर्ण है। भाल्लवेय ने पुरोनुवाक्या अनुष्टुप् छन्द में तथा याज्या त्रिष्टुप् छन्द में किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वे भ्रमण करते समय रथ से गिर पड़े और उनकी बाहु टूट गयी। बाद में उन्होंने तर्क से यह निश्चय किया कि अविहित करने के कारण ही यह दशा हुई।

(घ) अतिरिक्त कर्मों का निरादर

अग्निचयन में अन्य आचार्य तीन उखा का किन्तु याज्ञवल्क्य एक ही उखा का विधान करते हैं एवं उखा-संख्या-वृद्धि को अतिरिक्त कार्य मानते हैं। उनके विचार से अतिरिक्त किया जाने वाला भाग यजमान के शत्रु को पहुंचता है। अतः अतिरिक्त कार्य करना सर्वथा अनुचित है। (शत० ब्रा० ६।५।२।२२)

अग्निवेदी की प्रथम चिति में पचास प्राणभृत् इष्टकाओं का उपधान किया जाता है जिनमें पूर्व भाग में उपहित की जाने वाली इष्टकाएं प्राणभृत्, पश्चिम में उपहित होने वाली इष्टकाएं चक्षुभृत् या अपानभृत्, दक्षिण की ओर उपहित की जाने वाली इष्टकाएं मनोभृत्, या व्यानभृत्, उत्तर की ओर उपहित की जाने वाली इष्टकाएं श्रोत्रभृत् या उदानभृत् एवं मध्य में उपहित होने वाली इष्टकाएं वाग्भृत् या समानभृत् हैं। (शत० ब्रा० ८।१।३।६) इसके विपरीत चरक आचार्य अपनाभृत्, व्यानभृत्, उदानभृत्, समानभृत्, चक्षुभृत्, श्रोत्रभृत् तथा वाग्भृत्—इस क्रम से इष्टकाओं का उाधान करते हैं। याज्ञवल्क्य के विचार से इस अनुष्ठान द्वारा अतिरिक्त कार्य किया जाता है जो अनौचित्यपूर्ण है। प्रथम मत के अनुसार उपधान करने से अग्निवेदी में सब रूप उपहित हो जाते हैं। (शत० ब्रा ८।१।३।७)

चतुर्थ चिति में चतुर्दश इष्टकाओं (ईंटों) की उपधान-दिशा में मतभेद होने पर कुछ आचार्य त्रिवृत् स्तोम से युक्त दो इष्टकाओं के अनन्तर ही चतुर्दश इष्टकाओं का उपधान चाहते हैं क्योंकि वे दो इष्टकाएं जिह्वा तथा हनू (जबड़े) हैं। चतुर्दश इष्टकाएं हनू हैं, उनके पश्चिम उपहित की जाने वाली छः इष्टकाएं जिह्वा हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं यह उसी प्रकार होगा जैसे पूर्व वर्तमान हनू तथा जिह्वा पर अन्य हनू एवं जिह्वा रखे जायें। (शत० ब्रा० ८।४।४।९,) वस्तुतः हनू पर हनू एवं जिह्वा पर जिह्वा रख कर रूप के औचित्य की रक्षा नहीं की जाती। याज्ञवल्क्य के मतानुसार ऋतव्या इष्टकाए संयानी (सोपान) हैं क्योंकि इनकी सहायता से देवों ने लोकों पर आरोहण कर वहां से प्रत्यारोहण किया। (शत० ब्रा० ८।७।१।१३) चरक आचार्य संयानी के लिए अन्य इष्टकाओं का उपधान करते हैं। याज्ञवल्क्य यज्ञ-कर्म में अतिरिक्तता का दोष नहीं आने देना चाहते। इसीलिए वे संयानी के लिए अलग से इष्टकाओं का उपधान करने का विधान नहीं करते। (शत० ब्रा० ८।७।१।१४) यज्ञ-विधि में अतिरिक्तता का दोष सर्वथा अनौचित्यपूर्ण है।

(४) बुद्धि का अवलम्बन

याज्ञवल्क्य का बौद्धिक पक्ष उच्चकोटि का है। यह बुद्धि उनकी प्रतिभा की उन्नेत्री है। उनके बौद्धिक पक्ष का दर्शन विविध रूपों में किया जा सकता है—

(क) कर्ता के व्यक्तित्व में अपरिवर्तन

दर्शेष्टि में तैत्तिरीय शाखा के आचार्य इन्द्र को 'महेन्द्राय सान्नाय्यम्' कहकर सान्नाय्य प्रदान करते हैं। उनके विचार से इन्द्र वृत्रहनन के पूर्व इन्द्र थे

किन्तु वृत्र हनन के अनन्तर वे महेन्द्र हो गये। आज भी विजय करने के पश्चात् एक राजा को 'महाराज' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार 'इन्द्र' को ही सम्बोधित कर सान्नाय्य देना चाहिए क्योंकि वृत्रहनन के पूर्व भी इन्द्र थे और वृत्रहनन के पश्चात् भी इन्द्र ही हैं। (शत० ब्रा० १।६।४।२१) महत्त्वपूर्ण कार्य कर लेने पर बड़ा नाम हो जाय यह याज्ञवल्क्य नहीं मानते।

(ख) शब्द–प्रयोग के प्रति सजगता

याज्ञवल्क्य प्रत्येक शब्द–प्रयोग के प्रति सजग रहते हैं। एक शब्द के स्थान पर अन्य शब्द रखने से या उसमें कुछ और संयुक्त कर देने से अर्थ में भी परिवर्तन आ जाता है। उदाहरणस्वरूप दर्शेष्टि में अध्वर्यु बछडों का स्पर्श करते समय 'वायव: स्थ' मन्त्र का उच्चारण भी करता है। तैत्तिरीय शाखा में (तै० सं० १।१।१) 'वायव:स्थ' के स्थान पर 'उपायव:स्थ' पाठ मिलता है। याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं। उनके अनुसार उप का अर्थ द्वितीय और द्वितीय का अर्थ शत्रु होता है। (शत० ब्रा० १।७।१।३) अन्य आचार्य 'वायव:स्थ' और 'उपायव:स्थ' को भले ही एक समझें किन्तु याज्ञवल्क्य तो प्रत्येक शब्द का महत्त्व समझते हैं। इसीलिए बौद्धिक पक्ष का अवलम्बन कर उन्होंने पाठभेदादि का विरोध किया है। उन्होंने उपायव:स्थ पदरचना पर ध्यान देते थे, अन्य आचार्य इसके प्रति उदासीन थे। उन्होंने 'उपायव:स्थ' के स्थान पर 'वायव:स्थ' का उच्चारण कर पाठ में सुधार किया है।

(ग) यज्ञ विज्ञान में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का महत्त्व

यज्ञ-विज्ञान में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द अपना महत्त्व रखता है। समिधेनी ऋचाओं के पाठ से पूर्व अध्वर्यु द्वारा होता के प्रति 'अग्नये समिध्यमानायानुब्रूहि' (शत० ब्रा० १।३।५।२) प्रैष मन्त्र का विधान है। अन्य आचार्य इसके स्थान पर 'अग्नये समिध्यमनाय होतरनुब्रूहि' प्रैष मन्त्र का प्रयोग करते हैं। इस मत के विपरीत याज्ञवल्क्य का कथन है कि विना वरण कर्म सम्पन्न हुए होता कैसे हो सकता है, 'तदु तथा न ब्रूयादहोता वा एष पुरा भवति यदेवैनं प्रवृणीतेऽथ होता तस्मादु ब्रूयादग्नये समिध्यमानायानुब्रूहीत्येव।' (शत० ब्रा० १।३।५।३) यह बुद्धिग्राह्य है क्योंकि आज भी निर्वाचन के विना किसी व्यक्ति विशेष को पद नहीं दिया जाता। शब्द-चयन में याज्ञवल्क्य की बुद्धि का विकास दर्शनीय है। अध्वर्यु द्वारा प्रस्तोता के प्रति प्रयुक्त 'साम गाय' (शत० ब्रा० १४।३।१।१०) प्रैषमन्त्र के स्थान पर अन्य शाखा के आचार्य 'साम ब्रूहि' का विधान करते

हैं। याज्ञवल्क्य का तर्क है कि साम द्वारा गायन तथा ऋचा द्वारा अनुवचन होता है। गीत्यात्मक होने के कारण साम का गायन ही होता है अतः 'सामगाय' प्रैष मन्त्र कहना सर्वथा तर्कसंगत है। (शत० ब्रा० १४।३।१।१५)

(घ) ज्ञान का महत्त्व

याज्ञवल्क्य ज्ञान को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। उनके अन्दर ज्ञानियों के प्रति आस्था है। कुछ आचार्यों द्वारा 'देवयजन पूर्व की ओर न बढ़ाना चाहिए' प्रतिपादित मन्त्र के विरोध में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस पृथ्वी पर किसी भी स्थान पर यज्ञ सम्पन्न हो सकते हैं क्योंकि ऋत्विज ही देवयजन का चुनाव करते हैं, वे ही यज्ञ-सम्पादन में मध्यस्थ होते हैं। जहाँ वेद-शास्त्र में पारगत, सांगप्रवचन के अध्येता विद्वान् ऋत्विज यज्ञ सम्पादन कराते हैं, वहां कोई दोष नहीं उपस्थित होता, वह देवयजन देवताओं के अधिक समीप होता है। (शत० ब्रा० ३।१।१।५) इस प्रकार ज्ञान को महत्ता देकर याज्ञवल्क्य ने अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मत का खण्डन किया है।

(५) व्यावहारिकता

याज्ञवल्क्य एक व्यवहारकुशल याज्ञिकाचार्य हैं। वे व्यावहारिक ज्ञान को समुचित स्थान देते हैं। इस विषय में कई स्रोतों से प्रकाश पड़ता है।

(क) लोक-व्यवहार के प्रति समादर की दृष्टि

याज्ञिक विधियों में तर्कों को पुष्ट करने के लिए लोक-व्यवहार को भी आधार बनाया गया है। उदाहरण स्वरूप आतिथ्येष्टि के प्रसंग में शकट से दोनों वृषभों को अलग कर, शकट पर से सोम को उतारते हैं। सोम को शाला में ले जाने के बाद हविर्ग्रहण सम्पन्न होता हैं क्योंकि लोक-व्यवहार में भी जब तक कोई अतिथि अपना यान छोड़कर नहीं आता तब तक न तो उसे स्वागतार्थ जल प्रदान किया जाता है और न उसका कोई सम्मान ही होता है। यान छोड़ने पर ही उसका सम्मान होता है। इस प्रकार सोम राजा के आगमन होने पर हविर्ग्रहण करना उचित होगा। (शत० ब्रा० ३।४।१।५) इस प्रकार एक वृषभ को युग से अलग कर दूसरे को युग में लगे रहने देने वाले मत का खण्डन हो जाता है क्योंकि उस समय तक तो अतिथि का आगमन ही नहीं हुआ, स्वागत की बात तो दूर रही। लोक में भी देखा जाता है कि किसी अर्हन्त (पूज्य व्यक्ति) के आगमन पर सम्पूर्ण परिवार उसकी सेवा-सुश्रूषा में लगा रहता है। (शत० ब्रा० ३।४।१।६)

व्यूढ–द्वादशाहयाग में अन्य आचार्यों द्वारा ग्रह-व्यूहन का निषेध करने पर याज्ञवल्क्य ग्रहों को द्वादशाह यज्ञ का अंग मानते हैं। उनके विचार से ग्रहों का व्यूहन (स्थानान्तरण) सोये हुए व्यक्तिद्वारा इच्छानुसार अगों को घुमाने के समान है। (शत० ब्रा० ४।५।९।११) इस भांति याज्ञवल्क्य लौकिक व्यवहार का आश्रयण कर अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मत का निराकरण करते हैं। अग्निचयन में आहुति-प्रदान के समय अध्वर्यु अग्निवेदी पर किस दिशा से आरोहण करे 'इस विषय में अन्य आचार्य पूर्व (सामने) से पश्चिम की ओर या पश्चिम से पूर्व की ओर आरोहण करने का मत प्रस्तुत करते हैं। याज्ञवल्क्य अग्निवेदी को पशु के रूप में कल्पित करते हैं। उनके विचार से पूर्व से आरोहण करने पर वह पशु सींग से एवं पश्चिम दिशा से आरोहण करने पर वह पिछले पैरों से आहत करेगा। लौकिक व्यवहार का आश्रयण लेकर याज्ञवल्क्य अग्निवेदी पर उत्तर दिशा (मध्य शरीर) से आरोहण करने का मत प्रस्तुत करते हैं। जैसे कि लोक-व्यवहार में अश्वादि पशुओं पर वामपार्श्व से ही आरोहण किया जाता है। (शत० ब्रा० ७।३।२।१७) व्यवहारिकता के प्रसग में एक मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—कुछ आचार्यों के विचार मे अभ्रि एक ओर तेज होनी चाहिए क्योंकि जिह्वा भी एक ही ओर तेज होती है। इसके विपरीत याज्ञवल्क्य कहते हैं कि अभ्रि दोनों ओर तेज होनी चाहिए क्योंकि जिह्वा भी दोनों ओर तेज होती है। वह देवभाषा तथा मनुष्य की भाषा बोलती है, वह सत्य के साथ असत्य-भाषण भी करती है।

(ख) प्राकृतिक व्यवहार के प्रति आस्था

याज्ञवल्क्य सृष्टि में प्रकृति द्वारा किये जाने वाले व्यवहारों के प्रति समादर की दृष्टि रखते हैं और अपने मत को सबल बनाने के लिए यत्र-तत्र उनका सदुपयोग भी करते हैं। उदाहरण स्वरूप वेदी को स्त्री मान कर उसका पश्चिमांश (पिछला भाग) पृथु चौड़ा करने का निर्देश करते हैं क्योंकि स्त्री का पिछला भाग (नितम्ब भाग) अधिक होता है। (शत० ब्रा० ३।५।१।११) दधि-ग्रह से दधि-ग्रहण करने की दिशा में मतभेद उपस्थित होने पर तैत्तिरीय शाखा के आचार्य (तै० सं० ६.५।६।४) ग्रह के मध्य से दधि-ग्रहण का निर्देश करते हैं। याज्ञवल्क्य पश्चिम (पिछले) भाग से दधि निकालने का आदेश देते हैं। इसका कारण यह है कि पशुओं में पिछले भाग में ही दूध होता है। (शत० ब्रा० ४।३।५।१३) वास्तविकता तो यही है कि पशु के पिछले भाग में ही दूध होता है। अतः पश्चिम से दधि का ग्रहण करने में व्यवहार की रक्षा है।

(ग) यज्ञ, देवता और मन्त्र में सम्बन्ध की स्थापना

सम्बन्ध का भी अपना एक स्थान है। याज्ञवल्क्य द्वारा प्रस्तुत किये गये मतों के आधारभूत कारणों की मीमांसा करने पर प्रस्तुत कारणों में सम्बन्ध-वृद्धि की भावना का भी यथेष्ट दर्शन होता है। याज्ञवल्क्य यज्ञ-देवता का, देवता-देवता का तथा मन्त्र-देवता का सम्बन्ध बने रहने के पक्ष में प्रतीत होते हैं। देवता-सम्बन्ध ही नहीं, राजा-प्रजा का भी सम्बन्ध बना रहना चाहिए। उनकी दृष्टि में सम्बन्ध-वृद्धि दोनों पक्षों के लिए हितकर है। उदाहरण स्वरूप अश्वमेध यज्ञ में प्रयुक्त प्रजापति से सम्बन्धित अश्व के आप्रीकरणार्थ कुछ आचार्य वार्हदुक्थ मन्त्र समूह (शु० य० सं० २६।१-११) से आप्रीकरण करने का मत प्रस्तुत करते हैं। याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत में सम्बन्ध का अभाव देख कर एकादश जामदग्न्य (जमदग्नि से सम्बन्धित) मन्त्र-समूह (शु०य०सं० २६,२५-३६) से आप्रीकरण करने का मत प्रस्तुत करते हैं क्योंकि जमदग्नि प्रजापति हैं और प्रजापति ही अश्वमेध है। अतः उसी के देवता द्वारा अश्वमेध को समृद्ध किया जाता है। (शत० ब्रा० १३।२।२।१४)

इष्टकाचयनयाग में इष्टकाओं के उपधानार्थ प्रयोग किये जाने वाले मन्त्रों के विषय में कुछ आचार्य 'लोकंपृण, छिद्रं पृण' (शु० य०सं० १५।५६) मन्त्र से इष्टकोपधान करते हैं। (शत० ब्रा० ६।१।२।२४) याज्ञवल्क्य सम्बन्ध को दृष्टि में रखकर 'चिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद ध्रुवासीद। परिचिदसि तया देवतयाऽङ्गिरस्वद् ध्रुवासीद्।' (शु० य० सं० १२।५३) मन्त्र के साथ इष्टकोपधान का मत प्रस्तुत करते हैं। उनके विचार से इस प्रकार वाणी और श्वास से वेदी का निर्माण होता है क्योंकि अग्नि वाणी और इन्द्र श्वास हैं। इन्द्र और अग्नि देवताओं से सम्बन्धित हैं। अग्नि की महत्ता के अनुसार ही अग्निवेदी का निर्माण होता है। (शत० ब्रा० ६।१।२।२८) अग्नि चयन याग में आहवनीय के प्रति अग्नि प्रणयनार्थ प्रयुक्त प्रथम मन्त्र के विषय में अन्य आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किये गये—

'पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः।

जुषन्तां यज्ञमद्रुहो नमीवा इषो महीः॥ (शु० य० सं० १२।५०) मन्त्र का निषेध कर याज्ञवल्क्य—

'आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।

अग्ने त्वांकामयागिरा। (शु० य० सं० १२।११५), मन्त्र का विधान करते हैं क्योंकि अग्नि-प्रणयन के समय अग्नि सम्बन्धित कामवती गायत्री ऋचाओं का प्रयोग सर्वोत्तम है।

(घ) शक्याशक्य विचार

अन्य बातों को महत्त्व देने के साथ याज्ञवल्क्य शक्याशक्य पर भी समुचित विचार करते हैं। कोई भी प्राणी अपने सामर्थ्यानुसार ही कार्य कर सकता है। सामर्थ्य की एक सीमा होती है जिससे याज्ञवल्क्य पूर्ण परिचित हैं। सामर्थ्य से अधिक कार्यभार हो जाने पर कर्ता को भी कष्ट होगा और कार्य भी उचित रूप से पूर्ण न हो सकेगा। उदाहरण स्वरूप प्रवर्ग्य यज्ञ में यजमान के लिए अनेक कठिन नियम बताये गये हैं जैसे प्रवर्ग्य कर्म में वर्तमान शरीर का आच्छादन, सूर्य के प्रकाशित रहने पर निष्ठीवन, सूर्य के तपते रहने पर मूत्रविसर्जनादि कर्म न करना चाहिए तथा काष्ठादि से अग्नि प्रज्जवलित कर रात्रि में भोजन करना चाहिए। याज्ञवल्क्य मानव-सामर्थ्य की सीमा से अवगत हैं। वे इस प्रकार के अशक्य नियमों के परिपालन पर बल नहीं देते। इन नियमों के स्थान पर सत्यभाषण का विधान करते हैं। (शत० ब्रा० १४।१।१।३३) सत्य-भाषण से ही यजमान अन्य कठिन नियम-पालन का फल प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार दशपेययाग में कुछ आचार्य चमसपान करने वाले दसों व्यक्तियों को चमसपानार्थ यजमान के दस सोमपान करने वाले पितामहों का नाम-परिगणन कर प्रसर्पण के लिए मत प्रस्तुत करते हैं। (शत० ब्रा० ५।४।५।४) याज्ञवल्क्य उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं क्योंकि यह उन दसों व्यक्तियों पर भारस्वरूप होगा। उनका कथन है कि यदि किसी मनुष्य से उसके पितामहों को पूछा जाय तो वह बड़ी कठिनाई से सोमपान करने वाले दो या तीन पितामहों के नाम ही बता सकता है। अतः किसी से सामर्थ्य से अधिक कार्य नहीं करना चाहिए। याज्ञवल्क्य यहां नियम शिथिल कर देते हैं और संसृप देवताओं की सख्या का परिगणन कर अनुसर्पण का विधान करते हैं। (शत० ब्रा० ५।४।५।५)

याज्ञवल्क्य मानव-सामर्थ्य का ही नहीं अपितु छन्द-सामर्थ्य का भी ध्यान रखते हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ आचार्य 'पृथु पाजा (ऋ० सं० ३।२७।५)' तं सबाधो यतस्रुच' (ऋ० सं ३।२७।६) दो धाय्या ऋचाओं को अष्टमी सामिधेनी ऋचा 'अग्निं दूतं वृणीमहे' (ऋ० सं० १।१२।१) के पूर्व रखते हैं। याज्ञवल्क्य अष्टमी ऋक् के सामर्थ्य को ध्यान में रखते हुए उपर्युक्त मत का निषेध करते हैं और दोनों ऋचाओं को अष्टमी ऋक् के पश्चात् नवीं तथा दसवीं के बीच पढ़ने का निर्देश करते हैं। आठवीं के पूर्व दोनों धाय्या ऋचाओं के पाठ से अष्टमी ऋक् में गायत्री का सामर्थ्य नहीं रहेगा क्योंकि वह दसवीं हो जायगी। (शत० ब्रा० १।४।१।३७) किसी का सामर्थ्य यथोचित स्थान पर ही यथोचित रूप से रहता है।

(ङ०) उपयोगी और अनुपयोगी का विचार

याज्ञवल्क्य को प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता का भी ध्यान रहता है। उपयोगिता न रहने पर तो वह वस्तु व्यर्थ ही होगी। उदाहरणस्वरूप कुछ याज्ञिकाचार्य अग्निहोत्र के लिए प्रयुक्त दूध को बुदबुदे उठने के समय तक पकाने का निर्देश करते हैं। (शत ब्रा० २।३।१।१४) याज्ञवल्क्य दूध को अग्नि का वीर्य बताते हैं। वीर्य रूप दूध को पकाने से उसे जलाकर अनुपयोगी भी बनाया जाता है। वीर्य के सदैव उष्ण रहने के कारण दूध को कुछ समय के लिए अग्नि पर रख कर हवन करना चाहिए। (शत० ब्रा० २।३।१।१५)

(च) भेद-दृष्टि का अभाव

व्यावहारिकता की रक्षा में भेद-दृष्टि के अभाव का एक विशिष्ट स्थान है। याज्ञिक समाज में याज्ञवल्क्य यज्ञ-सम्पादकों को समान दृष्टि से देखते हैं। सब वर्णों के प्रति समभाव रखते हैं। यज्ञ-सम्पादन में सहायक सब पशुओं को एक समान दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि में कोई छोटा-बड़ा नहीं है। अग्न्याधान के प्रसंग में कुछ आचार्य होता, अध्वर्यु, अग्नीत् तथा ब्रह्मा के लिए ओदन (ऋत्विज ब्राह्मणों के लिए पकाया जाने वाला ओदन) पकाने का मत प्रस्तुत करते हैं। याज्ञवल्क्य ब्रह्मौदन-पाक का निषेध करते हैं क्योंकि यज्ञ के दिन यजमान के घर में ब्राह्मणों (यज्ञ-सम्पादक तथा असम्पादक) के निवास मात्र से ही ओदनाशन कराने से प्राप्त होने वाली कामना पूर्ण हो जाती है। (शत० ब्रा० २।१।४।४) ब्रह्मौदन-पाक के निषेध करने का कारण यह हो सकता है कि याज्ञवल्क्य ने यह विचार किया होगा कि चार ब्राह्मणों के लिए ओदन पकाने पर अन्य असम्पादक ब्राह्मण भी ओदनार्थ लालापित होंगे। फलतः चार ब्राह्मण भोजन करें और अन्य बिना भोजन के रहें यह उचित नहीं हैं। ब्रह्मौदन पकाने से सम्पादक तथा असम्पादक ब्राह्मणों में भेदकर व्यवहार की रक्षा नहीं की जाती। उनके हृदय में सब वर्णों के प्रति भेद-दृष्टि नहीं है। इस पुष्टि के लिए एक उदाहरण पर्याप्त होगा—पितृमेधयज्ञ में समाधि-परिमाण के विषय में मतवैषम्य है। कुछ याज्ञिकाचार्य क्षत्रिय के लिए ऊर्ध्व बाहु तक, ब्राह्मण के लिए मुख तक, स्त्री के लिए कूल्हे के ऊपर तक, वैश्य के लिए उरु (जांघ) तक, शूद्र के लिए घुटने तक ऊँची समाधि बनाने का निर्देश करते हैं (शत० ब्रा० १३।८।३।११) याज्ञवल्क्य साम्य को ध्यान में रख कर सब के लिए घुटने के नीचे तक ऊँची समाधि का विधान करते हैं। (शत० ब्रा० १३।८।३।१२)

(६) यज्ञ-विधि में सौन्दर्य

याज्ञवल्क्य एक कुशल याजिक चार्य हैं। यज्ञ-सम्पादन के समय विविध

कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। उन्होंने उनके निवारणार्थ तथा निर्विघ्न यज्ञ-सम्पादन के लिए स्थान स्थान पर स्तुत्य प्रयास किया है।

(क) अनावश्यक बन्धन की उपेक्षा

याज्ञवल्क्य यज्ञ-विधि में सौकर्य के लिए अनेक स्थलों पर अनावश्यक बन्धनों की उपेक्षा कर देते हैं जैसे पुरोडाश परिमाण के विषय में तैत्तिरीय शाखा के आचार्यों द्वारा अश्व शफ के बराबर पुरोडाश-निर्माण का विधान करने वाले मत के विपरीत याज्ञवल्क्य ने यह विचार किया होगा कि यदि अध्वर्यु अश्व-शफाकार पुरोडाश का ध्यान कर पुरोडाश का निर्माण करेगा तो विलम्ब होगा। साथ ही पुरोडाश का आकार भी विहित परिमाण से बड़ा या छोटा हो सकता है। उस विलम्ब के परिहारार्थ वे अध्वर्यु को जितना मन से बड़ा न प्रतीत हो उतने बड़े पुरोडाश के निर्माण के लिए निर्देश करते हैं। (शत० ब्रा० १।२।२।१०)

दर्श पौर्णमास की वेदी के गाम्भीर्य की कोई निश्चित माप नहीं निर्धारित करते। अन्य आचार्यों द्वारा तीन अंगुल या चार अंगुल गाम्भीर्य के विधान का निषेध कर वनस्पतियों के मूल तक खोदने का आदेश देते हैं। (शत ब्रा० १।२।५।६०) चातुर्मास्य याग में पूर्ण-दर्व्याख्य कर्म के प्रसंग में यह नियम है कि अध्वर्यु यजमान को वृषभ से ध्वनि कराने का आदेश दे, ऋषभ-ध्वनि के अनन्तर हवन करने का विधान है। याज्ञवल्क्य यज्ञ में किसी भी प्रकार का व्यवधान नहीं चाहते अतः उनके मतानुसार ऋषभ द्वारा ध्वनि न करने पर दक्षिण दिशा में स्थित ब्रह्मा 'जुहुधि' कहकर हवन करने के लिए अध्वर्यु को आदेश दे। 'जुहुधि' इन्द्र की वाणी है। (शत० ब्रा० २।५।२।१८) उनके विचार से ऋषभ-ध्वनि के बिना यज्ञ-सम्पादन में विराम होना अनुचित है। उत्तरवेदी से तीन प्रक्रम (कदम) पश्चिम हविर्धान-स्थापन के मत का निषेध कर याज्ञवल्क्य किसी निश्चित माप से रहित मत का प्रतिपादन करते हुए उत्तरवेदी से न अधिक दूर और न अधिक समीप स्थान में हविर्धान-स्थापन का निर्देश करते हैं। (शत० ब्रा० ३।५।३।१६) अग्निवेदी के चयनार्थ इष्टकाओं के आहरण करने से पूर्व श्वेतवर्ण के अश्व को ले आने का विधान है। याज्ञवल्क्य के मत से अश्व किसी भी वर्ण का होना चाहिए। अश्व की प्रार्थना होने पर यज्ञ-कर्म में व्यवधान न पड़े, अतः अश्व के स्थान पर वृषभ का विधान करते हैं क्योंकि अग्नि वृषभ स्वभाव वाले हैं तथा वे पाप-नाशक है। (शत० ब्रा० ७।३।२।१६) अनावश्यक बन्धन विघ्नमूलक ही होते हैं। अतः यज्ञ-विधि में सौकर्य की दृष्टि से उनकी उपेक्षा आवश्यक है।

(ख) समुचित कार्य-विभाजन

यज्ञ विधि में सौकर्यार्थ समुचित कार्य-विभाजन अत्यावश्यक है। याज्ञवल्क्य ने स्थान स्थान पर इसका ध्यान रखा है। उदाहरण स्वरूप आहवनीयागार में आज्य-निरीक्षण के लिए यजमान का विधान होने पर याज्ञवल्क्य उस मत के विरोध में उपर्युक्त कर्म के लिए अध्वर्यु का निर्देश करते हैं (शत० ब्रा० १।३।१।२६) उनके विचार से सब को अपना-अपना कार्य सम्पन्न करना चाहिए। निर्विघ्न यज्ञ-सम्पादन के लिए ही कार्य-विभाजन किया जाता है। आज्यावेक्षणादि कर्म ऋत्विजों से सम्बन्ध रखते हैं। गार्हपत्यागार में यजमान-पत्नी द्वारा आज्यावेक्षण कराने का कारण यह है कि कुछ कार्य न होने से आज्यावेक्षण कर यजमान-पत्नी यज्ञ-कर्म में सहकर्मिणी बनती है।

(ग) विषय का स्पष्ट प्रतिपादन

यज्ञ-विधि में सौकर्य के लिए विषय का स्पष्ट प्रतिपादन महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। विषय को स्पष्ट करने के लिए तत्सम्बन्धी शब्द-चयन भी आवश्यक है जिससे बौद्धिक श्रम के बिना भी शीघ्रातिशीघ्र विषय का स्पष्ट ज्ञान हो जाय। वैसर्जन होम सम्बन्धी अग्नि-प्रणयन के विषय में कुछ आचार्य अध्वर्यु द्वारा होता के प्रति 'अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि' अथवा 'सोमाय प्रणीयमानायानुब्रूहि' प्रैष मन्त्र का विधान करते हैं। याज्ञवल्क्य 'अग्नये प्रह्रियमाणायानुब्रूहि' को प्रैषरूप में कहने का आदेश देते हैं (शत० ब्रा० ३।६।३।६) 'अग्नये' आदि कथन से होता शीघ्र ही यह समझ जायगा कि प्रहरणार्थ अनुवचन करना है, 'सोमाय……' आदि से उसे भ्रम हो सकता है। पौर्णमास याग के प्रकरण में अग्नि एवं सोम को प्रदान किये जाने वाले दो आज्य भागों को यज्ञ के दो नेत्र मान कर समिद्धतम अग्नि के समक्ष छोड़ने का विधान करते हैं। अन्य आचार्यों द्वारा दोनों आज्य भागों को क्रमशः उत्तरपूर्वार्द्ध और दक्षिणपूर्वार्द्ध में प्रक्षेपण विधायक मत को याज्ञवल्क्य अविज्ञानपूर्ण बताते हैं और प्रधान हविष् के समक्ष उत्तरपूर्वार्द्ध एवं दक्षिणपूर्वार्द्ध की अपेक्षा न करते हुए समिद्धतम अग्नि प्रदेश पर हवन करने का विधान करते है। (शत० ब्रा० १।६।३।३८-३९)

(७) सर्व-मंगल की दृष्टि

याज्ञवल्क्य सब का मंगल चाहते हैं। वे क्षति निवारणार्थ सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। उनकी इस भावना पर विभिन्न रूपों में प्रकाश पड़ता है।

(क) शान्ति-स्थापना

याज्ञवल्क्य यज्ञरूपी आदर्श समाज में अशान्ति नहीं देखना चाहते। यह

उचित नहीं कि कलहादि से श्रेष्ठतम कर्मयज्ञ की मर्यादा का उल्लंघन किया जाय। आग्रयणेष्टि-सम्पादन विना अग्निहोत्र में नवान्न हविष् प्रयोग आग्रयणेष्टि एवं अग्निहोत्र के देवताओं में परस्पर कलह का कारण होगा। (शत ब्रा० २।४।३।१४)

(ख) दुःख-वारण की दृष्टि

याज्ञवल्क्य उन विधि-विधानों की अवहेलना करते हैं जिनसे किसी प्रकार की दुःख की सम्भावना की जा सकती है। माहेन्द्र होम के समय कुछ आचार्य अध्वर्यु द्वारा यजमान को दीक्षा के समय पहने गये वस्त्रों को ही धारण कराने का विधान करते हैं। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं। उनके मतानुसार अभिषेक के समय धारण किये गये वस्त्रों में से तार्प्य (प्रथम धारण किये जाने वाले) वस्त्र को ही धारण कराना चाहिए क्योंकि दीक्षाकालिक वस्त्र वरुण देवता से सम्बन्धित होते हैं। अभिषेक के समय धारण किये गये वस्त्रों को धारण करवाने से यजमान को वरुण के परिवार से मुक्त किया जाता है। (शत० ब्रा० ५।३।५।२५) अग्निचयन में अस्थिरूप स्वयमातृण्णा (जिनमें स्वयं छिद्र हों) इष्टकाओं पर भी मांसरूप पुरीष डालना चाहिए। अन्य आचार्यों के मत से मध्य में स्थापित होने के कारण स्वयमातृण्णा इष्टकाएं प्राण हैं अतः उन पर पुरीष डालकर प्राणों को ही आवृत किया जाता है। याज्ञवल्क्य इस मत का निषेध करते हैं और पुरीषावपन के लिए मत प्रस्तुत करते हैं क्योंकि प्राण अन्य द्वारा विष्टब्ध होते हैं। जो व्यक्ति अनशन करता है उसके प्राण-कोश विकसित होकर अवरुद्ध हो जाते हैं। स्वयमातृण्णा इष्टकाओं पर पुरीष न डाल कर यजमान उस लोक में शुष्क स्थाणु के समान रहता है। (शत० ब्रा० ८।७।३।३) याज्ञवल्क्य यजमान को उस लोक में भी स्वस्थ रखने के लिए पुरीष-निवपन पक्ष को दृढ़ करते हैं।

(ग) सुरक्षा का ध्यान

याज्ञवल्क्य सुरक्षा का सदैव ध्यान रखते हैं। होम के लिए अग्निवेदी पर पाद निक्षेपार्थ पूर्व की ओर पश्चिम दिशा का निषेध कर वाम भाग (उत्तर दिशा) से आरोहण करने का विधान करते हैं क्योंकि अग्निवेदी पशु है। लोक-व्यवहार में भी अश्वादि पशुओं पर वामभाग से ही आरोहण किया जाता है। आगे या पीछे से आरोहण करने पर वह पशु आरोहण करने वाले को आघात पहुंचा सकता है। (शत० ब्रा० ७।३।२।१७) इसी प्रकार दुग्ध-दोहन के समय अग्निहोत्री

(गाय) के बैठ जाने पर उसे दण्ड से उठाने का विधान करते हैं। (शत० ब्रा० १२।४।१।१०)

विविध वर्गों के अन्तर्गत प्रस्तुत किये गये उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य के अन्दर मंगलमयी भावना का प्राचुर्य था जिसका सन्देश उन्होंने अनेक स्थलों पर दिया है।

पंचम अध्याय

याज्ञवल्क्य: व्यक्तित्व की समग्रता

याज्ञवल्क्य का परिचय, उनके मतभेद के स्थलों का पर्यालोचन तथा उनकी कारण-मीमांसा करने के पश्चात् यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि किन रूपों में उनका महत्त्व है, उनका क्या योगदान है तथा किन-किन रूपों में उनका मूल्यांकन किया जा सकता है। विस्तृत अध्ययन के पश्चात् याज्ञवल्क्य विविध रूपों में दृष्टिगत होते हैं।

(१) सफल याज्ञिक

अध्ययनान्तर विचार करने पर याज्ञवल्क्य का सर्वप्रथम एक सफल याज्ञिकाचार्य के रूप में दर्शन होता है। याज्ञवल्क्य का समय यज्ञों का समय था। यज्ञ विज्ञान अपनी चरम सीमा पर पहुंच रहा था। उस समय यज्ञ-विज्ञान के उत्कर्ष में अनेक विभूतियां सहायक हुई जिनमें याज्ञवल्क्य विभूति अद्वितीय सिद्ध हुई। उन्होंने अपना एक सम्प्रदाय ही चलाया। याज्ञिकाचार्य के रूप में उन्होंने जो ख्याति प्राप्त की उसका उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। याज्ञवल्क्य एक उच्चकोटि के विद्वान् थे। यज्ञों के आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक रूपों से वे पूर्ण परिचित थे। यज्ञों के विषय में कदाचित् ही उनके समकालिक आचार्य को इतना ज्ञान रहा होगा। जिन याज्ञवल्क्य ने एक शुष्क स्थाणु को हरा-भरा कर उसमें फूल-फल उत्पन्न कर दिया उनको उस समय का समाज क्यों न प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता रहा होगा? जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद से उनका यज्ञ-विषयक ज्ञान स्पष्ट हो जाता है :-

एक बार बिदेह के राजा जनक ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया-'याज्ञवल्क्य! क्या आप अग्निहोत्र जानते हैं?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया-'जानता हूं सम्राट्।' (शत० ब्रा० ११।३।१।१) जनक ने पूछा 'अग्निहोत्र क्या है?' याज्ञवल्क्य ने दूध को ही अग्निहोत्र बताया। (शत० ब्रा० ११।३।१।२) तात्पर्य यह कि दूध को भी औपचारिक रूप से अग्निहोत्र कहा। जनक ने पुनः प्रश्न किया-'दूध के

अभाव में किससे यज्ञ करते ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया–'व्रीहि और यव से।' इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने व्रीहि और यव के अभाव में औषधियों को, उनके अभाव में श्यामाक धान्यादि को, इनके अभाव में फल को, फल एवं अन्य आरण्य वस्तुओं के अभाव में जल को (शत० ब्रा० ११।३।१।३), जल के भी अभाव में अग्निहोत्र का सम्पादन होना ही चाहिए। अतः सत्य (वदन रूप धर्म) का श्रद्धा रूप अग्नि में हवन करना चाहिए। 'सहोवाच। न वा इह तर्हि किञ्चनासीद-थैतद्हूयतेव सत्य श्रद्धायामिति'। यज्ञ के विषय में इतने उच्चकोटि के ज्ञान से सन्तुष्ट होकर सम्राट् जनक ने याज्ञवल्क्य को सौ गायें पारितोषिक रूप में दीं। (शत० ब्रा० ११।३।१।४) इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने भौतिक स्तर से चलकर नैतिक स्तर में उपसंहार किया। आध्यात्मिक प्रक्रिया द्वारा अग्निहोत्र के सच्चे स्वरूप को निखार कर विद्वानों के समक्ष रखने का अनुपम प्रयास किया है।

याज्ञवल्क्य ने यज्ञ को नैतिक स्तर पर लाने के लिए सदाचार को अधिक महत्त्व दिया है। प्रवर्ग्ययज्ञ में यजमान के लिए प्रवर्ग्य कर्म में वर्तमान शरीर का आच्छादन, सूर्य के तपते रहने पर मूत्रविसर्जन का निषेध, काष्ठादि से अग्नि प्रज्ज्वलित कर रात्रि में भोजन करना ये चार कठिन नियम विहित हैं। याज्ञवल्क्य आचार्य आसुरि के मत का प्रतिपादन करते हुए सत्य वदन रूप व्रत का पालन करने के लिए निर्देश करते हैं। (शत० ब्रा० १४।१।१।३३) कठिन से कठिन नियमों के स्थान पर सत्य-वदन ही पर्याप्त है।

'तदु होवाचासुरि एकं ह वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं तस्मादु सत्यमेव वदेत्। (शत० ब्रा० १४।१।१।३३)

याज्ञवल्क्य ने सत्य को ही तीनों विद्याएं बताया है। (शत० ब्रा० १४।४।१।१८) सत्य धर्म है–

'यो वै धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तं सत्यं वदतीति। (शत० ब्रा० १४।४।२।२६)

सत्य तथा असत्य बोलने के क्रमशः क्या फल होते हैं इसका निर्देश अधोलिखित उद्धरण में बहुत ही अच्छे ढंग से हुआ है—

'स यः सत्यंवदति यथाऽग्निं समिद्धं तं घृतेनाऽभिषिञ्चेदेव हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति श्वः श्वः श्रेयान्भवत्यथ योऽनृतं वदति यथाग्नि समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेदेवं हैनं स जासयति तस्य कनीयः कनीय एवं

तेजो भवति श्वः श्वः पापीयान्भवति तस्मादु सत्यमेव वदेत् ।' (शत० ब्रा० २।२।२।१९) याज्ञवल्क्य सत्य को ब्रह्म मानते हैं। (शत० ब्रा० १४।८।५।१) इस प्रकार उन्होंने यज्ञ को कर्म-काण्ड तक ही सीमित न रखकर उसे आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

यज्ञ-मर्मज्ञ होने के कारण अनेक स्थलों पर याज्ञवल्क्य का अन्य आचार्यों से मतैक्य भी नहीं है। उनका प्रत्येक मत वैशिष्ट्य एवं नवीनता को लिए हुए होता है। याज्ञिक प्रक्रिया तथा उससे सम्बन्धित किसी द्रव्य, देवता, मन्त्र और विधि के विषय में किसी भी प्रकार की शंका न रह जाय, निर्दिष्ट मतानुसार अमुक कर्म करने का क्या कारण है, इन सब का विधिवत् विवेचन याज्ञवल्क्य ने शतपथब्राह्मण में प्रस्तुत किया है। द्रव्य, देवता, मन्त्र और विधि की पूर्णता में ही यज्ञ की पूर्णता निहित है। यही कारण है कि याज्ञवल्क्य ने इन चार प्रमुख आधारों पर विस्तृत प्रकाश डाला है।

एक कुशल याज्ञिकाचार्य जो जन-जन में यज्ञ करने की भावना का उद्बोधन कराना चाहता है उसके लिए जिन-जिन गुणों की आवश्यकता पड़ती है, वे सब गुण याज्ञवल्क्य में हैं, यह अत्युक्ति नहीं। एक याज्ञिकाचार्य का कर्तव्य होता है कि वह यज्ञ की सर्वांगीण समृद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। याज्ञवल्क्य ने इस विषय में सफल प्रयास किया है। उन्होंने यज्ञ-समृद्धि के लिए सर्वत्र चेतन का दर्शन किया है। वे यज्ञ को एक पुरुष के रूप में देखते हैं। विषय के प्रतिपादन में इतनी स्वाभाविकता उत्पन्न कर देना याज्ञवल्क्य की ही प्रतिभा का कार्य था। वह यज्ञ-पुरुष नग्न नहीं रहना चाहता। नग्न रहने में उसे लज्जा का अनुभव होता है। नग्नता को दूर करने के लिए वह स्वयं कहता है। लौकिक मनुष्य के समान वह भूख-प्यास से भी व्याकुल हो उठता है। अधोलिखित उद्धरण में इसका प्रतिपादन सुष्ठु रूप से हुआ है–

'स हैव यज्ञ उवाच। नग्नताया वै बिभेमीति का ते नग्नतेत्यभित एव मा परिस्तृणीयुरिति तस्मादेतदग्निमभितः परिस्तृणन्ति तृष्णाया बिभेमीति का ते तृप्तिरिति ब्राह्मणस्यैव तृप्तिमनुतृप्येयमिति तस्मात्स्थिते यज्ञे ब्राह्मणं तर्पयितवै ब्रूयाद्यज्ञमेवेतत्तर्पयति ॥' (शत० ब्रा० १।७।३।२८) इस प्रकार बर्हिस्तरण से यज्ञ-पुरुष की नग्नता तथा ब्राह्मण तृप्ति से उसकी तृष्णा को दूर किया जाता है। याज्ञवल्क्य ने यज्ञ-पुरुष के पूर्ण रूप की संरचना में अनेक स्थलों पर पात्रों को यज्ञांग कहा है। उन्होंने यज्ञ की सर्वांगीण समृद्धि के लिए अगवैकल्य का, अपौरुषेय कर्म में मानुष कर्म सम्पादन का निषेध किया है। व

यज्ञ-सम्पादन के समय प्रत्येक यज्ञ-सम्पादक को किसी न किसी कार्य में संलग्न देखना चाहते हैं। कठिन नियमों के असम्पादन से यज्ञ-समृद्धि में कमी पड़ सकती है अत कठिन नियम-पालन पर उन्होंने यथोचित बल दिया है। उनकी दृष्टि में बड़े-छोटे प्रत्येक यज्ञीय कर्म का समान महत्त्व है।

एक याज्ञिकाचार्य को यज्ञ-सम्पादन में सदैव औचित्य का ध्यान रखना चाहिए। याज्ञवल्क्य इस दृष्टि से भी खरे उतरते हैं। वे कालगत औचित्य को दृष्टि में रखकर यज्ञ तथा यज्ञांग सम्पादन के उचित समय का विधान करते हैं। देशगत औचित्य को ध्यान में रखकर द्रव्य-स्थापन, द्रव्य-पाक, वस्तु-प्रक्षेपण, अभिषेक के लिए उचित देश (स्थान) का निर्देश करते हैं। पात्रगत औचित्य की दृष्टि से याज्ञवल्क्य विहित देवता के लिए ही विशिष्ट द्रव्य-प्रदान का औचित्य बताते हैं। उन्होंने वस्तुगत औचित्य को भी ध्यान में रखा है। वे किसी भी कर्म में प्रयोग की जाने वाली वस्तु के प्रयोग का औचित्य देखते हैं। याज्ञवल्क्य प्रत्येक कर्म के लिए उपयुक्त वस्तु के चयन में कुशल हैं। अन्य बातों के साथ ही साथ याज्ञवल्क्य यज्ञों और यज्ञांगों के सम्पादनक्रम को भी महत्त्व देते हैं। किस कर्म के पश्चात् किस कर्म-सम्पादन का औचित्य है, याज्ञवल्क्य को इसका पूर्ण ज्ञान था।

याज्ञवल्क्य ने अनौचित्य का भी ध्यान रखा है। यज्ञ-सम्पादन में किसी भी प्रकार का अनौचित्य-प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। एक याज्ञिकाचार्य का परम कर्तव्य होता है कि वह अनौचित्यों को दूर करने का यथाशक्य प्रयास करे और यज्ञ-विधि के औचित्य की रक्षा करे। याज्ञवल्क्य स्थान-स्थान पर नियमोल्लघन से उत्पन्न होने वाले अनौचित्य को दूर करते हैं। वे यज्ञ-मार्ग से च्युत करने वाले कर्मों का निरादर करते हैं अन्यथा अनौचित्य प्रदर्शन होता है जिसका कोई महत्त्व नहीं है। वे यज्ञ के विपरीत किये जाने वाले तथा यज्ञ के अतिरिक्त किये जाने वाले कर्मों का अनादर करते हैं।

याज्ञवल्क्य स्वमत पुष्टि के लिए कारणों को प्रस्तुत करने में बुद्धि पक्ष का अवलम्बन लेते हैं। इसी के बल पर ही तो वे महत्त्वपूर्ण कार्य कर लेने पर भी कर्ता के व्यक्तित्व में कोई परिवर्तन नहीं देखते। वे यज्ञ-विज्ञान में शब्दों के प्रयोग से पूर्व प्रत्येक शब्द के प्रयोग-औचित्य पर भी सम्यक् विचार करते हैं। यज्ञ विधि के लिए याज्ञवल्क्य यज्ञ-विज्ञान में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का महत्त्व समझते हैं। वे शब्द-चयन में कुशल हैं। उन्हें विशिष्ट अर्थ के द्योतनार्थ विशिष्ट शब्द का पूर्ण ज्ञान है। याज्ञवल्क्य ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। ज्ञान से अनेक विकल्पों का समाधान हो जाता है। अतः यज्ञ-विधियों में यत्र-तत्र

उसका समुचित उपयोग हुआ है। याज्ञिक समाज में जुगुप्सा का कोई स्थान नहीं है उसके प्रति जुगुप्सा करने से यज्ञ में सम्पन्नता नहीं आ पाती। यज्ञ-सम्पादन में विलम्ब के वारणार्थ वे लाघव को महत्व देते हैं। प्रयत्न-लाघव के साथ स्थान लाघव को भी समुचित स्थान प्राप्त हुआ है। किसी मत के प्रतिपादन से पूर्व याज्ञवल्क्य अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित मतों का मूल्यांकन करते हैं। इससे यह पूर्णरूपेण सिद्ध हो जाता है कि उनका बौद्धिक पक्ष कितना विकसित था।

याज्ञवल्क्य द्वारा प्रतिपादित मतभेदों में व्यावहारिकता को भी उचित स्थान मिला है। याज्ञवल्क्य लोक-व्यवहार तथा प्राकृतिक व्यवहारों के प्रति समादर की दृष्टि रखते हैं। वे यज्ञ-देवता और मन्त्र में अक्षीण सम्बन्ध बने रहने के लिए सतत प्रयत्नशील दीख पड़ते हैं। वे व्यावहारिकता के रक्षार्थ ही शक्याशक्य का विचार करते हैं। किसी वस्तु की उपयोगिता और अनुपयोगिता का पूर्ण ध्यान रखते हैं। वे व्यर्थ में ही बुद्धि व्यायाम को महत्त्व नहीं देते। याज्ञवल्क्य व्यावहारिकता की रक्षा के लिए भेद-दृष्टि का तिरस्कार करते हैं। यज्ञ-विधि में सौकर्य उत्पन्न करने के लिए याज्ञवल्क्य अन्य आचार्यों द्वारा विहित विधि-सम्पादन में अवरोधक नियम रूप बन्धनों की उपेक्षा करते हैं। उनका यह विचार है कि नियम-विधान यज्ञ-विधि के सौकर्य में बाधक न बनकर साधक बनना चाहिए। सौकर्य के लिए ही वे समुचित कार्य-विभाजन करते हैं। वे प्रत्येक यज्ञ-सम्पादक के लिए सुविधानुसार कार्य ने निर्धारण करते है। याज्ञवल्क्य क यज्ञ-विधियों में सौकर्य के लिए विषय के स्पष्ट प्रतिपादन का भी ध्यान रखा है।

उपर्युक्त विशेषताओं के साथ-साथ याज्ञिकाचार्य में सर्व-मंगल की दृष्टि होनी चाहिए जो याज्ञवल्क्य में समुचित रूप से वर्तमान है। याज्ञवल्क्य सबका कल्याण चाहते हैं। वे मंगल के लिए शान्ति की स्थापना करते हैं। वे यजमान के लिए उन्हीं कर्मों के सम्पादन का विधान करते हैं जिनसे यजमान को अधिकाधिक फल-प्राप्ति हो सके। याज्ञवल्क्य यज्ञ-सम्पादकों पर किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं आने देना चाहते। जिन कर्मों के सम्पादन से कोई दुःख या आपत्ति आ सकती है उसको यज्ञ-विधि में स्थान ही नहीं प्रदान करते। वे यज्ञ-सम्पादन के समय सुरक्षा का भी ध्यान रखते हैं। जिन कर्मों के सम्पादन से यज्ञ-सम्पादक को आघात पहुंच सकता हैं, उन कर्मों के वर्जनार्थ वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

याज्ञवल्क्य विषय को रोचक तथा क्लिष्ट विषय को स्पष्ट करने के लिए आख्यानों का उपयोग करते हैं। वे आख्यान अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं।

इडा को मानवी इडा देवी का रूप देने के लिए तथा मानवी, घृतपदी, मैत्रावरुणी पदों की व्याख्या के लिए उपाख्यान प्रस्तुत करते हैं। यह मनु और श्रद्धा का उपाख्यान विश्व के इतिहास में एक अनोखी घटना है। (शत० ब्रा० १।८।१।१-११)

विषय की स्पष्टता की भावना से प्रेरित होकर ही याज्ञवल्क्य ने यत्र-तत्र कथोपकथन शैली का आश्रय लिया है जो बाद के कथा-साहित्य तथा नाटकों के लिए स्रोत कही जा सकती है। इस प्रसंग में प्रजापति से सम्बन्धित पूर्वाधार का उपांशुत्व सिद्ध करने के लिए मन और वाणी द्वारा किया गया संवाद उल्लेख्य है।

'एक समय मन और वाणी में यह विवाद हुआ कि दोनों में कौन श्रेष्ठ हैं। मन ने कहा ''मैं श्रेष्ठ हूं।' वाणी ने कहा ''मैं श्रेष्ठ हूं।' मन ने कहा '' हे वाणी। तुम मेरे द्वारा चिन्तित (सोचे गये) विषय को ही अभिव्यक्त करती हो, जिस पर मैं कुछ विचार ही नहीं करता उसे तुम कह ही नहीं सकती। तुम मेरी दासी, अनुचरी हो, अतः मैं तुमसे श्रेष्ठ हूं।' वाणी ने कहा''मैं बड़ी हूं क्योंकि जो तुम जानते हो उसका विज्ञापन मेरे ही द्वारा किया जाता है।' जब वे दोनों (मन और वाणी) आपस में किसी निर्णय पर न पहुंच सके तब वे इस प्रश्न को लेकर प्रजापति के समीप पहुंचे। प्रजापति ने मन के पक्ष में ही निर्णय दिया। 'हे वाक्! मन तुमसे श्रेष्ठ है, तुम मन की कृतानुकरी तथा अनुचरी हो, लोक मे भीदेखाजाता है कि छोटा व्यक्ति श्रेष्ठ का कृतानुकर एवं अनुचर होता है।' इस प्रकार प्रजापति द्वारा पराजित घोषित की गयी वाणी का वीर्य-स्खलन हो गया तथा उसका गर्भ भी गिर गया। वाणी ने पराज्य से खिन्न होकर प्रजापति से कहा—' तुमने मुझे पराजित घोषित किया है अतः मैं तुम्हारे लिए हव्य-वहन न करूंगी।' (शत० ब्रा० १।४।५।८-१२) अतः यज्ञ में प्रजापति से सम्बन्धित जो कुछ भी कर्म किया जाता है वह उपांशु ही किया जाता है। उसमें वाणी का प्रयोग नहीं होता।

याज्ञवल्क्य याज्ञिक द्रव्यों के परिवर्तन के लिए भी उपाख्यानों की सहायता लेते हैं। उदाहरणस्वरूप पुरोडाश के लिए पशु का ही आलभन किया जाता था, शनैः शनैः उसका स्थान व्रीहि और यव ने ग्रहण कर लिया। विविध उद्धरणों के आधार पर याज्ञवल्क्य को एक सफल याज्ञिकाचार्य कहने में संकोच नहीं होना चाहिए।

(२) यज्ञ के विराट् रूप के द्रष्टा

याज्ञवल्क्य यज्ञ को ही सब कुछ मानते हैं। वे विविध कर्मों का दर्शन करते

हैं। वे यज्ञ को अनेक देवों के रूप में देखते हैं। इसीलिए ब्रह्म को यज्ञ बताते हैं। (शत० ब्रा० ५।३।२।४) उनके विचार से प्रजापति प्रत्यक्ष यज्ञ ही हैं। (शत० ब्रा० ४।३।४।३) वे यज्ञ को ही विष्णु और आदित्य के रूप में देखते हैं। (शत० ब्रा० १४।१-१।६) वे यज्ञ को वायु (शत० ब्रा० ११।८।२।२८) एवं अग्नि के (शत० ब्रा० २।१।४।१६) रूप में देखते हैं। याज्ञवल्क्य यज्ञ पुरुष की कल्पना करते हैं। वे देवताओं के अंगों द्वारा निर्मित यज्ञ के पूर्ण रूप का दर्शन करते हैं। उदारहणस्वरूप इन्द्र यज्ञ की आत्मा (शत० ब्रा० ९।५।१।२३) तथा मैत्रावरुण मन हैं (शत० ब्रा० १२।८।२।२३) वे यज्ञ-सम्पादकों को यज्ञांग मानते हैं। यजमान यज्ञ की आत्मा (शरीर) एवं ऋत्विज उसके अंग हैं। (शत० ब्रा० ९।५।२।१६) एक स्थल पर तो अध्वर्यु को यज्ञ का पूर्वार्द्ध तथा यजमान पत्नी को जघनार्द्ध बताते हैं। (शत० ब्रा० ४।४।२।९) अन्यत्र यजमान को ही यज्ञ बताते हैं। (शत० ब्रा० १३।२।२।१) यज्ञ पशु है। (शत० ब्रा० ३।१।४।६) वे पक्षी (शत० ब्रा० ४।१।२।२५) के रूप में भी यज्ञ का दर्शन करते हैं जिसमें उपांशु और अन्तर्याम उसके पक्ष एवं उपांशु सवन उसकी आत्मा (मुख्य शरीर) है। वे यज्ञ-पात्रों को यज्ञ-पुरुष के अंग रूप में कल्पना करते हैं। हविर्धान (शत० ब्रा० ३।५।३।२) तथा उखा (शत ब्रा० ६।५।३।८) को यज्ञ-सिर मानते हैं। अंशु-ग्रह यज्ञ का नेत्र और अदाभ्य ग्रह यज्ञ का श्रोत्र है। पुनः इन्हीं को क्रमशः यज्ञ का शरीर एवं यज्ञ की वाणी कहा गया है। (शत० ब्रा०११।५।८।२) उपांशु ग्रह यज्ञ-पुरुष का मुख है। (शत० ब्रा० ५।२।४।१७) यज्ञ-पुरुष की जिह्वा तथा दृषद् एवं उपल उसके हनू (जबड़े) हैं। (शत० ब्रा० १।२।१।१७) याज्ञवल्क्य यज्ञ-पुरुष की शिखा का भी ध्यान रखते हैं। इसीलिए श्रोत्रिय लोगों की शिखा की भांति यज्ञ-पुरुषकी भी लम्बी और मोटी शिखा की कल्पना करते हैं। वे यूप को ही यज्ञ-पुरुष की शिखा मानते हैं। (शत० ब्रा० २।५।३।४) ध्रुवा को यज्ञ का मुख्य शरीर (शत० ब्रा० १।४।५।५), उपयमनी को यज्ञ का उदर (शत० ब्रा० ३।५।३।४) ध्रुवा को यज्ञ का मुख्य शरीर (शत० ब्रा० १।४।५।५), उपयमनी को यज्ञ का उदर (शत० ब्रा० १४।२।१।१७) एवं दो स्रुक् को यज्ञ के दो बाहु (शत० ब्रा० ७।४।१।३६) बताते हैं। उलूखल और मुसल यज्ञ के प्रजननावयव हैं (शत० ब्रा० ७।५।१।३८)

याज्ञवल्क्य यज्ञ में प्रयुक्त द्रव्यों को भी यज्ञ मानते हैं। यज्ञ-हविष् यज्ञ हैं (शत० ब्रा० १।६।३।३९), जल यज्ञ है (शत० ब्रा० ३।८।५।१), घृत यज्ञ है (शत० ब्रा० १२।८।२।१५)। याज्ञवल्क्य छन्द को भी यज्ञ मानते हैं। (शत० ब्रा० ८।४।३।२) वे याज्ञिय वृक्षों को भी यज्ञ के ही रूप में देखते हैं। उदाहरण स्वरूप–विकंकत यज्ञ है (शत० ब्रा० १४।१।२।२५) इस प्रकार द्रव्य, देवता और

मन्त्र सब कुछ यज्ञ ही के विभिन्न स्वरूप हैं। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म है। (शत० ब्रा० १।१।१।४), ऋक्, यजुष् तथा सामरूप त्रयी विद्या यज्ञ है। (शत० ब्रा० १।१।४।३) उपर्युक्त विविध उद्धरणों के आधार पर यह विधिवत् ज्ञात हो जाता है कि याज्ञवल्क्य यज्ञ के विराट् रूप का दर्शन कर चुके थे।

(३) ब्रह्मवेत्ता

याज्ञवल्क्य याज्ञिकाचार्य होने के साथ-साथ ब्रह्मवेत्ता भी थे। यह बात शाकल्य के संवाद से ही स्पष्ट हो जाती है। शाकल्य को पराजित करने की कथा शतपथ ब्राह्मण (११।६।३।११) में तथा और बढ़ाकर बृहदारण्य कोपनिषद् (बृ २।६।१।२६) में दी गयी है–

'विदेह के राजा जनक ने एक यज्ञ किया। उसमें उन्होंने ऋत्विजों के लिए दक्षिणा का भी विधान किया। सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण (ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः) को एक हजार गायें देना निश्चित किया। याज्ञबल्क्य ने अपने एक शिष्य को गायों को घर ले चलने के लिए आदेश दिया। इस बात से क्रुद्ध हुए अन्य ब्राह्मणों ने कहा–'हे याज्ञवल्क्य। हम लोगों में क्या तुम्हीं ब्रहिष्ठ हो?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—' आप लोगों में जो ब्रहिष्ठ हो उसे नमस्कार है, हमें तो केवल गायें चाहिए।' याज्ञवल्क्य द्वारा उपहास किये जाने पर उन ब्राह्मणों ने परस्पर मन्त्रणा की किन्तु उन्हें याज्ञवल्क्य की समता का कोई ज्ञानी नहीं दिखायी पड़ा। अन्त में शाकल्ल ब्रह्मवाद करने के लिए तैयार हुए। शाकल्य ने देवताओं के विषय में प्रश्न किया–'अग्निहोत्र आदि कर्मों में हविष्-भोक्ता के रूप में कितनी संख्या में देवता होते हैं?' याज्ञबल्क्य ने देवताओं की संख्या 'तीन सौ' तीन 'और' तीन हजार तीन' अर्थात् 'तीन हजार तीन सौ छः' बताया। पुनः पूछने पर देवताओं की संस्था 'तैंतीस बताया, पुनः 'उनकी सख्या क्रमशः 'तीन, 'दो', 'डेढ़' और अन्त में 'एक' कहा। वह एक देव है प्राण। याज्ञवल्क्य ने निर्देश दिया कि 'तीन सौ तीन' और 'तीन हजार तीन' यह तो देवों की महिमा है। वास्तव में देवता 'तैंतीस' हैं—जिनमें आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र एवं प्रजापति सम्मिलित हैं। आठ वसुओं में अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, देव, चन्द्रमा और नक्षत्र हैं। सम्पूर्ण लोकों को बसाने के कारण इनका नाम 'वसु' पड़ा। ग्यारह रुद्रों में दस प्राण और एक आत्मा है। इन्हें रुद्र कहने का कारण यह है कि ये मर्त्य शरीर से निकल कर बन्धु-बान्धवों को रुलाते हैं। आदित्यों के विषय में शाकल्य द्वारा प्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने बताया कि वर्ष के बारह मास ही आदित्य हैं। इन्हें आदित्य कहने का कारण यह है कि ये सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् को ग्रसते हुए चलते हैं। उन्होंने गरजते हुए मेघ

को 'इन्द्र' एवं पूर्णमास तथा दर्शयज्ञों को 'प्रजापति' बताया। गरजने को 'वज्र' तथा पशु को 'यज्ञ' बताया तीन देवों में तीन लोकों को, दो देवों में अपान और प्राण को एवं डेढ़ देवों में 'वायु' को तथा एक देव में 'प्राण' बताया। शाकल्य ने जब प्रश्न पूछना बन्द कर दिया तब याज्ञवल्क्य ने देवताओं के विषय में जानते हुए भी अतिक्रमण कर प्रश्न पूछने के कारण शाकल्य को आगामिनी तिथि से पूर्व ही मृत्यु-प्राप्ति का शाप दिया तथा यह भी कहा—तुम्हारी अस्थियां भी तुम्हारे घर न पहुंच सकेंगी।' तत्पश्चात् जनक ने ब्रह्मिष्ठ को गुरु बनाने के उद्देश्य से एक सभा का आयोजन किया जिसमें अनेक ब्राह्मणों के साथ याज्ञवल्क्य का विवाद हुआ। याज्ञवल्क्य ने सब प्रश्नों का उत्तर दिया। पुनः याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से प्रश्न किया किन्तु वे उत्तर देने में असमर्थ रहे। परिणामस्वरूप शाकल्य का सिर विच्छिन्न होकर भूमि पर गिर पड़ा और उनकी मृत्यु हो गयी। पूर्व शाप के कारण शिष्यों द्वारा अस्थियों को उनके घर ले जाते समय चोरों ने धन समझ कर उनकी अस्थियों को चुरा लिया। इस प्रकार उनकी अस्थियां भी उनके घर न पहुंच सकीं।

याज्ञवल्क्य-गार्गी वाचक्नवी के संवाद से उनकी ब्रह्मिष्ठता का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है। विदेह जनक ने बहु दक्षिणा सम्बन्धी यज्ञ किया। उसमें कुरु और पंचाल देशों के परम प्रसिद्ध विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुए। तब राजा जनक को यह जानने की शीघ्र इच्छा हुई कि इन उपस्थित मान्य ब्राह्मणों में कौन सा अति ब्रह्मवेत्ता है? ऐसा विचार कर उन्होंने, जिनके प्रत्येक सींग में दस-दस पाद स्वर्ण बंधा हुआ था ऐसी एक हजार गौओं को गोशाला में एकत्र करवाया। (बृ० उ० ३।१।१) जनक ने ब्रहिष्ठ को गायों को घर ले जाने का आदेश दिया। अन्य ब्राह्मणों के न कहने पर याज्ञवल्क्य ने अपने प्रिय शिष्य सामश्रवा से कहा हे शिष्य तू इन गायों को मेरे घर ले जा।' आदेश पाकर सामश्रवा सब गौओं को लेकर याज्ञवल्क्य के आश्रम की ओर चला। ब्राह्मणों द्वारा इस बात से सहमत न होने पर ब्रह्मवाद प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम जनक के होता अश्वल ने प्रश्न किया, पुनः जारत्कारव आर्तभाग, भुज्युर्लाह्यायनि तथा उषस्त चाक्रायण आदि ब्राह्मणों ने प्रश्न पूछा। इनके पश्चात् गार्गी के साथ याज्ञवल्क्य का संवाद महत्त्वपूर्ण है जिसका निर्देश अधोलिखित पंक्तियों में किया जा रहा है—गार्गी ने प्रश्न किया कि हे याज्ञवल्क्य जो ये भूः आदि सब लोक या पदार्थ जल में ओतप्रोत हैं, वह जल किसमें ओतप्रोत है? यह मेरा प्रश्न है।

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, यह सब जल अपने कारण वायु में ओत-प्रोत है।

गार्गी—वह वायु किसमें ओत-प्रोत है?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, अन्तरिक्ष लोक में।

गार्गी—वे अन्तरिक्ष लोक किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, गन्धर्व लोक में।

गार्गी—वे गन्धर्व लोक किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, आदित्य लोक में।

गार्गी—वे आदित्य लोक किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, चन्द्र लोक में।

गार्गी—वे चन्द्र-लोक किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, नक्षत्र लोक में।

गार्गी—वे नक्षत्र लोक किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, देव-लोक में।

गार्गी—वे देव-लोक किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, इन्द्र-लोक में।

गार्गी—वे इन्द्र लोक किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि, प्रजापति लोक में।

गार्गी—वे प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत हैं?

याज्ञवल्क्य—हे गार्गि ब्रह्म लोक में।

गार्गी—वे ब्रह्म लोक किसमें ओत-प्रोत हैं।

इस प्रश्न का उत्तर न देकर याज्ञवल्क्य बोले कि हे गार्गि, इस प्रकार अति प्रश्नों को न पूछ, इस प्रकार प्रश्न करने पर तेरा मस्तक गिर पड़ेगा। सुन, सब लोक-लोकान्तरों का एकमात्र आधार ब्रह्म किसी के आश्रित नहीं है, प्रत्युत उसी में सब पदार्थ ओत-प्रोत हैं। अतः हे गार्गि, मैं फिर कहता हूं कि तू केवल शास्त्र से जानने योग्य ब्रह्मको तर्क द्वारा जानने की इच्छा मत कर। यह सुनकर गार्गी चुप हो गयी। (बृ० उ० ३।६।१) इसके पश्चात उद्दालक आरुणि ने प्रश्न किया।

गार्गी वाचक्नवी ने ब्राह्मणों से कहा—'हे माननीय पूज्य विद्वद्गण। अब मैं याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न पूछूंगी, यदि याज्ञवल्क्य मेरे उन दो प्रश्नों का उत्तर संतोषजनक दे देंगे तो आप लोगों में से कोई भी विद्वान् ब्रह्मवाद में उनको जीत न सकेगा। इस प्रकार कहने पर ब्राह्मणों ने अनुमति देते हुए कहा कि हे गार्गि, पूछ (बृ० उ० ३।८।१)

याज्ञवल्क्य से भी आज्ञा लेकर गार्गी ने प्रश्न पूछा—

हे याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोक के ऊपर है, जो भूलोक के नीचे है तथा जो द्युलोक और भूलोक के मध्य में है और स्वयं भी जो ये द्युलोक तथा पृथ्वी हैं और जिन्हें भूत, वर्तमान तथा भविष्य—ऐसा कहते हैं, वे किसमें ओत-प्रोत हैं ? (बृ० उ० ३।८।३)

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि, जो द्युलोक के ऊपर, पृथ्वी लोक के नीचे और जो द्युलोक एवं पृथ्वी के बीच में है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक एवं पृथ्वी हैं और जिन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य ऐसा कहते हैं, सब आकाश में ओत-प्रोत हैं। (बृ० उ० ३।८।४)

गार्गी ने कहा—'हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है कि आपने इस प्रश्न का उत्तर दिया।' अब आप दूसरे प्रश्न के लिए अपने को तैयार करें।

याज्ञवल्क्य ने कहा—हे गार्गि, पूछ। (बृ० उ० ३।८।५)

गार्गी ने पूछा—'हे याज्ञवल्क्य ! आकाश किसमें ओत-प्रोत है ?'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा—'हे गार्गि' वह अविनाशी है जिसमें कि आकाश ओत-प्रोत है, वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संग है, न रस है, न गंध है, न नेत्र है, न श्रोत्र है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न परिमाण है, उनमें न अन्तर है, न बाहर है, न वह कुछ खाता है और न कोई पदार्थ उसको खाता है। हे गार्गि, इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। (बृ० उ० ३।८।८)

हे गार्गि, इसी अक्षर की आज्ञा में सूर्य तथा चन्द्रमा नियमित होकर स्थित हैं, इसी अक्षर की आज्ञा में स्वर्ग और पृथ्वी, निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, अर्धमास ऋतु और संवत्सरादि नियमित हुए स्थित हैं। हे गार्गि, इसी अक्षर की आज्ञा में कुछ नदियां बर्फीले पहाड़ों से निकल कर पूर्व दिशा को तथा अन्य नदियां पश्चिम दिशा को बहती हैं अर्थात् जो-जो नदियां जिस दिशा को जाती हैं उस उस दिशा को नहीं छोड़ती हैं। हे गार्गि, निःसन्देह इसी अक्षर की आज्ञा में मनुष्य दान देने वालों की प्रशंसा करते हैं और देवगण यजमान के अनुगामी होते हैं तथा पितृगण दर्वीहोम के अधीन होते हैं। (बृ० उ० ३।८।९) हे गार्गि ! वही यह अक्षर अदृष्ट होते हुए भी द्रष्टा है, अश्रुत होते हुए भी श्रोता है, अमन्ता होते भी मन्ता है और स्वयं अविज्ञात होते हुए भी सब का विज्ञाता है। इससे पृथक् और कोई दूसरा द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न और कोई श्रोता नही है, इससे पृथक्

और कोई दूसरा विज्ञाता नहीं है। हे गार्गि, निःसन्देह इस अक्षर में आकाश ओत-प्रोत है। (बृ० उ० ३।८।११)

गार्गी ने कहा—'पूज्य ब्राह्मणो ! आप लोग इसी को अधिक समझें कि इन याज्ञवल्क्य को नमस्कार कर आप लोग छुटकारा पा जायं निःसन्देह आप लोगों में से कोई भी कभी इन ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य को जीत न सकेगा। इस तरह कह कर पुनः वचक्नु कन्या गार्गी चुप हो गयी। (बृ० उ० ३।८।१२) इन उपाख्यानों से यह स्पष्ट हो जाता है कि याज्ञिकाचार्य होने के साथ ही साथ याज्ञवल्क्य एक उच्चकोटि के ब्रह्मवेत्ता एवं तत्त्वज्ञानी थे।

(४) समाजवेत्ता

याज्ञवल्क्य समाज की गति-विधि से पूर्ण परिचित थे। समाज के वे कितने निकट थे यह तो इसी से जाना जा सकता है कि उन्होंने अनेक यज्ञों में अध्वर्यु का कार्य किया। विद्वत्समाज में उनकी प्रतिभा का यथेष्ट सम्मान था। समाज से सम्बन्धित विचारों, रहन-सहन, अनेक रूढ़ियों का उन्हें पूर्ण-रुपेण ज्ञान था जिनका निर्देश मतभेद के स्थलों में स्थान-स्थान पर किया गया है। वे यज्ञ-विज्ञान को भी एक समाज ही मानते हैं। यज्ञ-विज्ञान को समाज के सांचे में ढालने के लिए याज्ञवल्क्य ने कोई भी श्रम उठा नहीं रखा। यह अत्युक्ति न होगी कि यज्ञ-विज्ञान के विस्तृत क्षेत्र के अवलोकनार्थ याज्ञवल्क्य ने समाज रूपी दूरदर्शन यन्त्र का प्रयोग किया है। यज्ञ-विज्ञान के परम मर्मज्ञ याज्ञवल्क्य उसके प्रत्येक यन्त्र से परिचित हैं। उन यन्त्रों से परिचित ही नहीं, अपितु यदि कहीं वे यन्त्र टूट गये, खराब हो गये तो उन यन्त्रों को बनाने के लिए वे एक कुशल यांत्रिक भी हैं। वे याज्ञिक समाज में भी लौकिक समाज जैसा व्यवहार चाहते हैं। पत्नी-संयाज के प्रसंग में जब गार्हपत्यागार में होम होता है, उस समय वेदी के पश्चिम अर्थात् वेदी और गार्हपत्य के बीच अन्तर्धानिकट रखना चाहिए क्योंकि लोक-व्यवहार में भी स्त्रियां पुरुषों से पर्दा कर भोजन करती हैं, उनके सामने नहीं। यज्ञों को तात्कालिक समाज के सांचे में ढालने के अद्वितीय प्रयास ने याज्ञवल्क्य को अमर बना दिया है। वेदी को स्त्री बतला कर उन्होंने यज्ञ में सजीवता ला दी है।

'योषा वै व्वेदिर्व्वृषाग्निः परिगृह्य वै योषा व्वृषाणं शेते
मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते तस्मादभितोऽग्निं सा उन्नयति ॥

(शत० ब्रा० १।२।५।१५)

वे वेदी को स्त्री के आकार वाली बतात हैं—

"सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात् । मध्ये सं ह्वारिता पुनः
'पुरस्तादुर्व्येवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरी-
सा मध्ये संग्राह्येति जुष्टामेवैनामेतद्देवेभ्यः करोति ।
(शत० ब्रा० १।२।५।१६)

तात्पर्य यह कि वेदी के दोनों अंस उन्नत होने चाहिए, मध्य में पतली होनी चाहिए। उसका पिछला भाग अधिक होना चाहिए । कालिदास ने भी इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र और मेघदूत में स्त्री के लिए इसी प्रकार के लक्षण बताये हैं ।

'......बाहू नतावंसयो :'
मध्यं पाणिमितो नितम्बि जघनं पादा व रालङ्गुली ।
(मालविकाग्निमित्रम् २।१७)

मेघदूत में—

'मध्ये क्षामा' (उत्तरमेघ २२)

कहकर कालिदास ने स्त्री के कटि प्रदेश को वेदी के कटि प्रदेश के समान ही क्षीण बताया है ।

यज्ञ को समाज के समीप ले आना याज्ञवल्क्य की ही प्रतिभा का कार्य था । याज्ञवल्क्य लौकिक समाज के साथ ही साथ याज्ञिक समाज को भी आदर्श रूप में देखना चाहते थे ।

(५) अद्वितीय जिज्ञासु

याज्ञवल्क्य ज्ञानी तथा स्वाभिमानी थे । अपने ज्ञान पर उन्हें अनुचित गर्व नहीं था जिसके विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं उसे जानने के लिए उनके अन्दर प्रबल जिज्ञासा थी जो एक सच्चे ज्ञानी के लिए अत्यावश्यक है क्योंकि—'न सर्वः सर्वं जानाति ।' इस विषय में भी एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

'एक बार विदेह के राजा जनक भ्रमण करते हुए तीन ब्राह्मणों से मिले जिनमें अरुण के पुत्र श्वेतकेतु, सत्ययज्ञ के पुत्र सोमशुष्म, तथा याज्ञवल्क्य थे। जनक ने उनसे प्रश्न किया—'आप लोग अग्निहोत्र होम कैसे सम्पन्न करते हैं ? उसे विधिवत् बताइए ।' (शत० ब्रा० ११।६।२।१)

श्वेतकेतु आरुणेय ने कहा—मैं अग्नि और आदित्य का परस्पर हवन करता हूं । उन्होंने अग्नि और आदित्य को धर्म और धर्म से अग्निहोत्र का सम्पादन

होना बताया। घर्म-होम करने का फल यह बताया कि इसका सम्पादक यजमान लक्ष्मीवान् तथा कीर्तिमान् होता है और देहावसान होने पर वह इन दोनों (सूर्य एवं अग्नि) के सायुज्य तथा सलोकता को प्राप्त करता हैं। (शत० ब्रा० ११।६।२।२)

इसके अनन्तर सोमशुष्म सात्ययज्ञि ने कहा—

'मैं तेज में तेज का हवन कर अग्निहोत्र का सम्पादन करता हूं।' आदित्य और अग्नि तेज हैं। उन्होंने सायंकाल आदित्य को अग्नि में तथा प्रातःकाल अग्नि को आदित्य में हवन करने का निर्देश किया। इसके फल के विषय में उनका कथन है कि इस प्रकार हवन करने वाला यजमान तेजस्वी तथा यशस्वी होता है, वह लक्ष्मीवान् होता है तथा वह दोनों देवों (अग्नि, आदित्य) के सायुज्य तथा सलोकता को प्राप्त करता है। (शत० ब्रा० ११।६।२।३)

याज्ञवल्क्य ने अपने उत्तर में कहा—'जनक! जब मैं आहवनीय अग्नि को गार्हपत्य से ले आता हूं, उसी समय सांगोपांग अग्निहोत्र को भी ग्रहण करता हूं। सब देव अस्त होते हुए आदित्य का अनुगमन करते हैं। वे (देवता) मेरी अग्नि को उद्धृत देखकर 'निश्चय ही यह अग्निहोत्र-हवन करेगा' इस अभिप्राय से पुनः वापस आते हैं। तदनन्तर मैं स्रुक्, स्रुव आदि पात्रों का मार्जन कर वेदी पर रखता हूं। अग्निहोत्र गाय को दुहकर उन देवताओं को साक्षी करता हुआ प्रत्यक्ष रूप से उन्हें प्रसन्न करता हूं।'

इस प्रकार याज्ञवल्क्य द्वारा अग्निहोत्र का स्वरूप बतलाने पर जनक ने कहा—'याज्ञवल्क्य! आपने अतिशय रूप से अग्निहोत्र के स्वरूप पर विचार किया है। आप जैसे विद्वान् के लिए मैं सौ गायों का पारितोषिक देता हूं।' (शत० ब्रा० ११।६।२।४)

जनक ने याज्ञवल्क्य से कहा—'आप अग्निहोत्र की दोनों आहुतियों (सायंकालिक एवं प्रातःकालिक) के उपक्रमण, अधिष्ठान और प्रत्युत्थायी लोक को नहीं जानते हैं।' इतना कहने के पश्चात् रथारोहण कर जनक ने अपनी नगरी की ओर प्रस्थान किया। (शत० ब्रा० ११।६।२।५)

इधर ब्राह्मणत्रय (श्वेतकेतु, सोमशुष्म तथा याज्ञवल्क्य) ने परस्पर विचार-विमर्श किया—'इस राजन्य ने निश्चय ही यज्ञ के विषय में हम लोगों से बढ़ कर ज्ञान-प्रदर्शन किया। अतः उसे ब्रह्मविषयक वाद के लिए चुनौती दी जाय जिसमें वह पराजित होगा।'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'यदि इसको ब्रह्मवाद में पराजित कर देंगे तो हम किसे कहेंगे कि पराजित किया है कदाचित् यह हम लोगों को पराजित कर दे तो लोग कहेंगे कि एक क्षत्रिय ने ब्राह्मणों को पराजित कर दिया। अतः उसको ब्रह्मवाद के लिए बुलाना उचित नहीं। 'याज्ञवल्क्य अग्निहोत्र को पूर्णरूपेण जानना चाहते थे। उन्होंने जनक के मतानुसार अग्निहोत्रको सम्यक् रूप से जानने के लिए सम्भव उपाय सोचना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् महर्षि याज्ञवल्क्य रथारूढ़ होकर शीघ्र ही जनक के पीछे पीछे हो लिये।

जनक ने याज्ञवल्क्य को आया हुआ देखकर कहा—'याज्ञवल्क्य ! आप अग्निहोत्र जानने के लिए आये हैं ?'

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'हां सम्राट्, अग्निहोत्र ही जानने के लिए आया हूँ।' (शत० ब्रा० ११।६।२।५)

जनक ने याज्ञवल्क्य को अग्निहोत्र बताना प्रारम्भ किया—

'दोनों (सायं और प्रातः कालिक) आहुतियों का हवन होने पर वे ऊपर जाती हैं, अन्तरिक्ष में प्रविष्ट होकर उसे अपनी आहवनीय अग्नि बनाती हैं। वायु को समिधा तथा सूर्य की रश्मियों को अपनी निर्मल आहुति बनाती हैं। इस प्रकार की दोनों आहुतियां अन्तरिक्ष-लोक को तृप्त करती हैं। (शत० ब्रा० ११।६।२।६) अन्तरिक्ष से दोनों आहुतियां ऊर्ध्वंगामिनी होकर स्वर्ग में प्रविष्ट होती हैं और उसे अपनी आहवनीय अग्नि, सूर्य को समिधा एवं चन्द्रमा को निर्मलाहुति बनाती हैं। वे स्वर्ग को तृप्त कर वहां से वापस आती हैं। (शत० ब्रा० ११।६।२।७) वे प्रत्यावर्तित होकर पृथ्वी में प्रवेश करती हैं तथा उसे अपनी आहवनीय अग्नि, अग्नि को समिधा एवं ओषधियों को निर्मल आहुति बनाती हैं। (शत०ब्रा० ११।६।२।८) इस प्रकार ये आहुतियां इस पृथ्वी को तृप्त करती हुई पुनः पृथ्वी से ऊर्ध्व-गमन करती हैं। ऊर्ध्व गमन कर पुरुष में प्रवेश करती हैं, उसके मुख को आहवनीयाग्नि उसकी जिह्वा को समिधा तथा अन्न को आहुति बनाती हैं। वे पुरुष को तृप्त करती हैं। यह जानते हुए जो व्यक्ति अन्न-भक्षण करता है वह अग्निहोत्र ही सम्पन्न करता है। (शत० ब्रा० ११।६।२।९) दोनों आहुतियां वहां से ऊपर जाकर स्त्री में प्रविष्ट होती हैं। स्त्री की गोद को अपनी आह्वनीयाग्नि, यौनि को समिधा तथा वीर्य को निर्मलाहुति बनाती हैं। वे स्त्री को तृप्त करती हैं। इसे जानते हुए मैथुन-कर्म करने वाला निश्चय ही अग्निहोत्र का सम्पादन करता है। (शत० ब्रा० ११।६।२।१०) इसके अनन्तर पुत्रोत्पत्ति प्रत्युत्थानशील लोक है। यह अग्निहोत्र है याज्ञवल्क्य। इतना बता देने के

पश्चात् अन्य कुछ विशेष नहीं है।' (शत० ब्रा० ११।६।२।१०) इस प्रकार जनक द्वारा अग्निहोत्र का विशेष स्वरूप सुनकर सन्तुष्ट हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने उन्हें वर दिया।

सम्राट् जनक ने कहा— 'याज्ञवल्क्य ! आप मुझे यह आदेश दें कि मैं स्वेच्छापूर्वक आपसे प्रश्न पूछ सकूं।' उस समय से जनक ब्रह्मवेत्ता हो गये। शत० ब्रा० ११।६।२।१०) इस उद्धरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य ज्ञानामृत के पिपासु थे।

(५) भाषा-विज्ञानवेत्ता

याज्ञवल्क्य सफल याज्ञिकाचार्य, यज्ञ के विराट् रूप के द्रष्टा, ब्रह्मवेत्ता, सामाजिक तथा जिज्ञासु होने के साथ ही साथ एक भाषाविद् के रूप में भी प्रतीत होते हैं। वे उपयुक्त शब्द-चयन करते हैं। यज्ञ कर्म के समय ब्राह्मण हविष्कृत् का आह्वान करने के लिए 'एहि,' वैश्य हविष्कृत् के लिए 'आगहि,' राजन्य हविष्कृत् के लिए 'आद्रव' तथा शूद्र हविष्कृत् के लिए 'आधाव' शब्दों को प्रयुक्त करने का विधान करते हैं।

याज्ञवल्क्य को प्रत्येक शब्द की व्युत्पति का पूर्ण ज्ञान है। विषय प्रतिपादन के समय किसी महत्त्वपूर्ण शब्द के आ जाने पर उस शब्द की व्युत्पति करने के अनन्तर ही आगे बढ़ते हैं। यज्ञ शब्द की व्युत्पति अधोलिखित प्रकार से करते हैं—

'अथ यस्माद्यज्ञो नाम। घ्नन्ति वा एनमेतद्यदभिषुण्वन्ति
तद्यदेनं तन्वते तदेनं जनयन्त स तायमानो जायते स यञ्जायते
तस्माद्यञ्जो यञ्जो नामैतद्यद्यज्ञ इति ॥ (शत० ब्रा० १।२।५।१०)

अधोलिखित पंक्तियों में द्रव्य, देवता, छन्द से सम्बन्धित कुछ उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत किये गये हैं जिससे पूर्णरूपेण आभास हो जायगा कि याज्ञवल्क्य भाषा में प्रयुक्त शब्दों के मर्मज्ञ थे। पुरोडाश की व्युत्पत्ति अधोलिखित रूप से करते हैं—

'स वा एभ्यस्तत्पुरोऽदाशयत्। य एभ्यो यज्ञं प्रारोचयत्तस्मा-
त्पुरोदाशः पुरोदाशो ह वै नामैतद्यत्पुरोडाशऽइति।' (शत० ब्रा० १।६।२।५)

घर्म और प्रवर्ग्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं
'तद्यघृङ्ङित्यपतत्तस्माद्घर्मोऽथ यत्प्रावृज्यत तस्मात्प्रवर्ग्यः ॥'

(शत० ब्रा० १४।१।१।१०)

यव शब्द का निर्वचन अधोलिखित रूप से करते हैं—

'तद्वै देवा अस्पृण्वत् । त एतैः सर्वाः सपत्नानामोषधीरयुवत । यदयुवत तस्माद्यवा नाम ।' (शत ब्रा० ३।६।१।९)

सोम पद की निरुक्ति अधोलिखित है—

'स्वा वै मऽएषेति तस्मात्सोमो नाम ।' (शत० ब्रा० ३।९।४।२२)

'वसु' की व्युत्पत्ति अधोलिखित है—

'एते हीदंसर्वं व्वासयन्ते ते यदिदंसर्वं व्वासयन्ते तस्माद्वसव इति ।'
(शत० ब्रा० १।६।३।६)

मघवन् की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—

'स ऽ उ ऽ एव मखः स विष्णुः । तत इन्द्रो मखवान्मघवान्ह वै तम्मघवानित्याचक्षते परोऽक्षम्परोऽक्षकामा हि देवाः ।।
(शत०ब्रा० १४।१।१।१३)

बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति की व्युत्पति क्रमशः इस प्रकार की गयी है—

'वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ।'
(शत० ब्रा० १४।४।१।२२)

'एष (प्राणः) उ एव ब्रह्मणस्पतिः । वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ह ब्रह्मणस्पतिः ।' (शत० ब्रा० १४।४।१।२३)

छन्द की व्युत्पत्ति अधोलिखित है—

''तान्यस्मै अच्छदयंस्तानि यदस्मा अच्छदयंस्तस्माच्छंदांसि ।'
(शत० ब्रा० ८।५।२।१)

गायत्री का निर्वचन अधोलिखित है--

सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे

तद्यद्गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम ।' (शत० ब्रा० १४।८।१५।७)

जगती की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं—

'तदिदं सर्वं जगदस्यां हीदं सर्वं जगत् ।' (शत० ब्रा० ६।२।१।२९)

अनेक उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य की प्रतिभा बहुमुखी थी। याज्ञवल्क्य ने यज्ञों द्वारा समाज को संघटित करने का स्तुत्य प्रयास किया है जिसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली है। याज्ञिक-शैली द्वारा विषय को स्पष्ट बनाकर ज्ञान-पिपासुओं के समक्ष रखना उनकी विद्वत्ता का परिचायक है। याज्ञवल्क्य ने याज्ञिक समाज को आदर्श समाज का रूप देने में सफल प्रयास किया है। विद्वत्समाज उनका सदा चिरऋणी रहेगा।

–इति शुभम्।

संक्षिप्तीकरण-तालिका

ऋ० सं०	ऋग्वेद संहिता
शु० य० सं०	शुक्ल यजुर्वेद संहिता
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
तै० सं०	तैत्तिरीय संहिता
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
ऐ० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
का० श्रौ०सू०	कात्यायन श्रौतसूत्र
म० भा०	महाभारत
वा० पु०	वायुपुराण
ब्रह्मा० पु०	ब्रह्माण्ड पुराण
म० पु०	मत्स्य पुराण
स्क० पु०	स्कन्द पुराण
भा०	श्रीमद्भागवत
S. B. E.	Sacred Books of the East
V. I.	Vedic Index for names and Subjects.
H. I. L.	History of Indian Literature
H. S. L.	History of Sanskrit Literature
H. A. S. L.	History of Ancient Sanskrit Literaturee
A. I. H. T.	Ancient Indian Historical Traditions.